

84

जनवरी-जून, 2023



मध्य भारती

मानविकी एवं समाजविज्ञान की द्विभाषी शोध-पत्रिका

मध्य भारती

मानविकी एवं समाजविज्ञान की द्विभाषी शोध-पत्रिका

ISSN 0974-0066

UGC Care List, Group-C (Multi disciplinary), Sl.no.-15

(अंक-84, जनवरी-जून, 2023)

संरक्षक

प्रो. नीलिमा गुप्ता
कुलपति

प्रधान सम्पादक

प्रो. अम्बिकादत्त शर्मा

सम्पादक

प्रो. भवतोष इन्द्रगुरु
प्रो. ब्रजेश कुमार श्रीवास्तव
डॉ. आशुतोष कुमार मिश्र



डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय

सागर (मध्यप्रदेश) - 470003

दूरभाष : (07582) 297133

ई-मेल : madhyabharti.2016@gmail.com

सम्पादकीय परामर्श मण्डल

- प्रो. आनंद प्रकाश त्रिपाठी
- प्रो. अशोक अहिरवार
- प्रो. दिवाकर सिंह राजपूत
- प्रो. डी.के. नेमा
- प्रो. नागेश दुबे
- प्रो. अनुपमा कौशिक

मध्य भारती

मानविकी एवं समाजविज्ञान की द्विभाषी शोध-पत्रिका

अंक-84, जनवरी-जून 2023

ISSN 0974-0066 (पूर्व-समीक्षित अर्द्धवार्षिक शोध-पत्रिका)

डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

UGC Care List, Group-C (Multi disciplinary), Sl.no.-15

प्रकाशित रचनाओं के अभिमत से डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर
या सम्पादकों की सहमति अनिवार्य नहीं है तथा यहाँ प्रकाशित आलेखों 'प्लेजिरिज्म'
(Plagiarism) सम्बन्धी शुचिता की जिम्मेदारी लेखकों की है।

सम्पादकीय पत्र व्यवहार :

मध्य भारती

डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय

सागर - 470003 (म.प्र.)

सदस्यता शुल्क	आजीवन	रु. 2000/-
	प्रति अंक	रु. 150/-
व्यक्तिगत	रु. 200/-	रु. 4000/-
	संस्थागत	

दूरभाष : (07582) 297133

ई-मेल : madhyabharti.2016@gmail.com

आवरण : डॉ. छबिल कुमार मेहेर

मुद्रण :

अमन प्रकाशन

कीर्ति स्तंभ के पास, नमक मंडी, सागर (म.प्र.)

अनुक्रम

प्रो. रामप्रसाद त्रिपाठी : एक इतिहासकार एवं कुशल प्रशासक बी.के. श्रीवास्तव	7
जिला पुरातत्त्व संग्रहालय, सागर, मध्यप्रदेश की उमा-महेश्वर प्रतिमाएं : शिल्पशास्त्रीय विधान सुरेन्द्र कुमार यादव	14
‘सर्जना पथ के सहयात्री’ और निर्मल वर्मा अमरेन्द्र त्रिपाठी	24
देशज ज्ञान की राजनीति एवं संभावनाएं चन्द्रशेखर पाण्डेय, वरूण कुमार उपाध्याय	33
सामाजिक न्याय : भारतीय परिप्रेक्ष्य में एक वैचारिक अध्ययन नेहा निरंजन	43
गाँधी और नवाचार : नई तालीम का पुनर्पाठ नवनीत शर्मा, नीरज कुमार मनी	50
आधुनिक संस्कृत साहित्य में राष्ट्रिय भावना सज्जय कुमार	59
मध्यप्रदेश लोक सेवाओं के प्रदान की गारण्टी अधिनियम, 2010 के क्रियान्वयन में लोक-निजी भागीदारी (पी.पी.पी.मॉडल) की भूमिका शीतल द्विवेदी, टी. सरकार	68
साहित्य एवं कला में वामन त्रिविक्रम शिवाकान्त त्रिपाठी	76
शोध प्रविधि और साहित्यिक अनुसंधान : प्रामाणिकता का प्रश्न ज्योति गिरि	81

21वीं सदी की स्त्री : स्त्री कविताओं के विशेष संदर्भ में <i>एस. रजिया बेगम</i>	85
उत्तरप्रदेश के बुन्देलखण्ड क्षेत्र में होने वाले प्रवास के प्रवाह-प्रतिरूप का एक भौगोलिक अध्ययन <i>विनय कुमार, संजय कुमार, राजबहादुर अनुरागी</i>	90
A Study of School Education Among Tribals in Madhya Pradesh <i>Girish Mohan Dubey, Akash Simoliya</i>	100
Contemporaneity of the Indian Tradition and Postcolonial Modernity : A Study with Reference to Geeta Mehta's "Snakes and Ladders". <i>Vandana Rajoriya</i>	111
Development Communication: Empowerment and Social Change <i>Anuj Kumar Singh, Vivek Jaiswal, Vaibhav Upadhyay</i>	119
English Language in India : Historical, Social and Educational Perspectives <i>Vijay Kumar Roy</i>	128
Environmental Hazards and its Repercussions in Naturally Endowed Garhwal : A Historical Perspective <i>Sanjay Barolia, Manjula Gaur</i>	138
Moksha as the Param Puruṣārtha in Indian Culture <i>Jai Singh</i>	146

Family Matters : Changing Paradigms of Care for the Disabled <i>Biswajit Sarkar, Vipin Kumar Singh</i>	153
Genesis and Journey of NCC as General Elective Credit Course (GECC) in HEIs of India : A Pathbreaking Step Aligned with NEP-2020 <i>Dharmendra Kumar Sarraf</i>	159
Size and Spacing of Rural Settlements in Singrauli District, Madhya Pradesh <i>Pawan Kumar Sharma, Kaluram Chouhan</i>	172
An Analysis of India's Social Sector Spending <i>Shalini Choithrani</i>	183
Financial Performance Analysis of State Bank of India Before and After Merging <i>Ankita Rajput, Gautam Prasad</i>	188
The Working and Living Conditions of Unorganised Sector Workers : A Literature Review <i>Alok Kumar Vishwakarma, VeenaThawre</i>	196
Questioning the Loss of Selfhood and Depicting Gender Scorn in Salman Rushdie's Shame <i>Dimple Dubey</i>	204
Philosophy of Love : Indian and Western Perspectives <i>Sanjay Kumar Shukla</i>	211

Institutional Voids in Microfinance Industry	222
<i>Mayuri Jain</i>	
Spirituality, Resilience, and Life satisfaction in Mindful Yoga Practitioners	230
<i>Garima Gupta</i>	
A Journey from Financial Technology to Financial Inclusion : An Analytical Study	241
<i>Vinod Kumar Yadav, Sumin Prakash, Shiwani Singh</i>	
Book Review :	251
Our Moon has Blood Clots : A Memoir of a Lost Home in Kashmir	
<i>Narendra Kaushik, Ashutosh Kumar Pandey</i>	

प्रो. रामप्रसाद त्रिपाठी : एक इतिहासकार एवं कुशल प्रशासक

बी.के. श्रीवास्तव

राष्ट्रवादी इतिहास लेखन की स्थापना की बात करें तो प्रो. रामप्रसाद त्रिपाठी का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। इतिहास जगत में 1940 के दशक में यह एक उभरता हुआ नाम था। उस दौर के श्रेष्ठ विश्वविद्यालयों में से एक इलाहाबाद विश्वविद्यालय था। प्रो. राम प्रसाद त्रिपाठी इलाहाबाद विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग में अध्यक्ष थे। उनका व्यक्तित्व बहुआयामी था। इतिहास के साथ-साथ वे संस्कृत, उर्दू एवं फारसी के भी विद्वान थे एवं ब्रजभाषा काव्य पर उनका असाधारण प्रभुत्व था। इतिहास लेखन के साम्राज्यवादी स्कूल के बरक्स उन्होंने इलाहाबाद स्कूल ऑफ हिस्ट्री की स्थापना की, जो कि एक राष्ट्रवादी स्कूल था। एक अच्छे शोधकर्ता होने के साथ-साथ वह एक कुशल प्रशासक भी थे। वे कई वर्ष तक प्रयाग हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रधानमंत्री रहे थे। भारतीय सिनेमा बोर्ड के सेंसर बोर्ड के विशिष्ट सदस्य के रूप में भी उन्होंने कई वर्ष तक कार्य किया था।¹

हीरा अपनी चमक चहुँ ओर बिखेर रहा था, पं. रविशंकर शुक्ल हीरे के पारखी थे। 'पात्रता अपना स्थान स्वयं खोज लेती है' वाली कहावत चरितार्थ हुई और पं. रविशंकर शुक्ल ने डा. हरीसिंह गौर की 25 दिसम्बर 1949 ई. को असामायिक मृत्यूपरान्त सागर विश्वविद्यालय के कुलपति पद के लिए डा. राम प्रसाद त्रिपाठी को चुना।² सागर विश्वविद्यालय के सर्वांगीण विकास के लिये लिया गया यह एक सर्वश्रेष्ठ निर्णय था। एक प्रख्यात शिक्षा शास्त्री होने के साथ-साथ प्रो. रामप्रसाद त्रिपाठी अत्यन्त दूरदर्शी थे।³ डा. हरीसिंह गौर की भांति ही उन्होंने कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में अध्ययन किया था। कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय की कार्यप्रणाली से वह भली भांति वाकिफ थे। उनका रहन-सहन पाश्चात्य रंग में ढ़ला था। उनकी पत्नी भी एक पाश्चात्य महिला थीं। इसके बावजूद भी उनके मन में भारतीय संस्कृति के प्रति अत्यन्त लगाव था।⁴ उन्हें विश्वविद्यालय के विकास का विशेष ज्ञान था।⁵ प्रो. आर.एस. सैनी ने लिखा है - 'डा. त्रिपाठी का व्यक्तित्व बहुत ऊँचाई छूता था। उनमें विश्वविद्यालय को बहुत ऊँचाईयों पर ले जाने की क्षमता थी।'⁶

19 वीं शताब्दी के अंतिम दशक में पैदा हुये प्रो. रामप्रसाद त्रिपाठी ने लाहौर विश्वविद्यालय से 1912 ई. में इतिहास में स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण की। लखनऊ के क्रिश्चियन कालेज में इतिहास के प्रवक्ता नियुक्त हुये। अपने पढ़ाने के तरीके एवं ज्ञान के बल पर वह छात्रों में अत्यन्त लोकप्रिय हो गये। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग के विभागाध्यक्ष प्रो. रशब्रुक विलियम एक बार क्रिश्चियन कालेज लखनऊ गये। वह वहां रामप्रसाद त्रिपाठी से मिले और उनकी प्रतिभा से अत्यन्त प्रभावित हो गये। 1919 में प्रो. रशब्रुक विलियम ने रामप्रसाद त्रिपाठी जी को इलाहाबाद विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग में प्रवक्ता नियुक्त किया। यहां भी छात्र एवं शिक्षक उनके ज्ञान, अध्यापन विधि एवं शोधपरक दृष्टि से अत्यन्त प्रभावित हुये। उनकी इस योग्यता को और अधिक निखारने के लिये विभागाध्यक्ष सर शफात अहमद खॉं ने शोध कार्य करने के लिये उनका चयन कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में करा दिया। रामप्रसाद त्रिपाठी ने कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में अपने चयन को तार्किक एवं न्याय

संगत ठहराने के लिये अत्यन्त परिश्रम किया। उन्होंने राजनीति शास्त्र के विश्वविख्यात विद्वान हैराल्ड लास्की के निर्देशन में 1926 में इतना अच्छा शोध प्रबंध प्रस्तुत किया कि सब अचम्भित हो गये। रामप्रसाद त्रिपाठी जी ने अपना शोध प्रबंध Ph.D. उपाधि हेतु पंजीकृत किया था। यह कार्य इतना उत्कृष्ट था कि कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय ने उन्हें इसी शोध कार्य पर D.Sc. की उपाधि प्रदान कर दी।⁷

यह घटना हमें डा. हरीसिंह गौर की भी याद दिलाती है। नागपुर के हिसलप कालेज के प्रो. जेम्स ब्रेमनर ने डा. गौर को डिग्री पढ़ाई पूरे करने एडिनवर्ग भेजने की व्यवस्था कराई थी। डा. गौर जब वहां गये तो कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी ने उन्हें कुछ तकनीकी कारणों से डिग्री परीक्षा में बैठने की अनुमति नहीं दी। तब प्रो. सिडविक ने उनकी योग्यता को देखते हुये विश्वविद्यालय से डा. गौर के पक्ष में एक विशेष नियम पारित कराया जिससे उन्हें वरिष्ठता और निवास से जुड़े सामान्य नियमों में छूट मिल गई और वे डिग्री की परीक्षा में बैठ गये।⁸

प्रो. त्रिपाठी एवं डा. गौर के पक्ष में कैम्ब्रिज विश्वविद्यालयों द्वारा लिये गये उक्त विशेष नियमों से पता चलता है कि वहां योग्यता को विशेष महत्व दिया जाता था। इन दोनों विद्वानों ने अपनी योग्यता का लोहा कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय को भी मनवाया था।

1941ई. में विभागाध्यक्ष सर शफात अहमद खॉ दक्षिण अफ्रीका में हाई कमिश्नर नियुक्त हो गये। इस स्थिति में डा. रामप्रसाद त्रिपाठी को इलाहाबाद विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग का कार्यवाहक अध्यक्ष बना दिया गया। 1944 में जब वे प्रोफेसर बने तब स्थायी विभागाध्यक्ष बने।

प्रो.आर.पी. त्रिपाठी का शोध प्रबंध 'Some Aspects of Muslim Administration' पहली बार 1936 ई. में सेन्ट्रल बुक डिपो इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ। यह आज भी मध्यकालीन भारतीय इतिहास की प्रशासनिक व्यवस्था पर एक अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रंथ बना हुआ है। इस पुस्तक के दो भाग हैं, प्रथम भाग के यूं तो पूरे ग्यारह अध्याय महत्वपूर्ण हैं, मगर इसके नवे अध्याय में 'Turko-Mongol Theory of Kingship' को बहुत ही अच्छी तरह से समझाया गया है।⁹ द्वितीय भाग के ग्यारह अध्यायों में 'Revenue system' एवं 'Sher Shah's Administration' को बहुत ही अच्छी तरह से समझाया गया है।¹⁰

प्रो. आर.पी. त्रिपाठी का दूसरा महत्वपूर्ण ग्रंथ 'Rise and fall of the Mughal Empire' है, जो प्रथम बार 1950 में प्रकाशित हुआ। इस ग्रंथ में कुछ भाषागत अशुद्धियां एवं तकनीकी कमियां रह गयीं थी। इन मामूली खामियों के बावजूद भी यह छात्रों, शोधार्थियों एवं शिक्षकों के लिए महत्वपूर्ण ग्रंथ था। इसके महत्व को देखते हुये, प्रो. आर.पी. त्रिपाठी ने इसका संशोधित संस्करण प्रकाशित कराया जो सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ।

प्रो. आर.पी. त्रिपाठी उस समय सागर विश्वविद्यालय में कुलपति थे। इस पुस्तक का इन्डेक्स तैयार करने में, प्रथम संस्करण की तकनीकी खामियां दूर करने में एवं प्रूफ को संशोधित करने में सागर विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग के शिक्षक श्रीराम महरोत्रा¹¹ एवं अंग्रेजी विभाग के शिक्षक डा. अमर मुखर्जी¹² ने सहयोग दिया। U.P. Educational Service में कार्यरत इतिहासविद् डा. सय्यद अतहर अब्बास रिजवी ने भी इस महत्वपूर्ण संशोधन कार्य में उनका सहयोग किया।¹³ इस पुस्तक का Preface प्रो. आर.पी. त्रिपाठी ने सागर विश्वविद्यालय के कुलपति रहते हुये ही लिखा। इसमें उन्होंने डॉ. अमर मुखर्जी एवं श्री श्रीराम महरोत्रा को उनके सहयोग के लिये धन्यवाद दिया।¹⁴ 528 पृष्ठों की यह पुस्तक बाबर के 1526 ई. में भारत आगमन से लेकर 1657-58 ई. के मुगल उत्तराधिकार युद्ध एवं उसमें औरंगजेब की सफलता का प्रमाणिक, तथ्यपरक एवं शोध परक विवरण प्रस्तुत करती है।

अपने ग्रंथों में प्रो. आर.पी. त्रिपाठी ने शोध पद्धति की भी महत्वपूर्ण चर्चा की है। प्रथम पुस्तक Some aspects of Muslim Administration में गजनवी शासकों से लेकर अकबर के शासनकाल तक विजारत की संस्था का क्रमिक विकास प्रस्तुत किया है। एक श्रेष्ठ शोधार्थी की तरह सर्वप्रथम उन्होंने अपने शोध विषय के चयन को तर्क संगत सिद्ध किया है। भूमिका में उन्होंने बताया है कि यद्यपि मुगलकाल पर इरबिन, डब्लू.एच. मोरलेण्ड एवं जे.एन. सरकार ने कार्य किया है, परन्तु सल्तनत कालीन प्रशासनिक व्यवस्था पर लोगों का ध्यान कम ही गया है।¹⁵

शोध कार्य में पूर्ववर्ती कार्यों का अध्ययन अति आवश्यक होता है, इस तथ्य को ध्यान में रखते हुये उन्होंने बताया है कि यद्यपि सर टामस अर्नाल्ड ने अपनी पुस्तकों 'The Caliphate'¹⁶ एवं 'Preaching of Islam'¹⁷ में दिल्ली सल्तनत के प्रशासन के कुछ बिन्दुओं को छूने का प्रयास किया है, मगर मूलरूप से वह खिलाफत की संस्था से संबंधित है।¹⁸

प्रो. त्रिपाठी यह भी स्पष्ट करते हैं कि चूँकि मुगलकाल से संबंधित प्रचुर प्राथमिक स्रोत सामग्री उपलब्ध है, अधिकांश विदेशी यात्री इसी दौरान भारत आये और अपने वर्णनों में तत्कालीन भारतीय इतिहास का वर्णन प्रस्तुत किया, दस्तूर-उल-अमल एवं फरमान भी बहुतायत में उपलब्ध है, इसीलिये विद्वानों द्वारा अधिकांश कार्य मुगलकाल पर किया है।

शोध सामग्री की उपलब्धता, मुगलकाल की तरह पूर्व मुगलकाल में नहीं है। पूर्व मुगलकाल की शोध सामग्री का एकत्रीकरण एक श्रमसाध्य कार्य है, जो प्रमाणिक सामग्री है भी, तो वह विखरी हुई है। इस काल से संबंधित जो मूल स्रोत उपलब्ध हैं, उन्हें पढ़ना एवं समझना भी एक मुश्किल कार्य है। तत्कालीन इतिहास लेखकों ने ऐसी भाषा एवं शब्दावली का प्रयोग किया है जो लगभग लुप्त प्राय है। इन स्रोतों में तारतम्यता के आभाव के बारे में वे लिखते हैं - 'A sentence here and a clause there, a hint here and a word there, are Picked up with Inquisitiveness'.¹⁹ अतः पूर्व मध्यकाल में स्रोतों के चयन, साक्ष्यों के अनुप्रयोग से तथ्यों की जाँच एक परिश्रम वाला कार्य है जिसमें धैर्य की अत्यन्त आवश्यकता है।

प्रो. आर.पी. त्रिपाठी ने अपने शोध कार्य में उपयोग किये गये फारसी ग्रंथों का निम्न क्रम में उल्लेख किया है - तारीख-ए-फखरुद्दीन मुबारक शाह; अतहर-उल-वुजरा, दस्तूर-उल-वुजरा, सुलुक-उल-मुलुक, तारीख-ए-मोहम्मदी, अफशानी शशानी हिन्द, दौलत-ए-शेरशाही, वायजिद के संस्मरण, खाकी शिराजी, आरिफ मोहम्मद कादिर, वैहाकी, ताजुल मासिर, तारीख-ए-मोहम्मदशाही, तारीख-ए-मुबारकशाही, तहकील के हिन्द एवं अकबरनामा आदि। फारसी के जानकार प्रो. त्रिपाठी ने उक्त सभी पुस्तकों का सूक्ष्म अध्ययन किया। कुछ अनसुलझी कड़ियों को सुलझाने हेतु उन्होंने ब्रिटिश म्यूजियम एवं रायल एसियाटिक सोसायटी के पुस्तकालय में सुरक्षित प्राचीन पाण्डुलिपियों का भी उपयोग किया।²⁰ प्रो. आर.पी. त्रिपाठी ने अपने इस शोध कार्य द्वारा भविष्य के शोधार्थियों के लिये एक मानक स्थापित किया। यह भी बताया कि एक नवीन दृष्टि से शोध सामग्री का उपयोग कैसे किया जा सकता है। मध्यकालीन भारत पर कार्यरत इतिहासकारों में इस प्रश्न को लेकर विचार विमर्श होता रहता था कि क्या अकबर अपने समय की संस्थाओं एवं विचारों का प्रणेता था या फिर वह शेर शाह सूरी द्वारा स्थापित प्रशासनिक संस्थाओं को एक नये रूप में प्रस्तुत कर रहा था। प्रो. त्रिपाठी ने इस शोध कार्य में प्रशासनिक संस्थाओं का क्रमिक विकास प्रस्तुत कर उक्त विवाद को ही समाप्त कर दिया। इस तरह एक इतिहासकार के रूप में उनकी ख्याति फैलने लगी।

अपनी दूसरी पुस्तक राइज एण्ड फाल ऑफ मुगल एम्पायर में भी प्रो. त्रिपाठी ने बाबर से लेकर औरंगजेब तक 16वीं, 17वीं एवं 18वीं शदी के प्रथम चार दशकों को एक जटिल सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रगति के रूप में प्रस्तुत किया है। यह कार्य पूर्णतः वस्तुपरक रहते हुये बिना किसी पूर्वाग्रह के किया गया महत्वपूर्ण कार्य है। प्रख्यात इतिहासविद् के.एन. निजामी ने कहा है कि मुगलों के उत्थान को गैर साम्प्रदायिक तरीके से प्रस्तुत करने वाले प्रथम इतिहासकार मोहम्मद हबीब न होकर रामप्रसाद त्रिपाठी थे।²¹ प्रो. त्रिपाठी ने ही सबसे पहले गैर दरबारी स्रोतों का उपयोग आरम्भ किया और वैज्ञानिक दृष्टि से वास्तविक इतिहास को सामने लाये। इतिहास के वस्तुपरक अध्ययन के क्षेत्र में ही नहीं अपितु गैर पारम्परिक स्रोतों के उपयोग में एक अग्रदूत की भूमिका निभाकर उन्होंने आगामी शोधार्थियों एवं इतिहासकारों के लिये ज्ञान का एक नया क्षेत्र खोल दिया।²²

इतिहास के राष्ट्रवादी स्कूल की स्थापना :-

ब्रिटिश इतिहासकारों ने भारत में अपने साम्राज्य की स्थापना का औचित्य स्थापित करने साम्राज्यवादी इतिहास लेखन आरम्भ किया। उपयोगितावादी दर्शन का उपयोग साम्राज्यवादी इतिहास लेखन में किया। रोमिला

थापर के अनुसार - 'उपयोगितावादियों का पक्का विश्वास था कि भारत में अंग्रेजों का आगमन एक दैवीय सुयोग था क्योंकि ब्रिटिश प्रशासन और कानून से भारत का पिछड़ापन खत्म हो जायेगा। उससे अब तक के निरंकुश शासकों का अटूट सिलसिला समाप्त हो जायेगा और भारत के जनगण में राजनीतिक चेतना का संचार होगा।' ²³

साम्राज्यवादी दृष्टिकोण से भारत का इतिहास लिखने का श्रेय प्रख्यात उपयोगितावादी दार्शनिक जॉन स्टुअर्ट मिल के पिता जेम्स मिल को जाता है। जेम्स मिल न तो कभी भारत आये और न ही वह यहां की भाषा जानते थे। इसके बावजूद भी उन्होंने छः खण्डों में 'History of British India' लिखा। इस ग्रंथ के द्वारा उन्होंने भारत के अतीत को अविकसित, भ्रष्ट एवं पतनोन्मुख दिखाया और भारतीयों को असभ्य कह कर सम्बोधित किया। जेम्स मिल वह प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने भारतीय इतिहास के प्राचीन, मध्यकालीन एवं आधुनिक काल को क्रमशः हिन्दु सभ्यता, मुस्लिम सभ्यता एवं ब्रिटिश सभ्यता कह कर साम्प्रदायिकता की भावना को इतिहास में प्रतिरोपित किया। मध्यकालीन भारतीय इतिहास के संदर्भ में इलियट एण्ड डाउसन द्वारा आठ जिल्दों में 'A History of India as told by its own Historians' लिखा। इस साम्राज्यवादी इतिहास लेखन द्वारा उन्होंने मध्यकालीन भारत के फारसी ग्रंथों के उन्हीं भागों का अनुवाद किया जो यह दिखाते थे कि मुस्लिम शासक धर्मान्ध थे एवं उन्होंने हिन्दुओं पर अत्याचार किये। एक अन्य साम्राज्यवादी इतिहासकार डब्ल्यू.एच. मोरलैण्ड ने 'India at the deth of Akbar' एवं 'India from Akbar of Aurangzib' पुस्तकें लिखकर यह साबित करने का प्रयास किया कि अकबर को आप महान कहते हैं परन्तु उसकी मृत्यु के समय भारत की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी।

इन साम्राज्यवादी इतिहासकारों के पूर्णतः पूर्वाग्रहों से भरे साम्राज्यवादी इतिहास लेखन का करारा जवाब देने के लिये एवं उनके निष्कर्षों को निराधार साबित करने के लिये प्रो. रामप्रसाद त्रिपाठी ने इतिहास अध्ययन का एक नवीन स्कूल - 'राष्ट्रवादी स्कूल' स्थापित किया। इसे 'इलाहाबाद स्कूल ऑफ हिस्ट्री' भी कहा जाता है। इस स्कूल के प्रख्यात इतिहासकारों में प्रो. रामप्रसाद त्रिपाठी के साथ-साथ ताराचन्द की प्रमुख कृति (Influence of Islam on Indian Culture), डा. बेनी प्रसाद (जहांगीर) एवं बनारसी प्रसाद सक्सेना की प्रमुख कृति (शाहजहाँ) का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। इन्होंने उक्त ग्रंथ लिखकर साम्राज्यवादी इतिहासकारों द्वारा दिये गये तथ्यों को आधारहीन एवं गलत साबित किया। ²⁴ मोरलैण्ड ने अकबर के समय की स्थिति पर जो गलत तथ्य प्रस्तुत किये उनका खण्डन प्रो. आर.पी. त्रिपाठी ने अपने ग्रंथ में सत्य को सामने रखकर किया। अपने शोध कार्य का समापन बिन्दु के रूप में अकबर को चुनने का कारण बताते हुये वे लिखते हैं -

'The reason for selecting Akbar as the other limit of the inquiry is that in him were combined the old and the new. He stands almost in the central place of the Muslim History of India and looks both backwards and forwards. It was the time of Akbar that some of the old movements and institutions reached their culmination or were transformed in to something new.' ²⁵

इस तरह उन्होंने स्पष्ट किया कि अकबर के कार्यों में प्राचीनता एवं आधुनिकता का सुन्दर समन्वय देखा जा सकता है। उसका काल मध्यकालीन भारतीय इतिहास का मध्य बिन्दु था, जहां से अतीत एवं वर्तमान समान रूप से देखा जा सकता है। उसके समय तक पुरानी संस्थायें अपने चरम पर पहुंच चुकी थीं एवं उनमें से कुछ नवीन रूप में रूपांतरित हो रही थीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रो.आर.पी. त्रिपाठी एक साथ एक उत्कृष्ट शोध अध्येता, विभिन्न शोध प्रविधियों के जानकार, वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रस्तुतीकरण में पारंगत एवं वस्तुनिष्ठ रहते हुये पूर्वाग्रह से मुक्त रहकर इतिहास लिखने वाले महान इतिहासकार थे। इतिहास बोध, इतिहास दर्शन एवं राष्ट्रवादी इतिहास लेखन के वह एक ऐसे नक्षत्र थे जिसकी चमक कभी फीकी नहीं पड़ सकती, समय के साथ यह चमक और बढ़ती जा रही है एवं उनका शोध कार्य आज भी उपयोगी, सार्थक एवं प्रासंगिक बना हुआ है।

इतिहास जगत के उभरते हुये इस नक्षत्र को खोजकर, प्रो. रामप्रसाद त्रिपाठी को सागर विश्वविद्यालय का कुलपति बनाकर, पं. रविशंकर शुक्ल ने यह सिद्ध कर दिया कि वह अब सागर विश्वविद्यालय को शोध के क्षेत्र में आगे ले जाने के लिये कटिबद्ध है।

उन्होंने जितने भी शिक्षक नियुक्त किये वे सभी डा. गौर के प्रति पूर्णरूप से समर्पित थे। हजारों मील दूर से सागर आये शिक्षक बैरकों में रहकर, अपने सभी कष्टों को भूलकर प्राणपण से छात्रों को शिक्षा देते हुये डा. गौर के सपनों को साकार करने में जुट गये थे।²⁶ डॉ. गौर, सागर विश्वविद्यालय को विश्वस्तरीय बनाने के लिये शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी रखना चाहते थे, मगर स्थानीय परिस्थितियों को देखते हुये शिक्षकों ने शिक्षा का माध्यम हिन्दी रखने की बात रखी। इस तरह प्रजातांत्रिक तरीके में शिक्षा का माध्यम हिन्दी रखने पर सहमति बन गयी।²⁷ कुछ ही समय में विश्वविद्यालय के सभी शिक्षक मकरोनिया की बैरकों में अत्यधिक रम गये। इस तरह सागर विश्वविद्यालय ने एक गुरुकुल का रूप धारण कर लिया। छात्र, शिक्षक, अधिकारी, कर्मचारी वहाँ एक परिवार की तरह गुरुकुल परम्परा का निर्वहन करते हुये रहने लगे।²⁸

जब प्रो. त्रिपाठी सागर आये तब उन्हें यह पता चला कि यहाँ पूर्णतः बेहतर शिक्षा प्रदान करने का वातावरण है। प्रत्येक शिक्षक पूर्ण मनोयोग से छात्रों को शिक्षित कर रहा है। यहाँ शोधकार्य का वातावरण नहीं है। डॉ. गौर द्वारा नियुक्त शिक्षक योग्य तो हैं, मगर वे अपने विषय के स्थापित शोधकर्ता नहीं हैं। एक बार प्रो. आर.पी. त्रिपाठी ने कुछ शिक्षकों को बुलाकर कहा कि उन्हें शिक्षकों से कुछ शिकायतें हैं। तब शिक्षकों ने कहा कि हम लोग तो बहुत अच्छा पढ़ाने का प्रयास करते हैं, आप चाहे तो छात्रों से पूछ सकते हैं। तब प्रो. त्रिपाठी ने कहा कि - 'अच्छी पढ़ाई तो मुफ़्त कालेजों में भी होती है, परन्तु क्योंकि यह विश्वविद्यालय है, आप लोगों को अच्छा शोध करना चाहिए। विश्वविद्यालय में शोध बहुत आवश्यक है। उसी से विश्वविद्यालय जाना जाता है।'²⁹

प्रो. त्रिपाठी का यह वक्तव्य का काफी प्रेरणास्पद था। प्रो. आर.एस. सैनी बताते हैं कि - 'प्रो. त्रिपाठी का उद्देश्य था कि प्रोफेसर अपने विषय में पारंगत हो। साथ ही माने हुये शोधकर्ता हों। वह संसार में अपने शिक्षा के योगदान में जाना हुआ हो। इस कारण शुरु में आये हुये शिक्षकों में कुछ (सैट बैक) उदासीनता रही। वह (सागर के विश्वविद्यालय के शिक्षक) विद्वान तो थे परन्तु वह सिर्फ अपने ज्ञान को विद्यार्थियों को देना चाहते थे। उसको बढ़ाने में कर्मठ तथा उत्साहित नहीं थे।'³⁰

इस तरह प्रो. त्रिपाठी सागर विश्वविद्यालय को गुरुकुल परम्परा से निकालकर इलाहाबाद एवं कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के अनुरूप उत्कृष्ट शोध कार्यों से परिपूर्ण विश्वविद्यालय में परिवर्तित करना चाहते थे। विश्वविद्यालय का वातावरण एकदम बदलने लगा। अब विश्वविद्यालय का प्रथम उद्देश्य शोध हो गया। वातावरण को शोधमय बनाने, शोधारित विचारों के आदान-प्रदान की परम्परा विकसित करने हेतु कदम उठाये।

प्रो. आर.एस. सैनी ने उनके निर्णयों एवं उसके प्रभाव के बारे में लिखा है - 'त्रिपाठी साहब ने कहा कि जब तक वह (विश्वविद्यालय के शिक्षक) अपने को अपने विषय में पूर्ण स्थापित नहीं कर पायेंगे और उनका शोध (रिसर्च) में उच्च कोटि का योगदान नहीं होगा, तब तक उनको प्रोफेसर नहीं बनाया जायेगा।'³¹ यह निर्णय बहुत प्रिय, सुखदायी नहीं था, खास तौर पर उन शिक्षकों को जो घर से हजारों मील दूर आकर बैरक्स में शिक्षा प्रदान कर रहे थे।' इस तरह प्रो. त्रिपाठी ने विश्वविद्यालय का वातावरण एक दम बदल दिया। सभी शिक्षकों को बहूविध शोध कार्य करने हेतु यथा-संभव प्रेरित किया। प्रो. सैनी लिखते हैं 'उस वक्त त्रिपाठी जी के वाक्य हम लोगों को अच्छे नहीं लगे किन्तु बाद में हमने समझा कि अच्छे शोध से ही विश्वविद्यालय जाना जाता है तथा आज भी इस वाक्य का महत्व हमेशा याद रहता है।'³²

इससे यहाँ शोध कार्य का वातावरण निर्मित हुआ। अंग्रेजी विभाग के शिक्षक श्री स्वामीनाथन पीएच.डी. करने ऑक्सफोर्ड गये।³³ प्राणीशास्त्र विभाग के विभागाध्यक्ष श्री डी.एस. श्रीवास्तव पीएच.डी. करने हेतु बेलफास्ट (आयरलैण्ड) गये।³⁴ प्रो. त्रिपाठी ने एक बार स्टाफ की मीटिंग में स्पष्टतः कह दिया कि शिक्षकों को छात्रों की राजनीति में नहीं पढ़ना चाहिए।³⁵ प्रो. त्रिपाठी द्वारा नियुक्त प्रो. डब्लू.डी. वेस्ट भूविज्ञान विभाग एवं विश्वविद्यालय

के लिये अत्यन्त उपयोगी साबित हुये।³⁶ यह एक संयोग ही था कि प्रो. आर.पी. त्रिपाठी शोध गतिविधियों के बड़े हिमायती थे जिसके लिये एक अच्छा पुस्तकालय आवश्यक होता है। सागर विश्वविद्यालय में उनके समय ही जवाहरलाल नेहरू पुस्तकालय की स्थापना भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पं. जवाहर नेहरू द्वारा की गई। प्रो. त्रिपाठी के प्रयासों से इस पुस्तकालय में अच्छी से अच्छी पुस्तकें मंगायी गईं। आज भी इतिहास विषय की अच्छी से अच्छी प्राचीनतम पुस्तकें इस विश्वविद्यालय में मौजूद हैं। इतिहास विषय की प्राचीनतम उत्कृष्ट पुस्तकें जो आज अन्य कहीं उपलब्ध नहीं हैं, वह आज जवाहरलाल नेहरू पुस्तकालय में उपलब्ध हैं।

प्रो. त्रिपाठी ने सागर विश्वविद्यालय में दीक्षांत समारोह का भी आयोजन कराया। इस दीक्षांत समारोह में श्री के.एन. काटजू आये थे।³⁷ प्रो. त्रिपाठी के कार्यकाल के 3 वर्ष हो चुके थे। अब नवीन कुलपति का चयन होना था। उस समय कुलपति का चुनाव कोर्ट-कुल सांसद से होता था। पं. रविशंकर शुक्ल अपने सहयोगी एवं प्रिय पं. द्वारका प्रसाद मिश्र को उपकुलपति बनाना चाहते थे। त्रिपाठी जी से कहा गया कि वे चुनाव न लड़ें, परन्तु वह लड़ें। सागर विश्वविद्यालय के शिक्षक प्रो. त्रिपाठी को पसंद करने लगे थे। करते भी क्यों नहीं वे विश्वविद्यालय को निरन्तर प्रगति के मार्ग पर जो ले जा रहे थे। इस तरह यह चुनाव शिक्षक बनाम प्रशासन हो गया। प्रो. आर.पी. त्रिपाठी बड़े बहुमत से विजयी हुये। प्रो. त्रिपाठी एक बार पुनः दूसरे कार्यकाल के लिये उपकुलपति बन गये।³⁸

प्रो. आर.एस. सैनी बताते हैं कि इसके परिणाम स्वरूप सागर विश्वविद्यालय को सरकार से वित्तीय सहायता कम मिली। प्रो. त्रिपाठी ने हार नहीं मानी और विश्वविद्यालय डा. हरीसिंह गौर के बनाये विधान एवं प्रो. त्रिपाठी द्वारा निर्धारित उच्च शिक्षा के आदर्शों पर चलता रहा, प्रगति करता रहा।

3 वर्ष पश्चात् 1956 में पुनः कुलपति का चुनाव आया। इस बीच पं. रविशंकर शुक्ल ने बहुत से कुल सांसद (कोर्ट) सदस्यों को मनोनीत कर लिया था। प्रो. आर.एस. सैनी बताते हैं कि 'चुनाव के समय शुक्ल जी खुद सागर आये तथा सागर क्लब तथा सर्किट हाउस में उन्होंने शिक्षकों को आमंत्रित किया। मैं सागर क्लब का सदस्य था। उस वक्त रात्रि भोज में उन्होंने श्री स्वामी नाथन, डॉ. भवालकर एवं राजनाथ पाण्डे इत्यादि के समक्ष अपना पक्ष रखा कि वह विश्वविद्यालय को स्थिरता प्रदान करना चाहते हैं। यह उनके प्रदेश का विश्वविद्यालय है, यहां पर वह परिवर्तन लाना चाहते हैं। तब प्रो. त्रिपाठी चुनाव नहीं लड़ें तथा श्री द्वारका प्रसाद मिश्र उपकुलपति बन गये।'³⁹ इस तरह 1 मई 1950 से 30 अप्रैल 1956 तक लगातार सफलतापूर्वक सागर विश्वविद्यालय के उपकुलपति के रूप में अपना कार्यकाल सफलतापूर्वक सम्पन्न करने के पश्चात् प्रो. आर.पी. त्रिपाठी वापस इलाहाबाद चले गये। वह जब तक रहे शान से रहे, कभी झुके नहीं, दबाव में नहीं आये। कुलपति पद की गरिमा को गिरने नहीं दिया। सागर विश्वविद्यालयों को शोध कार्य की दिशा में नवीन ऊंचाइयां प्रदान की। इतने अच्छे एवं श्रेष्ठ शिक्षकों को नियुक्त किया कि जिनके कारण सागर विश्वविद्यालय का नाम विदेशों में भी जाना जाने लगा। प्रो. आर.पी. त्रिपाठी का शोधकार्य, व्यक्तित्व एवं कृतित्व आज भी अनुकरणीय है। एक श्रेष्ठ इतिहासकार एवं इतिहास के राष्ट्रवादी स्कूल के संस्थापक के साथ-साथ एक कुशल प्रशासक के रूप में उनका नाम सदा आदर के साथ लिया जावेगा।

इतिहास विभाग,

डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

संदर्भ :

1. हेरम्ब चतुर्वेदी, 'रामप्रसाद त्रिपाठी : एक प्रसिद्ध इतिहासकार का जीवन परिचय' द ऑरिजनल सोर्स, वाल्यूम-1, इश्यू-3, अप्रैल-जून 2013, शोध पत्रिका, सेन्टर फॉर हिस्टोरिकल एण्ड कल्चरल स्टडीज, वाराणसी, पृ. 64
2. आर.एस. सैनी, सागर विश्वविद्यालय : बैरक्स से पथरिया की पहाड़ियों का सफर, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, 2006, पृ. 31
3. वही, पृ. 119
4. वही, पृ. 31

5. वही, पृ. 119
6. वही, पृ. 31
7. हेरम्ब चतुर्वेदी, पूर्वोक्त, पृ. 64
8. हरीसिंह गौर, 7 लाइब्ज, आत्मकथा, हिन्दी अनुवाद, राजेश श्रीवास्तव, विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर 2006, पृ. 78-79
9. आर.पी. त्रिपाठी, समआस्पेक्ट्स ऑफ मुस्लिम एडमिनिस्ट्रेशन, सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद, 1974, पृ. 105-124
10. वही, पृ. 239-351
11. आर.एस. सैनी, पूर्वोक्त, पृ. 70
12. वही, पृ. 65
13. आर.पी. त्रिपाठी, राइज एण्ड फॉल ऑफ द मुगल एम्पायर, सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद, 1981, नोट टू द सेकेण्ड एडिशन
14. वही, प्रीफेस IX
15. सम आस्पेक्ट्स ऑफ मुस्लिम एडमिनिस्ट्रेशन, प्रीफेस (i)
16. वही, पृ. 371
17. वही, पृ. 372
18. वही, प्रीफेस (i)
19. वही, प्रीफेस (ii)
20. वही, प्रीफेस (ii, iii)
21. हेरम्ब चतुर्वेदी, पूर्वोक्त, पृ. 65
22. वही, पृ. 66
23. रोमिला थापर, इतिहास की पुनर्व्याख्या, दिल्ली, 1996, पृ. 17
24. बी.के. श्रीवास्तव, इतिहास लेखन : अवधारणा विधायें एवं साधन, एस.बी.पी.डी. पब्लिशिंग हाउस, आगरा, 2017, पृ. 256
25. सम आस्पेक्ट्स ऑफ मुस्लिम एडमिनिस्ट्रेशन, पूर्वोक्त, प्रीफेस-(i)
26. आर.एस. सैनी, पूर्वोक्त, पृ. 116
27. वही, पृ. 117
28. वही, पृ. 118
29. वही, पृ. 32
30. वही, पृ. 119
31. वही, पृ. 120
32. वही, पृ. 33
33. वही, पृ. 34
34. वही, पृ. 32
35. वही, पृ. 33
36. वही, पृ. 34
37. वही, पृ. 34
38. वही, पृ. 35
39. वही, पृ. 35-36

जिला पुरातत्त्व संग्रहालय, सागर, मध्यप्रदेश की उमा-महेश्वर प्रतिमाएं : शिल्पशास्त्रीय विधान

सुरेन्द्र कुमार यादव

किसी भी क्षेत्र की धार्मिक समृद्धि उसके सांस्कृतिक विकास के ऐसे स्वर्णिम पृष्ठ होते हैं, जिसकी मूक प्रतिध्वनि उनके मूर्तिशिल्प से जीवन्त रहती है। विन्ध्याचल की उपत्यकाओं में बसी बुन्देलखण्ड की हृदयस्थली सागर अंचल का भू-भाग प्राचीन काल से ही समृद्ध एवं वैभवशाली सांस्कृतिक समुन्नत का केन्द्र रहा है। इस अंचल को मौर्य, शुंग, सातवाहन, शक, नाग, गुप्त, हूण, गुर्जर-प्रतिहार, कलचुरि, चन्देल एवं परमार राजवंशों ने सांस्कृतिक चेतना को बहुआयामी स्वरूप प्रदान किया। जिसके फलस्वरूप इस क्षेत्र में सभी सम्प्रदायों में धार्मिक समन्वय दिखलायी देता है। यहाँ वैष्णव, शैव, शाक्त, सौर एवं जैन सम्प्रदाय से संबंधित अनेक मन्दिरों एवं प्रतिमाओं का प्रमाण मिलता है। सागर जिले में अनेक महत्वपूर्ण पुरास्थल प्रकाश में आये, जिनमें एरण, बीनाबारहा, पहलेजपुर, मण्डीबोमारा आदि महत्वपूर्ण हैं। इस क्षेत्र के विभिन्न पुरास्थलों से प्राप्त स्थापत्य एवं मूर्तिशिल्प को जिला पुरातत्त्व संग्रहालय में प्रदर्शित किया गया है। प्रस्तुत शोध पत्र मध्य प्रदेश के सागर जिले के जिला पुरातत्त्व संग्रहालय की उमा महेश्वर प्रतिमाओं के अध्ययन पर आधारित है।

शिव से संबंधित प्रतिमाओं को उनके कलागत, रूपगत एवं भावगत दृष्टि से दो रूपों में विभक्त किया गया है, जो रौद्र एवं सौम्य रूप से संबंधित है। सौम्य रूप में शिव के शान्त, अनुग्रह तथा कल्याणकारक भाव प्रदर्शित है। इस अवस्था में शान्तभाव, इच्छित वस्तु का प्रदान, पार्वती के साथ संभाषण, योग तथा ज्ञान की शिक्षा आदि सद्भावना के साथ अंकन किया गया है। सौम्य प्रतिमाएं स्थानक तथा आसनस्थ दोनों प्रकार की मिलती हैं। सौम्य प्रतिमाओं में सोम-स्कन्द, आलिंगन चन्द्रशेखर, सदाशिव, नीलकंठ, महेश्वर, गंगाधर एवं उमा-महेश्वर प्रतिमाएं महत्वपूर्ण हैं। प्रतिमाशास्त्रीय ग्रन्थों में उमा महेश्वर प्रतिमाओं के लक्षणों का अंकन प्राप्त होता है। इन ग्रन्थों में उमा महेश्वर प्रतिमाओं को विविध नामों यथा आलिंगन चन्द्रशेखर, हर-गौरी, त्रिपुरसुन्दरी एवं शिव-पार्वती आदि नामों से उल्लिखित किया गया है। प्रस्तुत शोध पत्र में उमा-महेश्वर प्रतिमाओं का शिल्पशास्त्रीय ग्रन्थों के आधार पर अध्ययन किया गया है। इसमें उमा-महेश्वर प्रतिमाओं का प्रतिमाशास्त्रीय लक्षण, उनकी भाव-भंगिमा, शारीरिक व आलंकारिक सौन्दर्य तथा काल गणना पर प्रकाश डाला गया है। इसके साथ ही इन प्रतिमाओं का आध्यात्मिक व सांसारिक स्वरूप तथा निर्माण के उद्देश्य आदि पर भी गहनतापूर्वक विचार-विमर्श किया गया है।

शिल्पग्रन्थों में उमा-महेश्वर का प्रतिमा विधान : शिल्पग्रन्थों यथा विष्णुधर्मोत्तर पुराण, अपराजितपृच्छा, अंशुमद्भेदागम, रूपमण्डन, देवतामूर्तिप्रकरण, मयमतम एवं मत्स्यपुराण आदि में उमा-महेश्वर प्रतिमाओं के लक्षणों का विवरण प्राप्त होता है। इन ग्रन्थों में उमा-महेश्वर की प्रतिमाओं का तालमान, उनके अंग-प्रत्यंगों के गढ़न में उनके विनियोग, रूप विधान एवं देहविन्यास के अलंकरण के लिये विविध प्रकार के आभूषणों का वर्णन किया गया

है। इसके साथ ही इन ग्रन्थों में प्रतिमा विधान के अनुरूप ही उमा-महेश्वर के आयुधों, अलंकरणों (प्रसाधनिक वस्तुओं), वाहनों, गणों एवं पुत्रों आदि का भी उल्लेख मिलता है।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण : विष्णुधर्मोत्तरपुराण के अनुसार शिव-पार्वती को एक ही पीठिका पर आलिंगन करते हुये प्रदर्शित करना चाहिये। शिव के आठ सिर होते हैं, जो जटाजूट से शोभित रहते हैं। शिव द्विभुजी हैं, जिनके वाम हस्त देवी के स्कन्ध पर और दाहिने हस्त में उत्पल रहता है। उमा का दाहिना हस्त शिव के स्कन्ध पर और बायें में दर्पण धारण किये रहती हैं। देवी का कटि क्षीण तथा शरीर सुन्दर रहता है (विष्णुधर्मोत्तर पुराण 108, 8-10)। कभी-कभी महेश्वर के दाहिने हाथ में त्रिशूल के अंकन का भी विधान है। पीठिका के निचले हिस्से पर सिंह एवं नन्दी का अंकन क्रमशः उमा एवं महेश्वर के वाहन के रूप में दर्शित है।

युग्मं स्त्रीपुरुषं कार्यमुमेशौ दिव्यरूपिणौ। अष्टवक्त्रं तु देवेशं जटाचन्द्रार्धभूषितम्॥

दिपाणिं द्विभुजां देवीं सुमध्यां सुपयोधराम्। वामपाणिं तु देवस्य देवस्कन्धे नियोजयेत्॥

दक्षिणं तु करं शम्भोरुत्पलेन विभूषितम्। देव्यास्तु दक्षिणं पाणिं स्कन्धे देवस्य कल्पयेत्॥

विष्णुधर्मोत्तरपुराण, 105, 8-10

रूपमण्डन : रूपमण्डन के अनुसार 'उमा-महेश' की प्रतिमा में महेश को जटामुकुट, विविध प्रकार के आभूषणों से सज्जित, त्रि-नेत्रयुक्त बनाना चाहिए। शिव के चतुर्भुजी हाथों में दाहिने हाथ में मातुलिंग और त्रिशूल व बायें हाथ से उमा का आलिंगन करते हुए, दूसरे हाथ में नागेन्द्र (सर्प) का अंकन हो। महेश के वामभाग में उमा हो, जिनका एक हाथ शिव के बायें कन्धे पर और दूसरे में दर्पण हो। उमा को विविध अलंकरणों यथा शिराभूषण, कुण्डल, हार और केयूर से सुसज्जित कर शिव के मुख का अवलोकन करते हुए बनाने का विधान बताया गया है। उमा- महेश्वर प्रतिमा के साथ ही वृषभ, स्कन्द, नन्दी तथा नृत्य करते हुये भृंगी ऋषि को भी प्रदर्शित करने का उल्लेख है (रूपमण्डन, 4-27, 28, 29)।

उमामहेश्वरं वक्ष्ये उमया सह शंकरः। मातुलिंगं त्रिशूलश्च धरते दक्षिणे करे॥

आलिंगितो वामहस्ते नागेन्द्रो द्वितीये करे। हरस्कन्द उमाहस्ते दर्पणो द्वितीये करे॥

अधस्तात् वृषभं कुर्यात् कुमारं च गणेश्वरम्। भगिरिर्द्वि तथा कुर्यान्निर्मासं नृत्यसंस्थितम्॥

रूपमण्डन 4-27, 28, 29

अंशुमद्भेदागम : अंशुमद्भेदागम के अनुसार शिव की जटा में चन्द्रमा की आकृति के कारण उन्हें चन्द्रशेखर नाम दिया गया। इस प्रतिमा में उमा सहित चन्द्रशेखर एवं आलिंगन चन्द्रशेखर का अंकन है (श्रीवास्तव, 1990 : 66)। अंशुमद्भेदागम में चन्द्रशेखर अपने बगल में बैठी उमा का आलिंगन करते हुए दिखाये जाते हैं। उमा दाहिने हाथ में कमल तथा बायें हाथ से महेश्वर के कटि का आलिंगन करती हैं (शुक्ल 1959:149)। उमा-महेश्वर प्रतिमा में उमा को सदैव बायीं ओर स्थान दिया गया है।

अपराजितपृच्छा: अपराजितपृच्छा में उमा-महेश्वर को समीपस्थ आसीन बैठे हुये दिखलाया गया है। महेश्वर के दाहिने हाथ में बीजपूरक एवं त्रिशूल है। बायें हाथ उमा की पीठ के पीछे से निकला हुआ है, और उनमें नाग धारण किये हुये हैं। उमा का दाहिना हाथ देव के स्कन्ध को स्पर्श कर रहा है, उसमें दर्पण धारण की हुयी हैं। देवमूर्ति के नीचे नन्दी का अंकन होना चाहिये। प्रतिमा के एक ओर कार्तिकेय तथा गणेश का अंकन तथा दूसरी ओर क्षीणकाय भृंगी नृत्य करते हुए दर्शाने का निर्देश है (अपराजितपृच्छा 213: 25-27)।

उमामहेश्वरं वक्ष्ये उमया सह शंकरः। मातुलिंगं त्रिशूलश्च धरते दक्षिणे करे॥

देवतामूर्तिप्रकरण : इस ग्रन्थ में उमा-महेश्वर मूर्ति का विवरण देते हुये सूत्रधार मण्डन ने कहा है कि महेश्वर को उमा के साथ द्विभुजी बनाना चाहिये। महेश्वर का एक हाथ भगवती उमा का आलिंगन करते हुए और अन्य हाथ में नागेन्द्र हो, उमा अपना दाहिना हाथ शिव के कन्धे पर तथा बायें हाथ में दर्पण लिये हो। इस प्रतिमा के नीचे वृषभ, कुमार स्कन्द, गणेश एवं नृत्यरत भृंगीरट नामक शिवानुचर संस्थित हो (देवतामूर्तिप्रकरण 6, 31, 32)।

उमामहेश्वरं वक्ष्य उमया सह शंकरम् । मातुलिंगं त्रिशूलश्च बिभ्रते दक्षिणे करे ॥ 31 ॥
अधस्तब्धषभं कुर्यात् कुमारश्च गणेश्वरम् । भृंगिरीटं तथा कुर्यान्नियमानृत्यसं स्थिता ॥ 32 ॥

देवतामूर्तिप्रकरण 6, 31, 32

अभिलषितार्थ चिन्तामणि : इस ग्रन्थ में उमा-महेश्वर की प्रतिमा का स्वरूप द्विभुजी या चतुर्भुजी और जटामण्डल से सुशोभित होना चाहिये । शिव को त्रिनेत्र और उनका एक हाथ पार्वती के कन्धे पर रखा हुआ और कुच तक पहुँचा हो । दूसरा सीधा हाथ त्रिशूल या उत्पल लिये होगा । शिव ललितासनमुद्रा में होंगे । उनके मस्तक पर चन्द्रमा स्थित होगा । वाम भाग में विराजित पार्वती देवी शिव के मुख पर दृष्टि लगाए होंगी । वह देवदेवेश्वर को स्पर्श किये दिखायी जाएगी । वह अपने दक्षिणी हाथ से कन्धे को व कुक्षी को स्पर्श करती होंगी । वाम भाग में उत्पल या दर्पण धारण करवाया जा सकता है । उनके दायें-बायें पार्श्व में जया-विजया और गणेश-कार्तिकेय होंगे (अभिलषितार्थ चिन्तामणि, 3/1, 779-784) ।

उमामहेश्वरस्यापि स्वरूपं वर्ण्यतेधुना । द्विभुजं वा चतुर्बाहुं जटामण्डलमण्डितम् ॥ 779 ॥
त्रिनेत्रं पार्वतीस्कन्धविन्यस्तैक्तकरं कुचे । करं द्वितीयं सव्ये तु शूलमुत्पलकं लिखेत ॥
वामपङ्कजासनं पादं दक्षिणं किञ्चिदश्चितम् । एवमर्धेन्दुसंस्थाने निविष्टं शंकरं लिखेत ॥
वामोरुवर्तिनीं देवीं हरवक्त्रावलोकनीम् । स्पृशन्तीं देवदेवस्य वामांसं लीलया लिखेत ॥
दक्षिणैः करजैस्स्कन्धे स्पृशन्तीं कुक्षिमेव वा । उत्पलं वामहस्तेन दर्पणं वापि बिभ्रतीम् ॥
जयां च विजयां पार्श्वे गणेशं षण्मुखं लिखेत् । उमामहेश्वरस्यैवं स्वरूपं परिकीर्तितम् ॥ 784 ॥

अभिलषितार्थ चिन्तामणि, 3/1, 779-784

मयमतम् : मयमतम में उमा-महेश्वर प्रतिमा के लक्षणों का विस्तार से वर्णन मिलता है । इसमें कार्तिकेय की स्थिति भी बताई गयी है, जिसके कारण इस प्रकार की प्रतिमा को सोमास्कन्द भी कहा गया है । अर्द्धचन्द्रासन पर आसीन यह प्रतिमा गौरी सहित होती है । उनके हाथ गौरी के साथ होते हैं और वामांग भुजाओं से संबद्ध होती है (मयमतम 36, 59-62) ।

अर्धचन्द्रासनं देवं वामागस्थितगौरिकम् । उमासहितहस्तं तु देव्या हस्तोपगूहितम् ॥
उमामहेश्वरं रूपं पूर्वोक्तस्वस्वरूपकम् । देवस्य वामपार्श्वे तु देवीं कुर्याद्विचक्षणः ॥
उमाशंकरयोर्मध्ये स्कन्दं वै बालरूपिणम् । सुखासनं युक्ता कुर्यादुमास्कन्दान्वितं भवेत् ॥

मयमतम 36, 59-62

श्रीतत्त्वनिधिः श्रीतत्त्वनिधि के अनुसार उमा-महेश्वर का वर्णन करते हुये कहा गया है कि जिनके वाम में शैलसुता, सामने वृषभ, पीछे इन्द्राणि, दोनों पार्श्वों और वाटवादि कोणों में विविध दैत्यारि, भृंगी, नारद, बाण(बाणासुर), भैरव, गणेश तथा स्कन्द हो और जो मध्य में पुण्डरीक धारण किये हुये हों, ऐसे शम्भु का भजन करना चाहिये (तत्त्वनिधि 3/10) ।

वामे शैलसुता पुरस्तु वृषभः पश्चात्सुरेन्द्रादयोः । दैत्यारिश्च विधिश्च पार्श्वदलयोर्वाटवादिकोणेषु च ॥
भृंगी नारद बाण भैरव गजास्य स्कन्द वीरेश्वरा । मध्ये शुभ्र सरोज कोमलरुचं शम्भुं भजे पाण्डुरम् ॥

श्रीतत्त्वनिधि, 3/10

मत्स्यपुराण : मत्स्यपुराण में उमा-महेश्वर को परम्परागत आभूषणों से सज्जित बतलाया गया है । इसमें शिव को द्विभुजी अथवा चतुर्भुजी बतलाया गया है, जिनके दाहिने हाथ में त्रिशूल एवं कमल तथा बायें हाथ से देवी को आलिंगन एवं दर्पण के साथ प्रदर्शित करने का विधान है (मत्स्यपुराण, 260.11.20) । इसके अतिरिक्त लिंगपुराण (1.92.7), शिवपुराण (5.21.9) एवं श्रीमद्भागवतपुराण (6.17.4/5) में उमा-महेश्वर प्रतिमा के निर्माण विधि एवं माहात्म्य चर्चा का उल्लेख किया गया है ।

जिला पुरातत्त्व संग्रहालय, सागर में उमा-महेश्वर की विविध प्रकार की प्रतिमाएं संग्रहीत हैं । ये प्रतिमाएं सागर क्षेत्र के विविध पुरास्थलों से प्राप्त की गयी हैं ।

प्राप्ति स्थल : बीनाबारहा, सागर, म.प्र.

प्रतिमा: उमा-महेश्वर प्रतिमा: (छायाचित्र संख्या -1)

प्रकृति: बलुआ प्रस्तर

काल: 12वीं शताब्दी ईसवी

आकार : 60x36x16 सेमी.

पंजीयन संख्या: 04

प्रस्तुत प्रतिमा पादपीठ के ऊपर बनायी गयी है। एक अधिष्ठान पर आसीन ललितासनमुद्रा में उमा-महेश्वर को दर्शाया गया है। इस प्रतिमा में महेश्वर को चतुर्भुजी एवं उमा को द्विभुजी अंकित किया गया है। महेश्वर का अग्र दाहिना हाथ खण्डित है तथा अन्य ऊपरी दाहिने हाथ में त्रिशूल धारण किये हुये हैं। उनका एक बायां हाथ उमा के वाम वक्ष को स्पर्श कर रहा है तथा अन्य बायें हाथ में सर्पफण धारण किये हुये हैं। उमा अपने दाहिने हाथ से महेश्वर का आलिंगन कर रही हैं। उनका बायां हाथ खण्डित है। उमा की मुखाकृति घिस गयी है। महेश्वर का जटामुकुट विविध आभूषणों से अलंकृत है। वे चक्र कुण्डल, मणिमुक्ताहार, कंकण, कटयवलय आदि आभूषण धारण किये हुये हैं। उमा की आकर्षण केशराशि को भी विभिन्न आभूषणों से सजाया गया है। उनके कानों में कुण्डल, गले में एकावली, द्विवली हार, भुजबन्ध एवं कटिसूत्र आदि का अंकन है। उमा-महेश्वर के पैरों के नीचे उनके वाहन व्याघ्र एवं नन्दी दृश्यमान है। इसमें उमा का बायां पैर व्याघ्र के मस्तक पर है। महेश्वर के पीछे अलंकृत गोलाकार प्रभामण्डल है। प्रतिमा वितान पर दोनों ओर उड़ते हुये गंधर्वों के मध्य पाँच शिवलिंगों का अंकन किया गया है। परिकर में मांगलिक व्यालों एवं शिवगणों का अंकन किया गया है। दाहिने परिकर के बाह्य शाखा में सबसे नीचे आसीनमुद्रा में गणेश का अंकन किया गया है। ठीक बायें परिकर के बाह्य शाखा में सबसे नीचे आसीनमुद्रा में कार्तिकेय का अंकन किया गया है। उमा-महेश्वर के पैरों के ठीक नीचे मध्य में अपने भुजबल से पादपीठ को उठाते हुये रावण का अंकन किया गया है। ग्यारहवीं शताब्दी ईस्वी से संबंधित इस प्रतिमा में महेश्वर को उनके परिवार के साथ प्रदर्शित किया गया है।

प्राप्ति स्थल : देवरी, सागर, म.प्र.

प्रतिमा: उमा-महेश्वर प्रतिमा: (छायाचित्र संख्या -2)

प्रकृति: बलुआ प्रस्तर

काल: 11-12वीं शताब्दी ईसवी

आकार : 60x40x19 सेमी.

पंजीयन संख्या: 166

प्रस्तुत उमा महेश्वर की प्रतिमा ललितासनमुद्रा में आसीन है। इस प्रतिमा में महेश्वर के ऊपरी दाहिने पार्श्व का भाग खण्डित हो गया है। शिव का ऊपरी दाहिना हाथ खण्डित तथा निचले हाथ में मातुलिंग है, जबकी एक बायां हाथ उमा को आलिंगनबद्ध किये है तथा दूसरा खण्डित है। उमा द्विभुजी है, जिनका दाहिना हाथ शिव के स्कन्ध पर तथा बायें हाथ का अंकन अस्पष्ट है। उमा-महेश्वर एक दूसरे की ओर देखते हुये दर्शाये गये हैं। वे परम्परागत आभूषण धारण किये हुये हैं। प्रतिमा आसन के नीचे मध्य में महेश्वर के वाहन नन्दी को अपने इष्टदेव की ओर गर्दन उठाकर देखते (देववीक्षणतत्परः) हुये अंकित किया गया है। उसके बायीं ओर उमा का वाहन खण्डित है। इसके दोनों तरफ अनुचरों को दिखलाया गया है। प्रतिमा वितान पर दोनों ओर उड़ते हुये गंधर्वों का अंकन है।

प्राप्ति स्थल : गुढ़ा, सागर, म.प्र.

प्रतिमा: उमा-महेश्वर प्रतिमा: (छायाचित्र संख्या -3)

प्रकृति: बलुआ प्रस्तर

काल: 11वीं शताब्दी ईसवी

आकार : 82x46x21 सेमी.

पंजीयन संख्या: 09

प्रस्तुत उमा महेश्वर की यह कलचुरि प्रतिमा एक पादपीठ पर बनायी गयी है। चतुर्भुजी महेश्वर ललितासनमुद्रा में आसीन है। यह प्रतिमा अत्यन्त घिस गयी है। उमा-महेश्वर- को परम्परागत आभूषणों से सज्जित किया गया है। महेश्वर के दाहिने ऊपरी हाथ में त्रिशूल एवं निचला हाथ वरदमुद्रा में है। बायें एक हाथ में सर्पफण तथा दूसरे से उमा का आलिंगन कर रहे हैं। द्विभुजी उमा का दाहिना हाथ महेश्वर के स्कन्ध पर तथा बायें हाथ में दर्पण धारण की हुयी हैं। महेश्वर का बायां पैर नन्दी के मस्तक पर है। नन्दी के दाहिनी तरफ भृंगी का अंकन है। प्रतिमा वितान पर उड़ते हुये मालाधारी गन्धर्वों एवं त्रिदेवों का अंकन किया गया है। सबसे निचले हिस्से में पादपीठ को अपने दोनों भुजाओं से उठाये हुये रावण का अंकन किया गया है। निचले हिस्से में दोनों पार्श्वों में शिव गणों का अंकन है।

प्राप्ति स्थल : मढ़पिपरिया, सागर, म.प्र.

प्रतिमा: उमा-महेश्वर प्रतिमा: (छायाचित्र संख्या -4)

प्रकृति: लाल बलुआ प्रस्तर

काल: 12वीं शताब्दी ईसवी

आकार : 65x56x15 सेमी.

पंजीयन संख्या: 21

प्रस्तुत प्रतिमा में महेश्वर चतुर्भुजी एवं उमा द्विभुजी हैं। महेश्वर के दोनों दाहिने हाथ खण्डित हैं। उनका एक बायां हाथ उमा के वाम उरोज को स्पर्श कर रहा है तथा अन्य बायां हाथ खण्डित है। महेश्वर अलंकृत जटामुकुट, चक्रकुण्डल, एकावली, द्विवली हार, यज्ञोपवीत, वनमाला, कटिसूत्र, उरुदाम एवं भुजबन्ध आदि आभूषण धारण किये हुये हैं। महेश्वर सव्य ललितासन में बैठे हैं तथा उनका दाहिना पैर पङ्ख स्थंडिल पर रखा हुआ है। महेश्वर के बायीं जंघा पर द्विभुजी उमा भी ललितासन मुद्रा में बैठी हैं। द्विभुजी उमा का दाहिना हाथ महेश्वर के स्कन्ध पर तथा बायें हाथ में दर्पण है। उमा-महेश्वर दोनों अतीव सम्मोहक मुद्रा में एक दूसरे को देख रहे हैं। उमा की आकर्षक केशराशि को विविध आभूषणों से सज्जित किया गया है। उनके कानों में कुण्डल, गले में हार, स्तन हार, कटिवलय, उरुदाम, भुजबन्ध आदि आभूषण हैं। उमा के उत्तरीय को पारदर्शी एवं अलंकृत दिखलाया गया है। महेश्वर के सिर के पीछे नुकीले किरणों से युक्त प्रभामण्डल है। उमा-महेश्वर प्रतिमा के सबसे ऊपरी भाग में विद्याधर युगल, ब्रह्मा एवं लक्ष्मी के साथ चतुर्भुजी विष्णु का अंकन है। परिकर के दोनों तरफ मांगलिक गज एवं व्याल, स्थानक शिवगणों एवं उपासकों का अंकन है। दाहिने परिकर के निचले भाग में गणेश तथा बायीं तरफ कार्तिकेय को अपने वाहन मयूर पर आसनस्थ दिखाया गया है। उमा-महेश्वर के आसन के नीचे नन्दी (मुख खण्डित) एवं व्याघ्र का अंकन है। सबसे निचले हिस्से के पादपीठ में रावण के दोनों ओर दो-दो उपासकों का अंकन है। त्रिमुखी रावण अपने दोनों हाथों से पादपीठ को पर्वत श्रृंखला के रूप में उठाने का प्रयास करते हुये दिखलाया गया है। इस प्रतिमा को शिल्पशास्त्रीय ग्रन्थों के अनुरूप ही निर्मित किया गया है।

प्राप्ति स्थल : खुरई, सागर, म.प्र.

प्रतिमा: उमा-महेश्वर प्रतिमा: (छायाचित्र संख्या -5)

प्रकृति: बलुआ प्रस्तर

काल: 12-13वीं शताब्दी ईसवी

आकार : 115x41x25 सेमी.

पंजीयन संख्या: 137

प्रस्तुत प्रतिमा में उमामहेश्वर ललितासनमुद्रा में आसीन है। उमा उनकी बायीं जंघा पर विराजमान है। चतुर्भुजी महेश्वर के ऊपरी दाहिने हाथ में त्रिशूल तथा अधोहस्त में निलोत्पल धारण किये हैं। उनका एक बायां हाथ उमा को आलिंगनबद्ध है तथा दूसरे हाथ में सर्पफण धारण किये हुये हैं। उमा का दाहिना हाथ महेश्वर के स्कन्ध पर तथा बायां हाथ में दर्पण है। उमा एवं महेश्वर एक दूसरे ओर देख रहे हैं। महेश्वर के कानों में कुण्डल, गले में

कंठाहार, कमर में मेखला तथा हाथ में कंकड़ धारण किये हुये हैं। उमामहेश्वर प्रतिमा के दोनों पार्श्वों में ऊपर मालाधारी गंधर्व, कार्तिकेय एवं गणेश का अंकन है। नीचे के पार्श्वों में स्थानकमुद्रा में चवर धारण की हुयी उपासिकाएं एवं अंजलिमुद्रा धारण किये हुये अनुचरों का अंकन है। मध्य में नन्दी एवं नृत्य करते हुये भृंगीऋषि का अंकन है।

प्राप्ति स्थल : शेरपुर दरकौली(राहतगढ़), सागर, म.प्र.

प्रतिमा: उमा-महेश्वर प्रतिमा: (छायाचित्र संख्या -6)

प्रकृति: बलुआ प्रस्तर

काल: 11वीं शताब्दी ईसवी

आकार : 68x46x24 सेमी.

पंजीयन संख्या: 69

प्रस्तुत प्रतिमा त्रिरथ पादपीठ के ऊपर बनायी गयी है। प्रतिमा का ऊपरी आवरण अत्यन्त घिस गया है। एक अधिष्ठान पर आसीन ललितानमुद्रा में उमा-महेश्वर को दर्शाया गया है। इस प्रतिमा में महेश्वर के मस्तक का ऊपरी भाग एवं भुजाएं खण्डित है। उमा की भुजाएं भी खण्डित है। महेश्वर के ऊपरी दाहिने हाथ का त्रिशूल दिखलायी दे रहा हैं। उनका एक बायां हाथ उमा के वाम वक्ष को स्पर्श कर रहा है। महेश्वर के पैरों के नीचे उनके वाहन नन्दी तथा मध्य में भृंगी दृश्यमान हैं। महेश्वर के पीछे नुकीले किरणों युक्त गोलाकार प्रभामण्डल से सज्जित किया गया है। उमा-महेश्वर को परंपरागत आभूषणों से अलंकृत किया गया है। प्रतिमा वितान पर दोनों ओर उड़ते हुये गंधर्वों का अंकन किया गया है। परिकर में मांगलिक व्यालों एवं शिवगणों का अंकन किया गया है। दाहिने परिकर के आन्तरिक शाखा में सबसे नीचे नृत्यमुद्रा में गणेश तथा ठीक बायें परिकर के आन्तरिक शाखा में सबसे नीचे स्थानकमुद्रा में कार्तिकेय का अंकन किया गया है। उमा-महेश्वर के पैरों के ठीक नीचे मध्यरथिका में अपने भुजबल से पादपीठ को उठाते हुये रावण का अंकन किया गया है। ग्यारहवीं शताब्दी ईस्वी से संबंधित इस प्रतिमा में महेश्वर को उनके परिवार के साथ दर्शित किया गया है

प्राप्ति स्थल : देवरी, सागर, म.प्र.

प्रतिमा: उमा-महेश्वर प्रतिमा: (छायाचित्र संख्या -7)

प्रकृति: बलुआ प्रस्तर

काल: 12वीं शताब्दी ईसवी

आकार : 139x81x36 सेमी.

पंजीयन संख्या: 194

इस उमा-महेश्वर प्रतिमा में प्रतिमाशास्त्रीय सौन्दर्य का अद्भुत दिग्दर्शन दिखलायी देता है। इसमें शिव सव्य ललितासनमुद्रा में आसीन हैं तथा उनका बायां पैर पद्म स्थंडिल पर स्थिर है। उनकी बायें जंघे पर उमा बैठी हुयी हैं। चतुर्भुजी शिव का एक दाहिना हस्त अभयमुद्रा में तथा दूसरा खण्डित है। महेश्वर वामहस्त से उमा के वाम उरोज को स्पर्श करते हुये दिख रहे है। दूसरा वामहस्त में त्रिशूल का अंकन है। द्विभुजी उमा का दाहिना हस्त शिव के स्कन्ध पर तथा बायां हस्त खण्डित है। उमा-महेश्वर विविध आभूषणों से सुशोभित हैं। उनके कानों में चक्रकुण्डल, गले में हार, यज्ञोपवीत, भुजबन्ध, कंकण, केयूर, वनमाला, कटिसूत्र, उरुदाम, पादवलय के अलावा अलंकृत जटामुकुट धारण किये हुये है। प्रतिमा वितान में प्रभामण्डल के दोनों ओर मालाधारी गन्धर्व युगल हैं, जिनके मध्य में शिव का अंकन किया गया है। उसके ठीक नीचे दाहिने पार्श्व में चतुर्भुजी विष्णु एवं बायें पार्श्व में ललितासनमुद्रा में त्रिमुखी ब्रह्मा का अंकन है। दाहिने पार्श्व के सबसे निचले हिस्से में शूलधारी कार्तिकेय एवं उसके ठीक नीचे गणेश का अंकन है। बायें पार्श्व में शिवगण का अंकन है। शिव के पैरों के समीप शिव का वाहन नन्दी, मध्य में नृत्य करता भृंगी तथा बायीं तरफ उमा का वाहन व्याघ्र है। निचले हिस्से में अपनी भुजाओं से पादपीठ को उठाते हुये रावण का

अंकन किया गया है। उसके दोनों ओर दो-दो शिव गणों का अंकन किया गया है। यह उमा-महेश्वर प्रतिमा सम्पूर्ण अलौकिक सौन्दर्य एवं आनन्दानुभूति को अभिव्यक्त करती है।

निष्कर्ष : उपरोक्त विवरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पूर्व मध्यकालीन मध्य भारत में उमा- महेश्वर की प्रतिमाओं का विशेष प्रचलन था। यद्यपि इस प्रकार की प्रतिमाएं पहली शताब्दी ईस्वी सन् से ही मिलनी प्रारम्भ हो जाती है (बनर्जी 1956: 39/2)। गुप्तकाल में उमा-महेश्वर की प्रतिमाओं का विशेष महत्व रहा। पूर्व मध्यकाल में यह क्षेत्र शैव-शाक्त धर्म का प्रमुख केन्द्र रहा। इसके फलस्वरूप इस काल में उमा-महेश्वर की प्रतिमाओं का निर्माण सबसे ज्यादा हुआ। जिला पुरातत्त्व संग्रहालय, सागर की सभी उमा-महेश्वर प्रतिमाएं आसनस्थमुद्रा में ही प्रदर्शित हैं। इन प्रतिमाओं का निर्माण प्रतिमाशास्त्रीय ग्रन्थों के अनुरूप हुआ है।

इन प्रतिमाओं में अधिकांशतः उमा-महेश्वर युगल को अतीव सम्मोहक मुद्रा में एक दूसरे की ओर निहारते (देखते हुये) हुये प्रदर्शित किया गया है। महेश्वर के मुख पर अनुराग और उमा की मुंदी हुई आंखों पर नारी सुलभ लज्जा का भाव सहज ही दृष्टिगोचर होता है। ये प्रतिमाएं अपनी भावाभिव्यंजना के माध्यम मुख, हस्त एवं पादमुद्रा और शरीर सौष्ठव के विभिन्न अवयवों की भंगिमाओं से आध्यात्मिकता के साथ-साथ लौकिकता के अर्थपूर्ण भावों को प्रकट करती हैं। कहीं-कहीं उमा-महेश्वर प्रतिमाओं में देवत्व की विराटता एवं भव्यता को दिखलाने का प्रयास किया गया है। संभवतः इसके लिये प्रतिमा के सबसे ऊपरी हिस्से में ब्रह्मा, विष्णु, विभिन्न देवगणों एवं मालाधारी गंधर्वों आदि का अंकन किया गया है। साथ ही अलंकृत प्रभामण्डल, मांगलिक गजों व व्यालों, स्थानक शिवगणों, उपासको, उनके पुत्रों एवं कहीं-कहीं रावणानुग्रह दृश्य का अंकन किया गया है। बीनाबारहा (चित्र संख्या 1) से प्राप्त उमा-महेश्वर प्रतिमा के वितान पर पाँच शिवलिंगों का पंक्तिबद्ध अंकन किया गया है। यह पांच शिवलिंग शिव के पाँच रूपों (सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष व ईशान) के परिचारक हैं, जोकि पाँच तत्वों (क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर) के प्रवर्तक माने जाते हैं।

प्रतिमाशास्त्रीय दृष्टि से उमा-महेश्वर के अंकन में स्वाभाविकता तथा यथार्थता दिखाई देती हैं। उमा-महेश्वर की प्रतिमाओं में शारीरिक संरचना के प्रत्येक अंगों को इस प्रकार निरूपित किया गया है कि उनके पूर्ण स्वरूप में लय उत्पन्न हो गया है। उमा-महेश्वर प्रतिमाएं अपने शारीरिक एवं आलंकारिक सौन्दर्य के लिये विशेष महत्वपूर्ण हैं। इन प्रतिमाओं में शारीरिक सौन्दर्य के अन्तर्गत उनकी अंगभंगिमा का विशेष महत्व है। उमा-महेश्वर प्रतिमाओं में भावाभिव्यंजना के माध्यम को मुख (नेत्र, नासिका एवं होंठ), हस्त, शारीरिक सौष्ठव एवं मुद्राओं (हस्त व पाद) के विभिन्न अवयवों के रूप में दर्शाया गया है। इन प्रतिमाओं के निर्माण में शास्त्रीय नियमों का अनुपालन करते हुए उनके संतुलित देह्यष्टि पर विशेष ध्यान दिया गया है। शिल्पशास्त्रीय ग्रन्थों में वर्णित उमा-महेश्वर के शारीरिक सौन्दर्य को निखारने में शिल्पी ने अद्भुत निपुणता प्राप्त की है। महेश्वर के शारीरिक सौन्दर्य में अंग सौष्ठव की बलिष्ठता, मुखाकृति पर धनुषाकार उर्णा, अण्डाकार चेहरा तथा चिबुक में उभार के साथ ही मुखाकृति पर स्मित हास्य भाव दृष्टिगोचर होता है। उमा-महेश्वर के सम्पूर्ण शारीरिक सौन्दर्य का अंकन अलौकिक आनन्दानुभूति की अभिव्यक्ति प्रतीत होता है। उमा के शारीरिक सौन्दर्य में अभिमुख शिर, मुखारविंद, प्रेमालाप से प्रसन्न नयन, उन्नत उरोज, आवर्त नाभि, स्मितयुक्त वदन एवं हास्य उत्सुक ओष्ठ को कलाकृति के रूप में उत्कृष्ट ढंग से प्रदर्शित किया गया है। उमा के शिल्पांकन में स्त्रियोचित मांसल सौन्दर्य के साथ नारी सुलभ कमनीयता का भाव है। महाकवि कालिदास ने कुमारसम्भव में पार्वती के सौन्दर्य का वर्णन करते हुये कहा है कि जब ब्रह्मा ने सारे विश्व के सौन्दर्य उपमानों को एकत्रित कर यथास्थान संजोया तब पार्वती की प्रतिमा निर्मित हुयी है (काले 1967: 1-49)। देवरी से प्राप्त (चित्र संख्या- 7) उमा-महेश्वर की कलचुरि कालीन प्रतिमा उपरोक्त वर्णित प्रतिमाशास्त्रीय शिल्प की संपूर्ण विशेषता को अपने अन्दर समाहित की हुयी है।

इन प्रतिमाओं में महेश्वर के अद्भुत परिवार का निदर्शन होता है, जिनमें कल्याण शक्ति उमा, देव सेनापति कार्तिकेय एवं प्रथम पूज्यदेव व विघ्नविनाशक गणपति हैं। उमा-महेश्वर का प्रणयक्रीड़ा, प्रणयमुद्रा, आलिंगनमुद्रा एवं अपने पुत्र कार्तिकेय एवं गणेश के साथ अंकन एक आदर्श गृहस्थ जीवन का श्रेष्ठ उदाहरण है। पुराणों के अनुसार महेश्वर एकान्त में उमा को अनेक आध्यात्मिक रहस्यों को सुनाते हैं। सम्पूर्ण सृष्टि एवं क्रियाओं

के रहस्य उमा-महेश्वर (शिव पार्वती) के संवाद में मिलता है। ऐसी मान्यता है कि अकेले शिव 'योग अर्थात् संयास के' तथा शिव परिवार 'सांसारिक सुखों के प्रतीक' हैं। उमा- महेश्वर साक्षात् प्रकृति-पुरुष के प्रतीक हैं। वाणी और अर्थ का समन्वय, जगत के मातृ-पितृ स्वरूप पार्वती और शिव के प्रति प्रणति रूप मंगलाचरण जीवन के विराट स्वरूप की अभिव्यक्ति करता है (रघुवंश, 1/1)।

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये। जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ।।

उमा-महेश्वर प्रतिमाओं में अधिकांशतः उमा को ललितासन मुद्रा में बैठे हुये महेश्वर के बायें जंघें पर दिखलाया गया है। वास्तव में यह एक ऐसी लालित्य एवं सौन्दर्यपूर्ण अवस्था है, जिसमें स्वतः ही श्रृंगार का भाव उत्पन्न हो जाता है। इन प्रतिमाओं में ध्यान देने योग्य बात यह है कि महेश्वर के गले में अंकित सर्प का अंकन गले से दूर बाहर की ओर दिखलाया गया है। संभवतः गृहस्थ जीवन में विषधर सर्प का कोई औचित्य नहीं है। संभवतः इसीलिये कहीं-कहीं सर्प के स्थान पर पुष्पगुच्छ, दर्पण एवं अंजनपात्र लिये हुये महेश्वर को अंकित किया गया है। ऐसा अद्भुत परिवार भारतीय संस्कृति का एक विशिष्ट पक्ष प्रस्तुत करने में समर्थ हैं। ये सभी उमा-महेश्वर प्रतिमाएं पूर्व मध्यकाल से संबंधित हैं। इस प्रकार ये कहा जा सकता है कि जिला पुरातत्त्व संग्रहालय, सागर में प्रदर्शित ये प्रतिमाएं शिल्पग्रन्थों में वर्णित उमा-महेश्वर प्रतिमा लक्षणों का पूर्णरूप से अनुपालन करते हुये निर्मित है।

ये प्रतिमाएं शाश्वत सौन्दर्य की कमनीय कान्ति उमा और प्रेम का चिरन्तर पुजारी आदिपुरुष शिव के श्रृंगारिक प्रेम का प्रांजल प्रतीक हैं। वास्तव में उमा-महेश्वर प्रतिमाओं में धर्म, कला, दर्शन एवं अध्यात्म के साथ-साथ सांसारिक सौन्दर्य बोध की भी समग्रतापूर्वक समागम दिखलायी देता है।

प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व

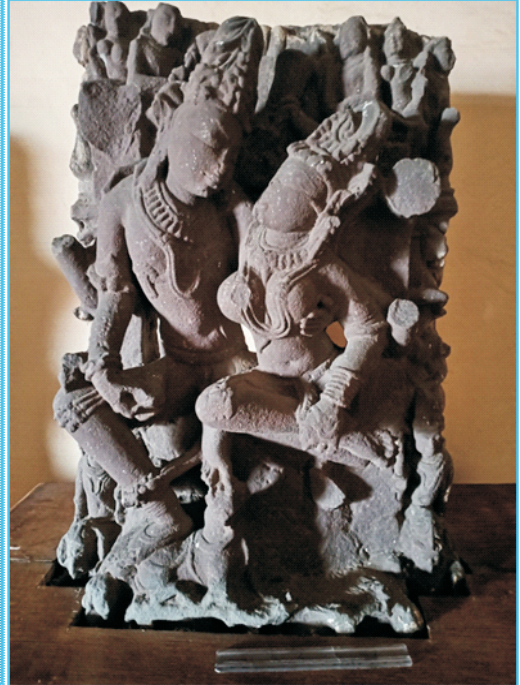
डॉ. हरीसिंह गौर केन्द्रीय विश्वविद्यालय सागर, (म.प्र.) 470003

संदर्भ :

- आप्टे, एच.एन (संपादक), 1907, मत्स्य पुराण, पूना: आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज
पोपटभाई अंबाशंकर मांकड (संपादक), 1940, अपराजितपृच्छा (भुवनदेव कृत), बडौदा:
गायकवाड़ ओरियण्टल, सीरीज
श्रीवास्तव, बृजभूषण, 1990 (द्वितीय संस्करण), प्राचीन भारतीय प्रतिमा विज्ञान एवं मूर्तिकला, वाराणसी : विश्वविद्यालय प्रकाशन
श्रीवास्तव, बलराम (संपादक), 1968, रुपमण्डन(श्रीसूत्रधारमण्डन कृत), जोधपुर: राजस्थानी ग्रन्थागार
श्रीमद्भागवत महापुराण, 1971, गोरखपुर: गीताप्रेस
श्रीकृष्णदास, क्षेमराज(संपादक), 1884, श्रीतत्त्वनिधि(कृष्णराज वोडेयार- तृतीय प्रणीत), मुम्बई: श्रीवेंकटेश्वर स्टीम मुद्रालयाध्यक्ष
सांख्यतीर्थ, उपेन्द्र मोहन (संपादक), 1936 देवतामूर्तिप्रकरण(श्रीसूत्रधारमण्डनविरचित), कलकत्ता
बनर्जी, जे.एन, 1956, द डेवलपमेन्ट ऑफ हिन्दू आइकनोग्राफी, नई दिल्ली: मुंशीराममनोहर लाल पब्लिशर्स।
मिश्र, ज्वाला प्रसाद, 1964, रघुवंश महाकाव्य (महाकवि कालिदास प्रणीत), बम्बई : श्रीवेंकटेश्वर स्टीम मुद्रालयाध्यक्ष
शुक्ल, द्विजेन्द्रनाथ, 1959, वास्तु-शास्त्रम् प्रतिमालक्षणम्, दिल्ली: राजकमल प्रकाशन
शिव पुराण, हनुमान प्रसाद(संपादक), 1978, गोरखपुर: गीताप्रेस
शाह, प्रियवाला (संपादक), 1912, विष्णुधर्मोत्तरपुराण, मुम्बई: वैकटेश्वर प्रेस
शास्त्री, शामदेव (संपादक), 1939, अभिलषितार्थ चिन्तामणि(सोमेश्वरदेव कृत), प्रथम भाग, मैसूर : ओरियण्टल, लाइब्रेरी पब्लिकेशन, सीरीज 69
शास्त्री, तरुवागम गणपति (सम्पादक), 1919, मयमत (मयमुनिकृत), त्रिवेन्द्रम: राजकीय मुद्रण यन्त्रालय
लिंग पुराण, 1981, मुंबई : लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस
काले, एम.आर. (सम्पादक) कालिदास कृत कुमार सम्भव, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1967,



चित्र संख्या 1 : उमामहेश्वर
बीनाबारहा सागर, मध्य प्रदेश 12वीं शताब्दी ईसवी



चित्र संख्या 2 : उमामहेश्वर
देवरी, सागर, मध्य प्रदेश, 11-12 वी शताब्दी ईसवी



चित्र संख्या 3 : उमामहेश्वर
गुढ़ा, सागर, मध्य प्रदेश 11वीं शताब्दी ईसवी



चित्र संख्या 4 : उमामहेश्वर
मढ़पिपरिया, सागर, मध्य प्रदेश, 11वी शताब्दी ईसवी



चित्र संख्या 5 : उमामहेश्वर
खुरई, सागर, मध्य प्रदेश, 11वीं शताब्दी ईसवी.



चित्र संख्या 6 : उमामहेश्वर
शेरपुर दरकौली, सागर, मध्य प्रदेश, 11वीं शताब्दी ईसवी



चित्र संख्या 7 : उमामहेश्वर
देवरी, सागर, मध्य प्रदेश, 12वीं शताब्दी ईसवी

‘सर्जना पथ के सहयात्री’ और निर्मल वर्मा

अमरेन्द्र त्रिपाठी

‘सर्जना पथ के सहयात्री’ निर्मल वर्मा के संस्मरण-प्रधान आलोचनात्मक लेखों का संकलन है। इसमें उनके प्रिय अठारह लेखकों की साहित्यिक उपस्थिति दर्ज है। ये लेख आत्मा के स्तर पर बेहतरीन समीक्षा हैं, लेकिन बर्ताव की प्रक्रिया में संस्मरण। याद हम उनको करते हैं जो हमारे प्रिय हैं, और इस क्रम में भावनाओं में पगा संस्मरण आकार लेता है, पर समीक्षा हम उसकी करते हैं जो हमारे मानस को रह-रह कर आंदोलित करता रहता है। वैसे इन लेखों में भावना पर कब और कहाँ वैचारिकी हावी हो जाती है, पता नहीं चलता। निर्मल वर्मा स्वयं इन लेखों को संस्मरण कहने से कतराते हैं, लेकिन इन्हें शुद्ध समीक्षा भी नहीं कहते। वे इसे एक भिन्न प्रकार की आलोचना कहते हैं जिसमें परंपरा का पालन नहीं हुआ है। उनके शब्द हैं- “आलोचना की लगी-बँधी खूँटी से अपने को छुड़ाकर- इन लेखों में मैंने अपने को आत्मीय प्रतिक्रियाओं के प्रवाह में मुक्त बहने दिया है।” (निर्मल वर्मा : 7)

संग्रह का पहला लेख प्रेमचंद पर केंद्रित है। बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के सबसे बड़े गद्यकार से बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध के एक कलात्मक गद्य-लेखक का संवाद स्वाभाविक है। प्रेमचंद ने हिंदी गद्य को सहजता और सरलता दी तो निर्मल वर्मा ने उसे कलात्मक ऊँचाई प्रदान की। आम आदमी के बारे में और उसके लिए लिखने वाले लेखक के बारे में, खास आदमी के विषय में और उसके लिए लिखने वाले की आत्मीयता की वजह क्या है! निर्मल वर्मा यदि प्रसाद की उपस्थिति को महसूस करते तो वह स्वाभाविक था, लेकिन उनकी चेतना पर यदि प्रेमचंद हावी रहे तो यह रोचक है। लेख की पहली पंक्ति यह जाहिर करती है कि इसका लेखन अस्सी के दशक में हुआ था, जब निर्मल वर्मा रचनाधर्मिता के स्वर्णिम दौर से गुजर रहे थे।

निर्मल वर्मा स्वयं को ‘प्रेमचंद की परंपरा’ का लेखक नहीं मानते, लेकिन प्रेमचंद की कोई एक परंपरा थी ऐसा भी वे नहीं स्वीकारते। उनका कहना है कि ‘सेवासदन’ के प्रेमचंद की परंपरा, ‘कफन’ के प्रेमचंद की परंपरा से भिन्न है, और खुद प्रेमचंद ने कई बार अपनी ही परंपरा से अलग रास्ता अख्तियार किया था। वे प्रेमचंद को ‘आदर्शवाद’ और ‘यथार्थवाद’ के खांचे से बाहर निकालने की कोशिश करते हैं और उन्हें गाँधी, विवेकानंद की तरह भारतीय परंपरा के भीतर से सत्य की तलाश करने वाला विचारक सिद्ध करते हैं। औपनिवेशिकता से निर्मित चेतना बीसवीं सदी के अधिकांश विचारकों की सीमा भी रही है और शक्ति भी। ‘सेवासदन’ के प्रेमचंद उस सीमा के भीतर सोचते हैं, पर ‘गोदान’ तक आते-आते वे इसका प्रतिपक्ष रचने लगते हैं। ‘सामंतवाद’ और ‘महाजनी सभ्यता’ से उन्हें यह स्वतंत्रता एक साथ मिली है। निर्मल वर्मा लिखते हैं, “यह छल्ला आदर्शवाद से यथार्थवाद की तरफ नहीं थी, जैसा कि हमारे हिंदी विभागों के प्रोफेसर और आलोचक मानते हैं- कोई भी सच्चा यथार्थ आदर्श से शून्य नहीं होता जैसे कोई भी आदर्श बिना यथार्थ की ठोस अन्तर्दृष्टि के अर्थहीन और बौना हो जाता है; प्रेमचंद के आदर्श नहीं बदले, सिर्फ यथार्थ से उनका संबंध बदल गया। वह अब भी मनुष्य की अच्छाई में विश्वास करते थे-लेकिन इस अच्छाई के सामने उन्होंने पहली बार बुराई या पाप से भी साक्षात्कार किया- जिसे हम ‘ईविल’ कह सकते हैं। पैसा

अपने में पाप है। यह बोध सहसा प्रेमचंद को एक ऐसे मोड़ पर लाकर खड़ा कर देता है, जिस मोड़ पर बिल्कुल दूसरे रास्ते से गांधी आए थे।” (निर्मल वर्मा : 21)

निर्मल वर्मा आभिजात्य वर्ग के लेखक माने जाते हैं, लेकिन उनका मानस आभिजात्य नहीं था। भारत के किसानों और उनकी यंत्रणादायक गरीबी से अपरिचय के बावजूद उन्होंने उसे अनदेखा नहीं किया। उन्होंने किसान-मजदूर पर कहानियाँ नहीं लिखी क्योंकि यह उनके जीवन-बोध का हिस्सा नहीं था। प्रेमचंद के लेखन में मौजूद भारतीय गरीबी के तीखे चित्रण ने उन्हें आकर्षित किया, जिसे उन्होंने किसानों-मजदूरों का नारा बुलंद करने वाले अपने समकालीन लेखकों में नहीं पाया था। वे लिखते हैं, “मुझे नहीं लगता प्रेमचंद से पहले या बाद के किसी कहानीकार में गरीबी, खास हिन्दुस्तानी गरीबी का इतना ठंडा, तटस्थ और तीखा वर्णन मिलता है, जो अगली पीढ़ी के प्रगतिशील लेखकों के शहरी, दिखाऊ, बनावटी रोमांटिसिज्म से बिल्कुल अलग था। एक शहरी प्रगतिशील लेखक स्वयं धन की सुविधाओं से जुड़ा रहता है, उसके मन में गरीबी सिर्फ दया जगाती है, जो क्रान्तिकारी रोमांटिसिज्म का दूसरा पहलू है-प्रेमचंद चूँकि स्वयं धन को संदेह की दृष्टि से देखते थे, गरीबी के प्रति उनका रुख दया, नफरत और विरोध जैसी भावुक प्रतिक्रियाओं से बिल्कुल अलग था। धन का अभाव अपने में वरदान हो सकता है, अगर वह ऐसी गरीबी को जन्म न दे, जिसमें मनुष्य स्वयं अपने धर्म और दायित्व बोध से ही वंचित हो जाता है। इस स्तर पर प्रेमचंद का महाजनी-व्यवस्था के विरुद्ध आक्रोश एक गहरी नैतिक पीड़ा लिए है-एक ठेठ परम्परावादी हिन्दुस्तानी की पीड़ा- जिसकी जरा-सी झलक भी हमें उनके बाद आने वाली पश्चिमी शिक्षा से लैस प्रगतिवादियों में नहीं दिखाई देती। विडम्बना यह है कि यही पश्चिमी संस्कृति में पले लोग जिनका एक औसत हिन्दुस्तानी की औपनिवेशिक पीड़ा से दूर का रिश्ता भी नहीं था, अपने को ‘प्रेमचंद की परम्परा’ का सबसे वफादार अनुयायी मानते हैं।” (निर्मल वर्मा : 22)

भारतीय साहित्य शास्त्र में कवि की तुलना ब्रह्म से की गई है। जैसे ईश्वर सृष्टि सृजित करता है, कवि भी उसके समानान्तर एक अन्य संसार रचता है। उपनिषद में ब्रह्म को कवि कहा गया है- ‘कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः’। आनंदवर्द्धन ने कवि को ब्रह्म और काव्यसंसार को उसकी सृष्टि के रूप में वर्णित किया है- ‘अपारे काव्यसंसारे कविरैकः प्रजापति/यथास्मै रोचते विश्वं तथा विपरिवर्तते’। पर यह पूरब की दृष्टि है। पश्चिम में कवि को इतना मान नहीं मिला। प्लेटो तो आदर्श राज्य से कवि को बहिष्कृत कर देना चाहता था। मार्क्सवाद में लेखक और मजदूर समान धरातल पर खड़े हैं। हरिशंकर परसाई जब प्रेमचंद को याद करते हैं तब उन्हें प्रेमचंद के ‘फटे जूते’ सर्वाधिक आकर्षित करते हैं। निर्मल वर्मा के लिए लेखक कलम का मजदूर न होकर दैवीय प्रतिभा से संपन्न व्यक्तित्व है। महादेवी वर्मा का आभा मंडल उन्हें सम्मोहित करता है। ‘देवी स्थान के शिखर पर-महादेवी’ आलेख में उत्तरांचल के रामगढ़ में ग्रीष्म ऋतु के लिए बनाए गए महादेवी वर्मा के आवास की यात्रा के दौरान निर्मल वर्मा को लगता है कि यहाँ उनकी उपस्थिति अब भी है। महादेवी ने इसी आवास में ‘दीपशिखा’ की रचना की थी, यह तथ्य उन्हें रोमांच से भर देता है। आध्यात्मिकता की आभा से मंडित महादेवी का व्यक्तित्व निर्मल जी के समक्ष कवि की सीमा का अतिक्रमण कर ‘देवी’ में रूपांतरित हो जाता है, और वे कह उठते हैं-‘महादेवी ‘देवी’ स्थान में नहीं रहेंगी तो कहाँ रहेंगी?’ तब अनायास ही उन्हें महादेवी के कक्ष और उनकी ‘सादी-स्वच्छ-सात्विक-सी’ गृहस्थी को देखकर ईश्वरोपासना में लीन आनन्दमयी माँ का स्मरण हो आता है। इन दोनों के बीच तुलना करते हुए वे लिखते हैं, “यह भी क्या दैवी संयोग था कि महादेवीजी के अध्ययन-कक्ष में जाकर ही मुझे आनन्दमयी माँ का वाराणसी वाला साधना-कक्ष याद आता रहा; वह भी खिड़की के पास बैठा करती थीं, जिसके पार धूप में चमकता गंगा का असीम, निस्पंद विस्तार दिखाई देता था। दोनों स्थानों के बीच एक दुर्लभ, अलौकिक साम्य था-हिमालय की पावन धवल अटलता और गंगा की सतत प्रवाहमयता...और तब महादेवीजी की चौकी के पास बैठा हुआ मैं सोचने लगा कि दोनों के बीच भौगोलिक दूरी के बावजूद कितना गहन सान्निध्य था! महादेवी शब्द की पवित्रता में सृष्टि को साकार करती थीं, आनन्दमयी माँ सृष्टि की पवित्रता में ईश्वर से साक्षात् करती थीं। खिड़की से ये दृश्य भले ही अलग-अलग दिखाई देते हों, कवि और साधक में कोई अलगाव नहीं थाय दोनों ही द्रष्टा थे।” (निर्मल वर्मा : 29)

लेखक को ईश्वरीय आसन पर बैठाने की चुनौतियाँ बहुत सारी हैं, लेकिन यह भाव लेखक को ईश्वर की तरह निर्दोष और मनुष्यता का पक्षधर होने की चुनौती तो प्रस्तुत कर ही देता है। भारत में साहित्यकार सदियों से ईश्वर की तरह समादृत रहा है। निर्मल वर्मा ने इसी भाव से महादेवी वर्मा को याद किया है।

‘नरलोक से किन्नर लोक तक व्याप्त एक ही रागात्मक हृदय’ को झंकृत करने की चाह रखने वाले हजारी प्रसाद द्विवेदी ने देश और काल की सीमाओं को अतिक्रमित करने वाला साहित्य रचा। ‘परंपरा और इतिहास बोध’ हजारी प्रसाद द्विवेदी पर केंद्रित है। द्विवेदी जी के आलोचनात्मक विवेक के निर्माण में परंपरा और इतिहास की केंद्रीय भूमिका है। हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना का विकास भी इन दोनों शब्दों के साथ संवाद-विवाद करते हुए हुआ। परंपरा के प्रति अधिकांश मार्क्सवादी आलोचकों का रुख आलोचनात्मक रहा, और इतिहास के प्रति विश्लेषणात्मक। द्विवेदी जी ने इनके बीच संतुलन स्थापित किया। निर्मल वर्मा द्विवेदी जी के बहाने ‘मार्क्सवादी इतिहास बोध’ के अंतर्विरोधों को उजागर करते हुए लिखते हैं, “मनुष्य ने जिस दिन ‘ऐतिहासिक अनिवार्यता’ को मनुष्य की नियति के साथ जोड़ दिया था, उसी दिन मार्क्स का यह विश्वास झूठा पड़ गया कि मनुष्य अपना इतिहास स्वयं बनाता है, उल्टे इतिहास को वह अमानुषिक स्वायत्त (frankenstein) शक्ति प्राप्त हो गई कि वह खुद मनुष्य की नियति को अनुशासित कर सके।” (निर्मल वर्मा : 33)

निर्मल वर्मा इतिहास और परंपरा के प्रति एक आक्रामक भाव रखने की वजह से मार्क्सवाद ही नहीं बल्कि समस्त यूरोपीय दृष्टि पर सवाल करते हैं। उन्हें लगता है कि पश्चिम के अंह-केंद्रित इतिहास-बोध ने ‘परंपरा में साँस लेता’ और ‘पावन अतीत को अपने वर्तमान में जीने’ वाली भारतीय मनीषा को ‘इतिहास और अतीत के दो मृत खंडों’ में विभाजित कर भारतीयों को उनके अतीत और परंपरा से उन्मूलित कर दिया। हजारी प्रसाद द्विवेदी की सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने इतिहास और परंपरा को लेकर हिंदी की दुनिया में विद्यमान भ्रम का निराकरण करते हुए यह स्थापित किया कि साहित्य-संसार में इतिहास और परंपरा दो विरोधी तत्त्व न होकर ‘स्वतंत्र चेतना के बिंदु पर एकीकृत हैं’। ‘कला शाश्वत वर्तमान में जीता है। कला का यह मर्म मनुष्य-जीवन का सत्य भी हो सकता है, ऐसा हजारी प्रसाद जी सोचते थे।’ (40)

‘आधुनिक बोध की पीड़ा-अज्ञेय’ अज्ञेय की तीन पुस्तकों-‘भवन्ती’, ‘अंतरा’ और ‘शाश्वती’- की समग्र समीक्षा है। ये पुस्तकें अज्ञेय की सृजन-यात्रा के ‘लॉग बुक’ हैं। पर, निर्मल वर्मा इसकी प्रस्तुति से संतुष्ट नहीं हैं। उन्हें लगता है कि इनमें अज्ञेय ने अपने अनुभवों की अन्वेषी भटकन के आरोह-अवरोह को प्रस्तुत करने की जगह उसे महज ‘निर्मित माल’ की तरह प्रस्तुत कर दिया है। इससे उनके वैविध्यमय जीवन और लेखकीय संघर्ष की कोई झलक नहीं मिलती, क्योंकि इसमें ‘स्थानों, घटनाओं और व्यक्तियों का असाधारण शून्य और अभाव है।’ यदि इन पुस्तकों में ‘बौद्धिक आग्रहों के पीछे के उन व्यक्तिगत अनुभवों’ को भी साझा किया जाता जो अज्ञेय के वैविध्यपूर्ण जीवन का हिस्सा थे, तो इसमें प्रस्तुत विचार ज्यादा प्रामाणिक और सरस हो जाते। अज्ञेय पर बंगाल के बुद्धिजीवियों, एम.एन. राय, एलियट के साथ-साथ नेहरू और उनके युग की बौद्धिकता का गहरा प्रभाव था। निर्मल वर्मा अज्ञेय को नेहरू-युग का प्रतिनिधि लेखक मानते हैं। उनके साहित्य में नेहरू-युग के अंतर्विरोध भी मौजूद हैं। शब्दों के प्रति अज्ञेय की जागरूकता को निर्मल वर्मा ‘नोटिस’ करते हैं, और मलार्मे के मार्फत कहते हैं कि ‘कविता विचारों से नहीं शब्दों से बनती है’। ‘जब कभी अज्ञेय अपनी बुद्धि से उतरकर आँख पर आते हैं, तो एक अद्भुत, मांसल, संसुअल लगाव का लैंडस्केप आलोकित हो उठता है।’ अज्ञेय की साहित्य-दृष्टि के निर्माण में आधुनिक-बोध की बड़ी भूमिका है। इसी कारण एक तरफ वे छायावादी कवियों की तरह प्रकृति के रूप-सौंदर्य पर मुग्ध होते हैं और दूसरी तरफ उसके क्रूर दोहन की विभीषिका को भी महसूस करते हैं। वे ‘एक साथ अपनी परंपरा के प्रति संवेदनशील और पश्चिमी साहित्य के प्रति सजग रहे हैं’। निर्मल वर्मा को लगता है कि अज्ञेय एक ऐतिहासिक भूमिका के निर्वाह से वंचित रह गये। उन्हें तीसरी दुनिया के अन्य प्रसिद्ध लेखकों की तरह आधुनिकता की नजर से भारतीय परंपरा का और परंपरा की दृष्टि से आधुनिक-बोध का आलोचनात्मक विश्लेषण करना चाहिए था। अज्ञेय के बौद्धिक कोण मानवीय लगाव से रहित हैं, इसलिए उसमें ‘सत्य की खनक’ नहीं मिलती। अज्ञेय का ‘अकेलापन’

उन पर हो रहे ओछे आक्रमणों के लिए कवच समान था, पर वे उस अकेलेपन में सिमट गए। उन्होंने कभी अपने ‘आत्म’ को प्रश्नांकित नहीं किया। “उनकी इन पुस्तकों में ‘अर्जित किए हुए सत्य’ अवश्य मिलते हैं, स्वयं सत्य को तलाशने की अंतर्पीड़ा, पिपासा, संदेह, मन को घुलाती हुई मैल, जो भीतर के सूरज को बार-बार अपने झूठों से छिपा लेती है, इन झूठों का कातर सत्य, उस सत्य को मथनेवाला क्रूर, आत्मवेधी विश्लेषण नहीं मिल पाता। इस विश्लेषण के अभाव में उनकी पीड़ा भी एक निजी थाती एक भोग की वस्तु बनकर रह जाती है।” (55)

‘परती : परिकथा’ के बहाने निर्मल वर्मा ने ‘समग्र मानवीय दृष्टि-रेणु’ में रेणु के कथा-संसार की बारीकियों की परख की है। रेणु किसी विचारधारा से लगे-बँधे नहीं थे, इसलिए लंबे समय तक उपेक्षित और बेध्व्य रहे। सैद्धांतिक बहसों में उलझे हिंदी के तत्कालीन आलोचकों को रेणु ने अपने कलात्मक सौंदर्य से चमत्कृत किया था। वे उनकी रचनाओं में अपना दर्शन खोजते और रेणु उन्हें एक नवीन जीवन-दृष्टि दे जाते। रेणु के पात्र किसी विचारधारा के इशारे पर नाचने वाली कठपुतलियाँ नहीं थे, वे इतने ‘स्वतरूचालित’ और ‘विश्ववसनीय’ थे कि पाठकों को यह भ्रम हो जाता था कि ‘उनके पीछे कोई ‘चालकशक्ति’ भी है।’ उनके छोटे-से-छोटे पात्र भी पाठकों के मन में जम जाते हैं। निर्मल वर्मा ने ठीक कहा है कि रेणु की रचनाओं में ऊपर-ऊपर देखने से एक बिखराव दिखता है, लेकिन भीतर प्रविष्ट होने पर उसमें एक संगीतमय संगति महसूस होती है। ‘मैला आंचल’ जहाँ खत्म होता है, ‘परती : परिकथा’ वहाँ से शुरू होती है। ‘मैला आंचल’ में जो शेष रह जाता है, ‘परती : परिकथा’ में संपन्न होता है। ‘मैला आंचल’ की आशंका, ‘परती : परिकथा’ में सही सिद्ध होती है। जो आलोचक रेणु की किसी एक रचना में संगति की तलाश करते हैं, उन्हें यह उनके समग्र रचना-संसार में मिलेगा। उनके उपन्यास, कहानियाँ और रिपोर्टाज एक ही गीत की अलग-अलग धुनें हैं। निर्मल वर्मा ने रेणु को जिस अपनापे से याद किया है, वह चौकाता है। अठारह कलाकारों पर केंद्रित इस पुस्तक में उन्होंने रेणु को छोड़कर किसी के लिए भी यह नहीं लिखा कि ‘उसके न रहने से मुझे अपनी लिखने की दुनिया इतनी सूनी और सुनसान जान पड़ने लगेगी, मैंने कभी नहीं सोचा था’। उन पर लिखते हुए निर्मल वर्मा की लेखनी अक्सर भावावेग में छलक जाती है। ‘गवाँर गद्य’ लिखने वाले रेणु ने आखिर किस बिंदु पर हिंदी के इस अत्यंत संयत और सभ्रांत गद्य लेखक को छुआ था, अनुमान करना कठिन है। इस ‘संत लेखक’ के विषय में निर्मल वर्मा की ईमानदार स्वीकारोक्ति है कि, “मैं जिन लोगों को ध्यान में रखकर लिखता था उनमें रेणु सबसे प्रमुख थे।” (निर्मल वर्मा : 68)

मार्क्सवाद का वैचारिक प्रतिपक्ष रचने वाले निर्मल वर्मा से उम्मीद तो यह थी कि वे मुक्तिबोध के प्रति आलोचनात्मक और अज्ञेय के प्रति उदार होंगे, पर इन संस्मरणों में उलट ही दिखाई पड़ता है। ‘मुक्तिबोध की गद्यकथा’ में निर्मल वर्मा मुक्तिबोध की इस बात के लिए प्रशंसा करते हैं कि उन्होंने भारत के आम आदमी के जीवन के ‘अंडरग्राउंड’ सत्य को अपनी रचनाओं में प्रकट किया है। उनकी रचनाओं में जीवन और दर्शन तथा पात्र और भोक्ता के बीच की दीवार ढह गई है। वे भारतीय कस्बों में ऊब, घुट और तड़प रही जिंदगियों के कथाकार हैं। “मुक्तिबोध अकेले लेखक थे जिन्होंने एक कस्बाती भारतीय के आध्यात्मिक संकट को उसकी समस्त कमजोरियों, आत्मभ्रांतियों और बीहड़ दुरुस्वप्नों के बीच पकड़ा था- जो सिर्फ बाहरी यथार्थ की कहानी नहीं थी, बल्कि स्वयं उनकी आत्मा का निजी दस्तावेज था। यह एक कारण है कि हम उनकी कहानियों, निबंधों और डायरी के बीच कोई विभाजन-रेखा नहीं खींच सकते-उनका गद्य सब परंपरागत विधाओं को भेदता हुआ एक पैना, पीड़ित सोच बन जाता है।” (निर्मल वर्मा : 75) मुक्तिबोध के अंतर्द्वंद्व को मार्क्सवादी आलोचक रामविलास शर्मा ने ‘सिजोप्रेनिया’ कहा, लेकिन निर्मल वर्मा के लिए यह एक लेखकीय संकट था। मुक्तिबोध के भीतर सामूहिकता का दर्शन और व्यक्ति-अनुभव, आस्था और संदेह एवं आधुनिकता के स्वीकार और अस्वीकार का द्वंद्व सदैव चलता रहता था। मार्क्सवाद उनकी दार्शनिक जिज्ञासाओं और वैचारिक बिखरावों का शरणगाह था। आत्मचेतना से पनपी आत्मालोचना और उससे जनमे तीव्र आत्मसंघर्ष के कारण मुक्तिबोध आधुनिक रचनाकारों में विशिष्ट हैं।

धर्मवीर भारती की रचनाओं में ‘एक मुक्त करुणा का समावेश’ निर्मल वर्मा को सर्वाधिक प्रभावित करता है। यह करुणा प्रत्येक सांसारिक मनुष्य को अपने आगोश में लेने की क्षमता रखता है। साधु और शैतान के अंतर

को पाटकर उनके हृदयों में बैठे एक ही इंसान को बाहर लाना इसका उद्देश्य है। इस तरह की 'मुक्त करुणा' धर्मवीर भारती के साथ-साथ मंटो में भी थी। पर मंटो की करुणा जहाँ केवल उपेक्षित जनों के मन को टटोल पाई, वहीं भारती ने तथाकथित सभ्य लोगों के दिलों के अंधेरों में भी झाँका। भारती ने आधुनिकता और भारतीयता के संगम से निर्मित भारतीय समाज की परतों को भी खोला है। धर्मवीर भारती का भारत संक्रमणकालीन भारत था। वह पुनर्जागरणकालीन विचारधाराओं के चूकने और उस पर नए सिरे से विचार करने का भी वक्त था। जिस दिवास्वप्न के साथ आधुनिकता को दुनिया ने गले लगाया था, विश्वयुद्धों की कलिमा के नीचे वह ढँक गया। फासीवाद और मार्क्सवाद सगे भाई लगने लगे। मानवता दोनों के बीच पीसने लगी। धर्मवीर भारती ने विचारधारा की संकीर्ण सीमा से बाहर निकलने का खतरा उठाया और अपनी रचनाओं से संदेश दिया कि विचारधाराएँ मनुष्य के लिए हैं, न कि मनुष्य विचारधाराओं के लिए। स्वयं निर्मल वर्मा इसी राह के राही थे, सो भारती उन्हें बहुत पसंद आए, और अपनी सर्जना के पथ के सहयात्री लगे।

इस संग्रह में भीष्म साहनी और मलयज पर छोटे-छोटे दो संस्मरण हैं। 'चेहरे की स्मृति और स्मृति का चेहरा' में निर्मल वर्मा ने भीष्म साहनी के 'विरोधाभासों' और 'कलात्मक प्रमाणिकता' पर संदेह करते हुए भी 'मनुष्य जीवन के कठोर यथार्थ को अपनी कहानियों, कविताओं, उपन्यासों में प्रमाणिक विश्वसनीयता से व्यक्त' करने की प्रशंसा की है। भीष्म साहनी सर्जना के सघन क्षणों में विचारधारगत संकीर्णता को लौंघ जाते हैं। निर्मल वर्मा को लगता है कि "यदि यह कलात्मक विशेषता उनमें न होती, तो भीष्म अन्य 'प्रगतिशील' लेखकों की तरह सिर्फ सिद्धांतकार होते, हिंदी समाज के प्यारे, दुलारे लेखक नहीं।" (निर्मल वर्मा : 92) मलयज पर हिंदी जगत में कम बात हुई है। निर्मल वर्मा उन्हें हिंदी का मौलिक चिंतक मानते हैं, आधुनिकता और भारतीयता के द्वंद और आतंक से मुक्त चिंतक। मलयज का दुनिया से जल्दी चला जाना उन्हें सालता है। उन्हें लगता है कि 'आधे रास्ते पर मलयज' हिंदी साहित्य संसार से विदा हो गए और किसी अन्य में यह सामर्थ्य नहीं है कि वह मलयज के छोड़े कामों को पूरा कर सके। निर्मल जी का दावा है कि "आनेवाली पीढ़ी को आधुनिक साहित्य के मर्म को समझने के लिए जाने-अनजाने जमीन के उस टुकड़े पर चलना होगा, जिसे मलयज ने अपने मुखर चिंतन और अपूर्व निष्ठा से तैयार किया था।" (निर्मल वर्मा :106)

भाव-भाषा-परिवेश की वजह से निर्मल वर्मा पर पश्चिम से प्रभावित होने का आरोप लगता रहा है। पश्चिम से अप्रभावित रहने का दावा तो अब शायद ही कोई करे, लेकिन उससे दूरी बनाने की कोशिश प्रत्येक भारतीय विचारक करता रहा है। यूरोपीय उपनिवेशवाद से दीर्घकालिक संघर्ष के कारण, पश्चिम से बहुत सारा ग्रहण करने के बावजूद 'पश्चिम का प्रतिरोध' भारतीयता की एक अनिवार्य पहचान है। निर्मल वर्मा ने बहुत सारा जीवन यूरोप में बिताया, और बहुत सारा बोध पश्चिम से प्राप्त किया। लेकिन पश्चिम उनका प्यार नहीं, प्रतिपक्ष था। वे पश्चिम से संवाद करते हैं- हीनता और श्रेष्ठता-बोध की ग्रंथियों से मुक्त होकर। पश्चिम का जो श्रेष्ठ है, उसे संकोचहीन होकर वे स्वीकारते हैं, हालांकि उसके समक्ष भारत की महान चिंतन परंपरा को स्थापित करना ही उनका मूल लक्ष्य रहता है। बोर्खेस, नायपाल, नाबोकोव, रॉबर्ट ग्रिये, लैक्सनेस और चेखव इन सबने वर्चस्ववादी पश्चिमी से संवाद और संघर्ष करते हुए अपने आत्म को स्थापित किया है- उस आत्म को जो उनकी परंपरा के भीतर से जन्मा है, इसलिए ये सभी निर्मल वर्मा के सर्जना पथ के सहयात्री हैं।

'जादुई यथार्थवाद' के शुरुआती प्रयोग कर्ताओं में से एक स्पेनिश भाषा में लिखने वाले अर्जेन्टीना के जार्ज लुई बोर्खेस ने 'अतीत केवल शाश्वत वर्तमान का ही अंश है' जैसे समृद्ध दार्शनिक नजरिये की वजह से निर्मल वर्मा को आकर्षित किया। यहूदी बोर्खेस (24 अगस्त, 1899-14 जून, 1986) ने हिटलर और स्टालिन द्वारा समर्थित विचारधाराओं का समभाव से विरोध किया था। राज्य के अतिवादी वर्चस्व वाले मार्क्सवादी विचारधारा में व्यक्ति के अस्तित्व के नकार के विचार को बोर्खेस मृत्युपर्यंत स्वीकार नहीं कर पाए। उनका कहना था कि, 'मैं इस विचार के साथ पला-बढ़ा हूँ कि राज्य को कमजोर और व्यक्ति को मजबूत होना चाहिए। मैं भला एक ऐसी विचारधारा के लिए कैसे उत्साहित हो सकता हूँ जिसमें राज्य व्यक्ति से ज्यादा महत्वपूर्ण है।' इस विश्वप्रसिद्ध कहानीकार और

निबंधकार पर केंद्रित संस्मरण ‘मैं कहीं भटक गया हूँ’ में निर्मल वर्मा ने बोर्खेस को उनकी समृद्ध दार्शनिकता, यातनाग्रस्त जिज्ञासा, पर्दे के पीछे छुपी वास्तविकता की ओर रहस्यमयी संकेत की पवित्रता, इतिहास के नकार और वर्तमान के स्वीकार की भावना और इतिहास को स्मृति का एक हिस्सा मानने वाली दृष्टि की वजह से याद किया है। निर्मल वर्मा ने लिखा है कि, “दो तरह के लेखक होते हैं—एक वह जो इस दुनिया के हैं— होमर, टॉलस्टाय, टॉमस मानय दूसरे वह जो कब्र के पार से दूसरी दुनिया की खबरें हमारे पास लाते हैं—लजारस की तरह अंडरग्राउंड की अफवाहें हम तक पहुँचाते हैं...और हम इस दुनिया को दुसरी तरफ से देखने लगते हैं—दॉस्तोयेवस्की, काफ़्का और बोर्खेस ऐसे लेखक हैं।” (निर्मल वर्मा :116)

व्लादिमीर नाबोकोव (22 अप्रैल, 1899- 2 जुलाई, 1977) को दुनिया भर में ‘लोलिता’ के लेखक के रूप में जाना जाता है, पर वे एक पेशेवर अध्यापक भी थे। विशिष्ट अध्यापन-कला के कारण नाबोकोव ‘कार्नेल विश्वविद्यालय’ में बहुत लोकप्रिय थे। मृत्यु के बाद उनके नोट्स ‘लेक्चर्स ऑन लिटरेचर’ नाम से प्रकाशित और दुनिया भर में चर्चित हुए। नाबोकोव के लिए ‘साहित्य एक अविष्कार है’ और ‘किस्सा हमेशा किस्सा रहेगा’। कला के लिए तर्क और कॉमनसेंस की कोई जरूरत नहीं, जरूरत है तो ‘जादू’ रच देने वाली दृष्टि की। ‘प्लेबॉय’ पत्रिका से लंबे समय तक जुड़े रहने वाले नाबोकोव की समझ में ‘भेड़िया आया, भेड़िया आया’ का झूठ रचने वाला ‘लड़का छोटा सा जादूगर था, एक आविष्कारकर्ता, दुनिया का पहला कथाकार।’ सबसे निदृष्ट उपन्यास वह है जिसके नायक में हम अपने आप को देखने लगते हैं, और सबसे प्राणवान वह जिसमें ‘सिद्धांत नहीं, तफ़सीलें, डिटेल, छोटी-छोटी बातें’ और ‘सूक्ष्म ब्यौरे’ हों। नाबोकोव को ‘किसी महान उपन्यास से किसी देशकाल की सूचना प्राप्त करने की आशा रखना’ मूर्खतापूर्ण लगता है, और उनकी सलाह है कि किसी उपन्यास को जब भी पढ़ें दो-चार बार पढ़ें ताकि आप उसके अक्षरों से इतने परिचित हो जाएँ कि वह आपको एक पेंटिंग की मानिंद लगने लगे। ‘अंश हमेशा समग्र की अपेक्षा अधिक प्राणवान होता है’ की घोषणा करने वाले नाबोकोव को याद करते हुए निर्मल वर्मा ‘साहित्य-शिक्षक के रूप में नाबोकोव’ शीर्षक पुस्तक-समीक्षा में भावुक होकर लिखते हैं कि, “लेकिन जैसे वह लेखक को उसके कमरे में छोड़कर बाहर आ गए थे, हमें भी नाबोकोव को उनके क्लासरूम में छोड़कर चले आना चाहिए, इस अफ़सोस और ईर्ष्या के साथ कि एक जमाने में हम उनके छात्र नहीं थे, जिन्हें वह हर रोज साहित्य और कला के रहस्यमय, जादू-भरे मंत्र इतने प्यार और पागलपन के साथ समझाते थे।” (निर्मल वर्मा :131)

फ्रांसीसी लेखक और फिल्मकार एलन रॉब ग्रिये (18 अगस्त, 1922- 18 फरवरी, 2008) को साठ के दशक में यूरोप में चले ‘नव-उपन्यास’ आंदोलन का अगुआ माना जाता है। इनके पहले लिखित उपन्यास ‘A Regicide’ (1955) और पहले प्रकाशित उपन्यास ‘The Eraser’ (1953), दोनों ने ही नवीन शिल्प की वजह से यूरोप में तहलका मचा दिया था। नोबेल पुरस्कार के प्रमुख दावेदारों में से एक ग्रिये को यह पुरस्कार कभी मिल नहीं पाया क्योंकि उन्हें नोबेल समिति की शर्तें मंजूर नहीं थीय खासकर पुरस्कार मिलने के पहले ही स्वागत-भाषण लिख कर भेजने की शर्त। ‘समाजवादी’ देश चेक की राजधानी प्राग में आयोजित ‘रूपवादी’ ग्रिये के एक भाषण के दौरान निर्मल वर्मा उपस्थित थे और उसी अनुभव को उन्होंने ‘रॉब ग्रिये के साथ : एक शाम’ शीर्षक संस्मरण में वर्णित किया है। ग्रिये ने अपने भाषण की शुरुआत इस स्थापना के साथ की कि ‘नए उपन्यास में ‘नया’ कुछ नहीं है’, प्रत्येक उपन्यास अपने समय में नया ही होता है। हम ‘रूपवादी’ भी नहीं हैं क्योंकि किसी भी रचना में समय के अनुसार बदलाव ‘रूप’ में ही होता है, विषयवस्तु तो सदियों से लगभग समान ही है। हमारे लेखन का स्वीकार बस समय की बात है, ‘पचास वर्ष बाद शायद अन्य आलोचक अपने समकालीन लेखकों को यह राय देंगे कि उन्हें अपने उपन्यास रॉब ग्रिये की तरह लिखना चाहिए।’ नए उपन्यास को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि उसके पात्र बाल्जाक आदि की रचनाओं की तरह ‘एक खास नियति’ में नहीं बँधे हुए हैं; ‘उसमें पात्र और स्थितियाँ ‘ढले-ढलाये’ रूप में नहीं आतीं, वे ‘तैयार माल’ नहीं हैं—अपना सृजन वे स्वयं करती हैं। यही कारण है कि नए उपन्यास में समय की कोई सीमा नहीं— या दूसरे शब्दों में, वह ‘शाश्वत वर्तमान’ में जीवित है। वह कहीं से शुरू नहीं होता और उसका कहीं अंत नहीं होता, क्योंकि ‘वर्तमान के अलावा उसके पास समय का कोई आयाम नहीं है’। (निर्मल वर्मा :137)

उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि सत्य किसी भी लेखक की पकड़ से बाहर है इसलिए उपन्यास को लेखक की 'कल्पना' या 'जीवन-दर्शन' या 'साहित्यिकता' द्वारा 'दूषित' नहीं होना चाहिए, जैसा कि पुराने उपन्यासों में होता आया है। 'हमारे लिए यथार्थ लेखक से अलग है, बाहर और ठोस और जीवन-क्रिया से स्वयंचालित'। इसीलिए हम उसे अनेक पहलुओं में देखते हैं और हर पहलू की अन्तहीन सम्भावनाएँ हैं और हर सम्भावना सन्दिग्ध है। हम पुराने उपन्यासकारों की तरह यह नहीं कहते कि 'यह चीज इस तरह घटी थी।' हम कहते हैं – 'संभव है, वह इस तरह घटी हो, लेकिन वह दूसरी या तीसरी तरह भी घट सकती थी'। यही कारण है कि हमारे उपन्यासों में आपको कोई एक स्थिर या बना-बनाया केन्द्र-बिन्दु नहीं मिलेगा, क्योंकि वास्तव में ऐसा केंद्र-बिन्दु सिर्फ लेखक की मानसिक उपज है- यथार्थ में उसके लिए कोई जगह नहीं। अल्जीरियन युद्ध के विरोध-पत्र पर हस्ताक्षर करने वाले ग्रिये ने साहित्यकार की प्रतिबद्धता के विषय में कहा कि लेखक और नागरिक अलग-अलग हैं, 'उलझन उसी समय उत्पन्न होती है, जब हम इन दो कर्तव्यों को अलग-अलग तरह से नहीं स्वीकार कर पाते'। (निर्मल वर्मा :142)

नोबेल पुरस्कार विजेता आइसलैंड के लेखक हाल्डोर किल्जान लैक्सनेस (23 अप्रैल, 1902-8 फरवरी, 1998) के सबसे प्रसिद्ध उपन्यास 'Iceland's Bell' में आइसलैंड पर डेनिश प्रभुत्व के भीतर आकार ले रही राष्ट्रीय अस्मिता चित्रित है। लैक्सनेस का मानना है कि 'राजनीतिक प्रभुत्व और सांस्कृतिक प्रभाव साथ-साथ नहीं चलता', यह जरूरी नहीं कि राजनीतिक रूप से गुलाम बनाए गए राष्ट्र पर विजेता जाति अपना सांस्कृतिक प्रभुत्व भी स्थापित कर ले। आइसलैंड के साथ-साथ भारत भी इसका 'क्लासिकल' उदाहरण है। 'लैक्सनेस से साक्षात्कार' में लैक्सनेस ने बताया कि अन्य यूरोपीय लेखकों की तरह वे कभी 'अकेलेपन की पीड़ा' से ग्रसित नहीं हुए, अपनी सांस्कृतिक विरासत से गहरे जुड़े होने का शायद यह फायदा हो। वामपंथी लेखक के रूप में पहचाने जाने वाले लैक्सनेस को लगता है कि वर्तमान प्रचार युग में लेखक राजनीति का पिछलगू है और उसका कोई विशेष प्रभाव नहीं है। यह साक्षात्कार निर्मल वर्मा के इस विचार कि, 'सफल इंटरव्यू का लक्षण यही है कि उसे बहस की दलदल में न फँसने दिया जाए' के कारण नीरस हो गया है।

एंत्तोन चेखव और वी.एस नायपाल भारतीयों के लिए परिचित नाम हैं। चेखव को निर्मल वर्मा ने उनके पत्रों के बीच से खोज कर निकाला है और नायपाल को नोबेल पुरस्कार की आभा से बचकर परखने की कोशिश की है। निर्मल वर्मा को लगता है कि नायपाल के बारे में यह गलत धारणा बना दी गई है कि वे 'इस्लाम-विरोधी' लेखक हैं। वास्तव में, वे 'वस्तुगत और तटस्थ दृष्टि' वाले एक ऐसे लेखक हैं, जो 'अप्रिय या कठोर सत्य को व्यक्त करने में संकोच' नहीं करते। भारत के आधुनिक इतिहास लेखन में, खासकर मार्क्सवादी लेखकों द्वारा यह किया गया कि मुस्लिम आक्रमणकारियों के अत्याचारों के वर्णन के प्रति उदारता बरती गई, और हिंदू गाथाओं के साथ बहुत ज्यादा 'यथार्थपरक' नजरिया अपनाया गया। परिणाम यह हुआ कि कट्टर औरंगजेब 'उदार' हो गया और शिवाजी 'आक्रमणकारी'। इस्लाम की कट्टरता और कमियों की ओर ऊँगली दिखाने के कारण नायपाल इस्लाम-विरोधी हो गए, जबकि उन्होंने भारतीयों की अकर्मण्यता, आलस्य और गंदगी के विषय में भी बहुत कुछ लिखा है। निर्मल वर्मा को लगता है कि नायपाल 'साहित्य के सामयिक फैशनों से मुक्त' रचनाकार हैं। वे 'बीसवीं शताब्दी की विस्थापित आत्मा के सबसे सजीव प्रतीक रहे हैं' और शायद इसीलिए उनके पास एक 'निर्भय, निर्भीक कलात्मक अंतर्दृष्टि' है।

निर्मल वर्मा ने इस पुस्तक में पश्चिम के जितने भी लेखकों को अपने सर्जना पथ का सहायत्री माना है; एंत्तोन चेखव और हाल्डोर किल्जान लैक्सनेस को छोड़कर वे सभी मार्क्सवाद के विरोधी हैं। मानव-मन और समाज के मन का चेखव से बड़ा चित्रकार विश्व साहित्य में नहीं हुआ। चेखव की कहानियाँ पढ़ते हुए अचम्भा होता है कि देश-काल के इतने बड़े अंतराल को पाटता हुआ यह जादूगर अपने जादू में कैसे हमें शामिल कर लेता है। निर्मल वर्मा के इन संस्मरणों में लेखकों और लेखन-कर्म के प्रति गजब का आकर्षण, आदर और आसक्ति है, खासकर 'चेखव के पत्र' संस्मरण में। चेखव को पढ़कर कोई अभिभूत हुए बिना रह जाए, यह संभव नहीं; फिर इस अद्भुत शख्सियत को जानने की एक जबरदस्त तड़प मन में उठती है। चेखव के पत्र सुकून पैदा करते हैं। चेखव के पत्रों के बहाने पत्र विधा को स्पष्ट करते हुए निर्मल वर्मा लिखते हैं कि 'कला-कृति का निर्वैयक्तिक मौन, और डायरी का स्वकथ

(मोनोलॉग) इन दो सीमान्तों को पाटने की खातिर ही शायद पत्रों का आविष्कार हुआ होगा!’। चेखव के पत्रों को पढ़कर वर्मा जी को लगता है कि इनमें कहा कम और छुपाया अधिक गया है। उनकी कहानियों में भी ऐसा ही है। ऐसा लगता है कि उनको अपने पाठकों की समझ पर बहुत अधिक भरोसा था, और अपने आत्मीय लोगों पर भी। पत्र के अनकहे को जो न समझ पाए वह अपना कैसा, और ऐसे नासमझ को सब कुछ समझा देने का फायदा क्या? बहन को लिखे अपने अंतिम पत्र में चेखव ने बीमारी की जगह इस विषय पर अफसोस व्यक्त किया कि जर्मनी में उन्हें एक भी सुंदर स्त्री देखने को नहीं मिली। मृत्यु के आहत के बीच व्यक्त इस अफसोस में आजन्म सच्चे प्रेम को न पाने का अफसोस भी शामिल है, जिसे वे अपनी सबसे अच्छी ‘दोस्त’ से कह देना चाहते थे। इस पत्र को पढ़कर निर्मल वर्मा को लगता है कि चेखव को अल्प-आयु की आशंका थी, इसलिए वे ‘जिन्दगी के हर क्षण को पूरी तरह निचोड़कर भरपूर जी लेना चाहते थे’। चेखव की चिट्ठियाँ जिंदगी की सतही बातों के विषय में हैं, न तो इसमें उनकी रचनाओं के विषय में कुछ मिलता है, न व्यक्तिगत जीवन के संकटों-सुखों के विषय में, और न ही वैवाहिक जीवन की ट्रेजडी के विषय में। अपने लेखन के प्रति चेखव में ‘एक अजीब-सी वितृष्णा और असंतोष का भाव’ था। उनके आलोचक उनकी कहानियों की ‘विश्रुंखलता, निष्कर्षहीनता और निरुद्देश्यता’ के कारण उन्हें एक ‘लक्ष्यहीन’ लेखक मानते थे, चेखव ने अपने पत्रों में इसको लेकर अनिश्चय का भाव व्यक्त किया है। पर ऐसा है नहीं। चेखव के पत्रों की तरह ही उनकी कहानियों में भी एक जबरदस्त ‘अंडर-टोन’ है, जो किसी ‘शाश्वत सत्य’ के प्रकटीकरण का दावा नहीं करता। उनकी कहानियाँ और पत्र दोनों ही जीवन की छोटी-छोटी बातों में मानव जीवन के उस सत्य को उजागर करते हैं, जो दशकों से सारी दुनिया का मार्गदर्शन कर रहे हैं।

भारत के तीन प्रसिद्ध चित्रकारों मकबूल फिदा हुसैन, रामकुमार और जगदीश स्वामीनाथन पर केंद्रित तीन अध्याय चित्रकला की बारीकियों की निर्मल वर्मा की समझ को प्रकट करते हैं। हुसैन के जीवन और पेंटिंग्स का मेल कैसे उनकी आत्मकथा में उतरता है, उसका जादुई वर्णन निर्मल वर्मा ने किया है। हुसैन की कला का सौंदर्य उसके तफसीलों में हैय जैसे जीवन के किसी दृश्य में कोई चीज नहीं छूटती, हुसैन के चित्रों में भी कुछ भी शेष नहीं रह जाता। तभी तो हुसैन की आत्मकथा पढ़ते हुए निर्मल वर्मा को उनके बहुतेरे चित्र याद आते हैं। कहानी लेखन से सृजनात्मक जीवन आरंभ करने वाले चित्रकार रामकुमार के चित्रों में लगभग पचास वर्षों के अंतराल में मनुष्य का जीवन संघर्ष उपस्थित है। साम्यवाद से प्राप्त दृष्टि की वजह से वे जीवन के यथार्थ को ज्यादा बेहतर तरीके से देख सके। स्वामीनाथन निर्मल जी को इसलिए पसंद हैं क्योंकि उनके चित्रों में गणितीय सूत्रों की तरह सुंदरता और तारतम्यता का अद्भुत संयोग विद्यमान है।

साहित्यकारों के जीवन पर केंद्रित संस्मरण अक्सर उनके साहित्यिक संसार से फिसलकर उनके निजी जीवन की ओर सरक जाते हैं। यह सरकन उनके साहित्यिक व्यक्तित्व के उचित आकलन में अवरोध पैदा करता है। एक रचनाकार का सबकुछ उसकी रचना है। घर चलाने के लिए कर्ज लेने वाले या पर-स्त्री के प्रति आसक्त व्यक्ति के प्रति पाठक में उतनी जिज्ञासा नहीं होती, जितनी इन सब के भीतर से जीवन का सच उजागर करने वाले लेखक के करिश्मे के प्रति होती है। निर्मल वर्मा इस अंतर को बखूबी समझते थे, “यहाँ सबसे पहले मैं उस भ्रांति की ओर संकेत करना चाहूँगा, जिसे एक अर्से से हमारे आलोचकों ने पोषित किया है- वह है किसी लेखक की उपस्थिति या प्रभाव को उसके विचारों या विश्वासों में खोजना, जबकि सत्य यह है कि साहित्य में किसी लेखक के विश्वास उसकी रचनाओं से अलग कोई हैसियत नहीं रखते।” (निर्मल वर्मा :12) इसीलिए ‘सर्जना पथ के सहयात्री’ संस्मरण जैसा है, पर संस्मरण नहीं है। संस्मरण का रागात्मक लगाव तो इसमें है पर जीवनी लेखक सी निर्व्यक्तता भी है।

रचनाओं के माध्यम से निर्मित लेखक की छवि और व्यक्तिगत सीमाओं में घिरे लेखक के बीच खड़े इंसान की टोह इस रचना की सबसे बड़ी उपलब्धि है। महान रचना महान व्यक्ति की निर्मिति हो यह आवश्यक नहीं, पर वह किसी व्यक्ति को महान बना देने की क्षमता रखती है। निर्मल वर्मा ने जिस भी साथी को याद किया है उसको समग्रता में याद किया है। उन्होंने उन्हीं को अपना सहयात्री माना है जो सोच और समझ दोनों स्तरों पर उनके समान हो। उन्होंने अपने विरोधी, चाहे वह विचार के स्तर पर हो या व्यवहार के स्तर पर, को अपना सहयात्री बताने का

जोखिम नहीं उठाया है, जबकि आपके समर्थक आपकी सर्जना के पथ के जितने बड़े सहयात्री होते हैं उससे कम आपके विरोधी नहीं। कहना तो यह चाहिए कि ज्ञान की दुनिया में विरोधी विचारों ने ही विकास की वास्तविक राह दिखाई है, चाहे वह मनुष्य का विकास हो या विश्व का।

निर्मल वर्मा ने अपने समय के साथ सार्थक संवाद तो किया ही है, साथ ही उनके साथ भी संवाद किया है जिन्होंने उनके समय को निर्मित किया है। संवाद मानवीय जीवन की गतिशीलता को गढ़ता है। संवाद जीवन और साहित्य दोनों के लिए जरूरी है। साहित्यकार अपनी कृतियों के माध्यम से दोतरफा संवाद करता है, एक अपने आप से और एक अन्य से। अन्य से किया जाने वाला संवाद काल और स्थान का अतिक्रमण करता है तो अपने आप से किया जाने वाला संवाद स्व की सीमा को लाँघता है। वह हमारे आत्म का विस्तार करता है, और स्व और पर के अंतर को समाप्त कर देता है। कहीं निर्मल वर्मा ने लिखा है कि “संवाद हम दूसरों से करते हैं-दूसरों के लिए नहीं, स्वयं अपने को पहचानने के लिए। इसलिए वह आत्मा की जरूरत है। इसलिए वह स्वार्थ और परमार्थ से ऊपर उठकर जीने की अनिवार्य शर्त और मर्यादा बन जाता है।” और भी एक जगह वे लिखते हैं कि “संवाद आत्मा की जरूरत है। हम अपनी आँखों से अपने को नहीं देख सकते, लेकिन दूसरों को देख सकते हैं और हम में यह आशा बँधती है कि हम भी उन्हीं की तरह होंगे। वे दूसरे हमारा, हमारी देह और आत्मा का, आईना सा बन जाते हैं। एक-दूसरे को देखने की प्रक्रिया में ‘शब्द’ का जन्म हुआ होगा। वह ‘मैं’ भी है, ‘दूसरा’ भी। शब्द संवाद का माध्यम नहीं, हमारे होने का साक्षी भी है। हमारे होने का रहस्य उसके भीतर निहित है। इसलिए शब्द शुरू हुए थे।” (रमेशचंद्र शाह : 88)

‘सर्जना पथ के सहयात्री’ एक संवाद है, अपने उन सहयात्रियों के साथ जिन्होंने निर्मल वर्मा को निर्मल वर्मा से मिलाया, या कहें बनाया।

हिंदी विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

संदर्भ :

1. निर्मल वर्मा (2008), ‘सर्जना पथ के सहयात्री’, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली
2. रमेशचंद्र शाह (2009), ‘निर्मल वर्मा : एक सहयात्री’, शबनम पुस्तक महल, कटक, चयन एवं संपादन- छबिल कुमार मेहेर

देशज ज्ञान की राजनीति एवं संभावनाएं

चन्द्रशेखर पाण्डेय, वरुण कुमार उपाध्याय

देशज ज्ञान की पृष्ठभूमि और संदर्भ

देशज ज्ञान देशज लोगों द्वारा पीढ़ियों से विकसित अद्वितीय और सांस्कृतिक रूप से आधार भूत ज्ञान प्रणालियों को संदर्भित करता है, जिसमें प्राकृतिक पर्यावरण, पारंपरिक प्रथाओं और सामाजिक संरचनाओं की उनकी गहरी समझ शामिल है। इसमें पारंपरिक चिकित्सा, कृषि, संसाधन प्रबंधन, आध्यात्मिकता और आख्यान सहित कई आयाम शामिल हैं। देशज ज्ञान देशज संस्कृतियों में अंतर्निहित है, जो उनके ऐतिहासिक, पारिस्थितिक और सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भों को दर्शाता है (बर्कस, 2012)।

देशज ज्ञान प्रणालियों ने सदियों से देशज समुदायों को बनाए रखा है, तथा लचीलापन, अनुकूलनशीलता और टिकाऊ प्रथाओं को बढ़ावा दिया है। हालांकि, मुख्य धारा के समाज में इन ज्ञान प्रणालियों को अक्सर हाशिए पर रखा गया है और उन का मूल्यांकन नहीं किया गया है। औपनिवेशिक संरचनाओं और मुख्य धारा के आरोपण ने जीवन के देशज तरीकों को बाधित किया, जिसके परिणाम स्वरूप देशज ज्ञान का क्षरण और दमन हुआ (बैटिस्टे, 2013)।

देशज ज्ञान की राजनीति को समझने का महत्व

सामाजिक न्याय, सांस्कृतिक संरक्षण और सतत विकास की खोज में देशज ज्ञान के आस पास की राजनीति को समझना सर्वोपरि है। देशज ज्ञान की राजनीति सत्ता की गत्यात्मकता, प्रतिनिधित्व और देशज अधिकारों और आत्म निर्णय के लिए चल रहे संघर्ष के इर्द-गिर्द घूमती है। देशज ज्ञान की राजनीति कानूनी, शैक्षिक और शासन प्रणालियों के भीतर देशज ज्ञान की मान्यता, संरक्षण और उपयोग को सीधे प्रभावित करती है। इसमें देशज समुदायों, राज्य और अंतर्राष्ट्रीय संगठनों के बीच संबंधों का विश्लेषण करना और यह पता लगाना शामिल है कि कैसे शक्ति संरचनाएं देशज ज्ञान के निर्माण और व्याख्या को प्रभावित करती हैं (टर्नर, 2016)। इसके अलावा, देशज ज्ञान की राजनीति को समझने से ज्ञान प्रणालियों के निरूपवेशीकरण में योगदान मिलता है। देशज ज्ञान की राजनीति की समझ प्रमुख प्रतिमानों और मुख्यधारा के ज्ञान को चुनौती देती है, कई ज्ञान प्रणालियों की विविधता और वैधता को स्वीकार करती है, और ज्ञान उत्पादन और प्रसार के लिए अधिक समावेशी और न्याय संगत दृष्टिकोण को बढ़ावा देती है (बैटिस्टे, 2013; स्मिथ, 2012)।

अध्ययन का उद्देश्य

इस अध्ययन का शोध उद्देश्य देशज ज्ञान की राजनीति और देशज समुदायों, नीति-निर्माण और ज्ञान उत्पादन के लिए इसके निहितार्थ की जांच करना है। देशज ज्ञान और राजनीति के बीच सत्ता की गतिशीलता, प्रतिनिधित्व और अंतर्संबंधों की खोज करके, इस शोध का उद्देश्य परिवर्तन के लिए चुनौतियों, अवसरों और संभावित मार्गों पर प्रकाश डालना है।

सैद्धांतिक ढांचा

I. देशज ज्ञान की परिभाषा

देशज ज्ञान जटिल और समग्र ज्ञान प्रणालियों को संदर्भित करता है जो देशज समुदायों के भीतर पीढ़ी दर पीढ़ी विकसित और प्रसारित किया गया है। इसमें पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान, सांस्कृतिक प्रथाओं, आध्यात्मिक विश्वासों, औषधीय उपचारों और शासन प्रणालियों (बर्कस, 2012; मैकग्रेगर, 2004) सहित ज्ञान आयामों की एक विस्तृत श्रृंखला शामिल है। देशज ज्ञान देशज लोगों और उनके प्राकृतिक पर्यावरण के बीच संबंधों में गहराई से निहित है, पारिस्थितिक अंतर्संबंधों और सतत विकास के लिए संसाधन प्रबंधन (टर्नर, 2016) की गहन समझ को समेटे हुए है।

II. देशज ज्ञान की राजनीति

देशज ज्ञान की राजनीति शक्ति गति की और प्रतियोगिता के इर्द-गिर्द घूमती है। सत्ता की गत्यात्मकता या शक्ति गतिकी देशज ज्ञान की मान्यता, उपयोग और संरक्षण को आकार देती है। औपनिवेशिक और प्रमुख शक्ति संरचनाओं के कारण देशज ज्ञान ऐतिहासिक रूप से हाशिए पर, दबा हुआ है और इसका अवमूल्यन किया गया है (बैटिस्टे, 2013)। देशज ज्ञान की राजनीति में आत्म निर्णय, सांस्कृतिक स्वायत्तता, और देशज समुदायों के अपने ज्ञान से नियंत्रण और लाभ के अधिकार के लिए संघर्ष शामिल हैं (बौरोज, 2010)।

देशज ज्ञान की राजनीति के केंद्र में देशज स्व-शासन और बाहरी शासन प्रणालियों के बीच होने वाला संघर्ष है। राज्य की नीतियाँ, कानूनी ढाँचे, और बौद्धिक संपदा व्यवस्थाएँ अक्सर देशज ज्ञान प्रणालियों को पहचानने और समायोजित करने में विफल रहती हैं, जिससे देशज समुदायों का हाशिए पर रहना जारी रहता है (फोर्सिथ एंड वॉकर, 2008)। देशज ज्ञान की राजनीति में अंतरराष्ट्रीय संगठनों और अंतर-सरकारी प्रक्रियाओं की जटिलताओं को स्वीकार करना भी शामिल है जो देशज ज्ञान (अग्रवाल, 1995) के संवाद और मान्यताओं को प्रभावित करते हैं।

औपनिवेशिक विरासत का मूल्यांकन

देशज ज्ञान की राजनीति को आकार देने में शक्ति गतिकी एक केंद्रीय भूमिका निभाती है। उपनिवेशवाद की विरासत ने देशज समुदायों और उनकी ज्ञान प्रणालियों पर स्थायी प्रभाव छोड़ा है। औपनिवेशीकरण ने ज्ञान और शासन की बाहरी प्रणालियों को लागू किया जो अक्सर देशज ज्ञान का अवमूल्यन और दमन करता था (स्मिथ, 2012)। प्रमुख प्रतिमान के रूप में पश्चिमी वैज्ञानिक ज्ञान को लागू करने से देशज ज्ञान को “पारंपरिक” या “लोकगीत” (कैजेटे, 2000) के रूप में हाशिए पर रखकर, शक्ति असंतुलन को उत्पन्न किया गया और कायम रखा गया। शक्ति असंतुलन विभिन्न तरीकों से प्रकट होता है, जैसे निर्णय लेने की प्रक्रियाओं में सीमित देशज प्रतिनिधित्व, असमान संसाधन आवंटन, और ज्ञान उत्पादन और प्रसार का नियंत्रण (टर्नर, 2016)। देशज समुदायों को अक्सर राजनीतिक व्यवस्थाओं के भीतर अपने अधिकारों और दृष्टिकोणों पर जोर देने में चुनौतियों का सामना करना पड़ता है जो प्रमुख समाज के हितों को प्राथमिकता देते हैं। इसलिए, देशज ज्ञान की राजनीति को सत्ता संरचनाओं की आलोचनात्मक जांच की आवश्यकता होती है और उन प्रक्रियाओं के विश्लेषण की भी आवश्यकता प्रतीत होती है जिन से वे औपनिवेशिक विरासत को कायम रखते हैं या चुनौती देते हैं (अल्फ्रेड, 2009)।

III. देशज ज्ञान और राजनीति का प्रतिच्छेद -

देशज ज्ञान राजनीति के साथ गहराई से जुड़ा हुआ है, क्योंकि यह न केवल पारंपरिक प्रथाओं और पारिस्थितिक ज्ञान को शामिल करता है बल्कि सामाजिक संगठन, शासन संरचनाओं और सांस्कृतिक पहचान को भी सम्मिलित करता है। देशज ज्ञान और राजनीति की अंतःक्रियात्मकता यह स्वीकार करती है कि देशज अधिकारों, आत्म निर्णय और सांस्कृतिक अस्तित्व के लिए व्यापक संघर्ष के हेतु देशज ज्ञान की मान्यता और संरक्षण आवश्यक है (उधार, 2010)। देशज ज्ञान प्रणालियाँ भूमि अधिकार, प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन और पर्यावरण संरक्षण जैसे

मुद्दों पर देशज लोगों के दृष्टिकोण को व्यक्त करती हैं (मैकग्रेगर, 2004)। देशज ज्ञान के राजनीतिक निहितार्थ स्थानीय समुदायों से परे हैं, जो सतत विकास, जलवायु परिवर्तन शमन और अनुकूलन, और जैव विविधता संरक्षण (बर्कस, 2012) पर नीतिगत संवादों को प्रभावित करते हैं। इसके अलावा, देशज ज्ञान और राजनीति का मिलन बिंदु रूपान्तरकारी परिवर्तन की संभावना पर प्रकाश डालता है। देशज ज्ञान को मान्यता देना और उसका सम्मान करना प्रमुख ज्ञान प्रणालियों को चुनौती दे सकता है, निरौपवेशीकरण के प्रयासों में योगदान दे सकता है, और शासन, अनुसंधान और नीति-निर्माण के लिए अधिक समावेशी और न्याय संगत दृष्टिकोण को बढ़ावा दे सकता है (बैटिस्टे, 2013; स्मिथ, 2012)।

अंत में, देशज ज्ञान की राजनीति के सैद्धांतिक ढांचे को समझने के लिए देशज ज्ञान की परिभाषा और व्यापकता की जांच करने, शक्ति गतिशीलता और औपनिवेशिक विरासत की खोज करने की आवश्यकता है जो इसकी मान्यता को प्रभावित करती है, और देशज ज्ञान और राजनीति के प्रतिच्छेदन पर चर्चा करती है। देशज ज्ञान में प्राकृतिक पर्यावरण, सांस्कृतिक प्रथाओं और शासन प्रणालियों की एक समग्र समझ शामिल है जो देशज समुदायों के भीतर विकसित और प्रसारित की गई है। हालाँकि, देशज ज्ञान की राजनीति ने अक्सर शक्ति असंतुलन और औपनिवेशिक विरासत को कायम रखते हुए इसे हाशिए पर डाल दिया है और इसका अवमूल्यन कर दिया है। शक्ति की गतिशीलता देशज ज्ञान की मान्यता, उपयोग और संरक्षण को प्रभावित करती है। उपनिवेशवाद ने ज्ञान और शासन की बाहरी प्रणालियों को लागू किया जिसने देशज ज्ञान का अवमूल्यन किया और दमन दिया, साथ ही साथ पश्चिमी वैज्ञानिक प्रतिमानों को विशेषाधिकार दिया। नतीजतन, देशज समुदायों को राजनीतिक व्यवस्थाओं के भीतर अपने अधिकारों और दृष्टिकोणों पर प्रकाश डालने में चुनौतियों का सामना करना पड़ता है जो मुख्य धारा के समाज को प्राथमिकता देते हैं।

देशज ज्ञान और राजनीति की अंतःक्रियात्मकता यह स्वीकार करती है कि देशज अधिकारों, आत्म निर्णय और सांस्कृतिक अस्तित्व के लिए व्यापक संघर्ष के लिए देशज ज्ञान की मान्यता और संरक्षण आवश्यक है। देशज ज्ञान भूमि अधिकारों, प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन और पर्यावरण संरक्षण पर दृष्टिकोण को सूचित करता है तथा सतत विकास, जलवायु परिवर्तन और जैव विविधता संरक्षण पर नीतिगत बहस को दिशा देता है।

देशज ज्ञान की राजनीति को समझना रूपान्तरकारी परिवर्तन के अवसर प्रदान करता है। देशज ज्ञान को मान्यता और सम्मान देकर, यह प्रमुख मुख्यधारा की ज्ञान प्रणालियों को चुनौती देता है और निरौपवेशीकरण के प्रयासों में योगदान देता है। यह शासन, अनुसंधान और नीति-निर्माण के लिए अधिक समावेशी और न्यायसंगत दृष्टिकोण को भी बढ़ावा देता है। देशज ज्ञान की राजनीति के सैद्धांतिक ढांचे की जांच करने से देशज ज्ञान और राजनीति के बीच सत्ता की गतिशीलता, औपनिवेशिक विरासत और अंतः क्रियात्मकता में अंतर्दृष्टि मिलती है। देशज ज्ञान के हाशियाकरण को संबोधित करने और देशज समुदायों के अधिकारों, स्वायत्तता और सांस्कृतिक अखंडता का सम्मान करने वाले तरीकों से इसकी मान्यता, उपयोग और संरक्षण की वकालत करने के लिए यह समझ महत्वपूर्ण है। इस जटिल गतिशीलता के साथ जुड़कर, हम एक अधिक समावेशी और न्याय संगत समाज में योगदान कर सकते हैं जो विविध ज्ञान प्रणालियों को महत्व देता है और देशज लोगों के साथ स्थायी और न्यायपूर्ण संबंधों को बढ़ावा देता है।

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

I. देशज ज्ञान के ऐतिहासिक आचरण का अवलोकन

देशज ज्ञान का एक समृद्ध और विविध इतिहास है जो उपनिवेशवाद से पहले का है। दुनिया भर के देशज समुदायों ने भूमि, पर्यावरण और उनकी सांस्कृतिक प्रथाओं के साथ उनके घनिष्ठ संबंधों के आधार पर परिष्कृत ज्ञान प्रणाली विकसित की। ये ज्ञान प्रणालियाँ उनकी परंपराओं, मौखिक इतिहास, और अंतर-पीढ़ीगत संचरण (बर्कस, 2012; काजेटे, 2000) में गहराई से अंतर्निहित थीं।

यूरोपीय उपनिवेशवादियों के आगमन और उपनिवेशीकरण के बाद के युग का देशज ज्ञान प्रणालियों पर गहरा प्रभाव पड़ा। उपनिवेशवादियों ने अक्सर देशज ज्ञान को हीन, आदिम और अपनी स्वयं की विश्वदृष्टि के साथ असंगत के रूप में देखा। उन्होंने पश्चिमी विज्ञान और ईसाई धर्म जैसे ज्ञान की अपनी प्रणालियों को लागू किया, देशज ज्ञान को कम करके और इसके सम्मान को कम कर दिया (स्मिथ, 2012)। औपनिवेशिक नीतियों और प्रथाओं का उद्देश्य देशज संस्कृतियों का दमन या आत्मसात करना, पारंपरिक ज्ञान को मिटाना और पश्चिमी विचारधाराओं को थोपना था। इसके कारण भूमिका नुकसान, विस्थापन, सांस्कृतिक व्यवधान और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक देशज ज्ञान के प्रसारण में महत्वपूर्ण गिरावट आई (बैटिस्ट, 2013; मैकग्रेगर, 2004)। पूरे इतिहास में, देशज ज्ञान को दबाने या हाशिए पर रखने के सचेत और नियोजित प्रयास किए गए हैं। उपनिवेशवादियों ने अक्सर देशज ज्ञान को अंधविश्वास, लोककथाओं या पिछड़ी प्रथाओं के रूप में खारिज कर दिया। देशज भाषाओं, मौखिक परंपराओं और सांस्कृतिक प्रथाओं को सुनियोजित रूप से हतोत्साहित या प्रतिबंधित किया गया था, जिससे देशज ज्ञान प्रणालियों के आधार मिट रहे थे (अग्रवाल, 1995)। शैक्षिक प्रणालियों में, पश्चिमी दृष्टिकोणों पर केंद्रित पाठ्यक्रम के साथ, देशज ज्ञान को बाहर रखा गया था या गलत तरीके से प्रस्तुत किया गया था। शिक्षा और नीति-निर्माण में पश्चिमी ज्ञान प्रणालियों के प्रभुत्व ने देशज ज्ञान को हाशिये पर धकेल दिया, व्यापक समाज में इसकी मान्यता और योगदान को सीमित कर दिया (बोरोज, 2010)।

देशज ज्ञान का पुनरोदय

सदियों से हाशिए पर होने के बावजूद, देशज ज्ञानका हाल के वर्षों में पुनरुत्थान हुआ है। देशज समुदायों और सामाजिक कार्यकर्ताओं ने अपने ज्ञान प्रणालियों के मूल्य को पुनः प्राप्त करने, पुनर्जीवित करने और सम्मान दिलाने में प्रमुख भूमिका निभाई है। पर्यावरणीय स्थिरता, जलवायु परिवर्तन और सामाजिक न्याय जैसी समकालीन चुनौतियों को संबोधित करने में देशज ज्ञान के महत्व की बढ़ती मान्यता रही है (टर्नर, 2016)।

देशज ज्ञान के लिए समर्पित सामाजिक कार्यकर्ताओं और संगठनों ने कानूनी कार्रवाइयों, अंतर्राष्ट्रीय मंचों और जमीनी आंदोलनों सहित विभिन्न माध्यमों से देशज ज्ञान की मान्यता और संरक्षण की वकालत की है। देशज ज्ञान धारक और विद्वान प्रमुख आख्यानों को चुनौती देने और विविध संदर्भों में देशज ज्ञान की प्रासंगिकता और प्रयोज्यता का प्रदर्शित करने के लिए अनुसंधान, प्रलेखन और ज्ञान विनिमय पहलों में लगे हुए हैं (मैकग्रेगर, 2004)। देशज ज्ञान के पुनरुत्थान से यह बात समझ में आती है कि समर्पण, क्रियाशीलता और निरंतर प्रयासों से देशज समुदायों ने अपने ज्ञान प्रणाली के दावे को मजबूत किया है और उसे फिर से वापस पाया है। यह वैश्विक चुनौतियों को दूर करने और सांस्कृतिक विविधता को बढ़ावा देने के लिए देशज ज्ञान के मूल्य और महत्व को स्वीकार करने की दिशा में एक बदलाव का प्रतीक है।

अंत में, देशज ज्ञान का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य देशज ज्ञान प्रणालियों पर उपनिवेशवाद के प्रभावों को प्रकट करता है, जिसमें देशज ज्ञान का दमन और हाशियाकरण शामिल है। हालाँकि, यह अपने ज्ञान को पुनः प्राप्त करने और पुनर्जीवित करने में देशज समुदायों के पुनरुत्थान और सक्रियता को भी स्वीकार करता है। देशज ज्ञान के लचीलेपन को स्वीकार करने और समकालीन समाज में इसकी मान्यता, संरक्षण और सार्थक एकीकरण की दिशा में काम करने के लिए इस ऐतिहासिक संदर्भ को समझना महत्वपूर्ण है।

I. शक्ति संरचनाएं और प्रतिनिधित्व

देशज ज्ञान राजनीति को प्रभावित करने वाली शक्ति संरचनाओं का विश्लेषण

देशज ज्ञान की राजनीति शक्ति संरचनाओं से गहराई से प्रभावित होती है जो इसकी मान्यता, उपयोग और संरक्षण को आकार देती है। समाजों और संस्थानों के भीतर शक्ति असंतुलन मौजूद है, जो देशज समुदायों और बाहरी अभिकर्ताओं, जैसे कि सरकारों, शिक्षाविदों और गैर-सरकारी संगठनों के बीच अन्योन्य प्रभाव को व्यक्त

करता है। इन शक्ति संरचनाओं का विश्लेषण करने से देशज ज्ञान को प्रभावित करने वाली अंतर्निहित शक्तियों को समझने में मदद मिलती है (कॉर्नटासेल, 2008)।

शक्ति असंतुलन के परिणामस्वरूप अक्सर देशज ज्ञान हाशिए पर चला जाता है और बहिष्कृत हो जाता है। प्रमुख ज्ञान प्रणालियां और विश्वदृष्टि, औपनिवेशिक विरासत में निहित हैं और ये देशज ज्ञान की वैधता और प्रासंगिकता को कमजोर कर सकती हैं (टक एंड यांग, 2012)। देशज ज्ञान की मान्यता और सशक्तिकरण में बाधा डालने वाली संरचनात्मक बाधाओं की पहचान करने और उन्हें चुनौती देने के लिए शक्ति गति की को समझना आवश्यक है (वाटकिन्स एंड डोमिंगो, 2020)।

II- राज्य की नीतियों और कानूनी ढांचे का प्रभाव

देशज ज्ञान की राजनीति को आकार देने में राज्य की नीतियां और कानूनी ढांचे महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ऐतिहासिक रूप से, कई सरकारें देशज ज्ञानको पर्याप्त रूप से पहचानने और संरक्षित करने में विफल रही हैं। इसके बजाय, उन्होंने उन नीतियों को लागू किया है जो देशज अधिकारों, भूमि कार्यकाल और संसाधनों पर नियंत्रण को कम करती हैं (स्मिथ, 2012)। बौद्धिक संपदा कानूनों और विनियमों सहित कानूनी ढांचे, अक्सर देशज समुदायों के अधिकारों और स्वायत्तता की उपेक्षा करते हुए, बाहरी अभिनेताओं के हितों को प्राथमिकता देते हैं (बेनेट, 2010)। यह देशज ज्ञानधारकों के लिए अपने ज्ञान के उपयोग को नियंत्रित करने और लाभ उठाने की चुनौती पैदा करता है, जिससे शोषण और सांस्कृतिक दुरुपयोग होता है (अस्टिन और नोवेल्ला, 2019)। राज्य की नीतियों और कानूनी ढांचों की जांच उन अंतरालों और पूर्वाग्रहों की पहचान करने में मदद कर सकती है जो शक्ति असंतुलन को बनाए रखते हैं और देशज ज्ञान की मान्यता में बाधा डालते हैं।

अंतर्राष्ट्रीय संगठन देशज ज्ञान के प्रवचन और मान्यता को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वे देशज मुद्दों के वैश्विक शासन और देशज ज्ञान राजनीति को प्रभावित करने वाली नीतियों और दिशानिर्देशों के निर्माण में योगदान करते हैं। अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की भागीदारी को समझने से देशज ज्ञान की मान्यता और संरक्षण पर वैश्विक शक्ति गतिकी के प्रभाव का विश्लेषण करने में मदद मिलती है (अग्रवाल, 2008)। संयुक्त राष्ट्र और इसकी विशेष एजेंसियों जैसे अंतर्राष्ट्रीय संगठनों ने देशज अधिकारों, सांस्कृतिक विविधता और सतत विकास को बढ़ावा देने के लिए पहल और रूप रेखाएँ विकसित की हैं। हालाँकि, इन वैश्विक प्रतिबद्धताओं को स्थानीय स्तर पर प्रभावी नीतियों और प्रथाओं में बदलने में चुनौतियाँ बनी हुई हैं (बनर्जी और अन्य, 2019)। अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की भूमिकाओं और कार्यों का विश्लेषण वैश्विक संदर्भ में देशज ज्ञान राजनीति की जटिलताओं पर प्रकाश डालता है। देशज ज्ञान की राजनीति को संबोधित करने के लिए निर्णय लेने की प्रक्रियाओं में देशज लोगों का प्रतिनिधित्व और भागीदारी महत्वपूर्ण है। इसकी सार्थक भागीदारी से देशज समुदायों को नीतियों और कार्यक्रमों को आकार देने में उनके अधिकारों, दृष्टिकोणों और आकांक्षाओं को शामिल किया जा सकता है (ट्रॉस्पर, 2003)। हालाँकि, देशज प्रतिनिधित्व और भागीदारी अक्सर सीमित या सांकेतिक होती है, और यह देशज ज्ञान की पूर्ण मान्यता और समावेश में बाधा डालती है। शक्ति असंतुलन और ऐतिहासिक रूप से होने वाला हाशियाकरण देशज समुदायों के लिए नीतिगत परिणामों को प्रभावित कर सकते हैं (कॉर्नटासेल, 2012)। देशज प्रतिनिधित्व और भागीदारी की सीमा की जांच शक्ति गतिशीलता को बदलने और शासन प्रक्रियाओं में देशज ज्ञान की मान्यता को बढ़ावा देने के लिए चुनौतियाँ और अवसरों में अंतर्दृष्टि प्रदान करती है। देशज ज्ञान की राजनीति में शक्ति गतिशीलता और प्रतिनिधित्व महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। शक्ति संरचनाओं, राज्य नीतियों, अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की भूमिकाओं और देशज प्रतिनिधित्व का विश्लेषण करने से उन अंतर्निहित कारकों को समझने में मदद मिलती है जो देशज ज्ञान की मान्यता और उपयोग को आकार देते हैं। शक्ति असंतुलन को संबोधित करके और सार्थक भागीदारी को बढ़ावा देकर, देशज ज्ञान को फलने-फूलने और स्थायी और न्यायपूर्ण समाज में योगदान देने के लिए अधिक समावेशी और न्यायसंगत स्थान बनाना संभव है।

बौद्धिक संपदा अधिकार और देशज ज्ञान

बौद्धिक संपदा अधिकारों (आईपीआर) का देशज ज्ञान पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। आईपीआर कानूनी ढांचे हैं जो व्यक्तियों या संस्थाओं को उनकी रचनाओं या नवाचारों पर विशेष अधिकार प्रदान करते हैं। हालाँकि, ये ढाँचे अक्सर देशज समुदायों द्वारा रखे गए पारंपरिक ज्ञान को मान्यता देने और संरक्षित करने में विफल हैं (बैनिस्टर, 2018)। आईपीआर प्रणाली के द्वारा पारंपरिक ज्ञान का वस्तुकरण उचित लाभ-साझाकरण तंत्र के बिना देशज ज्ञान का दुरुपयोग, सांस्कृतिक विनियोग और शोषण का कारण बन सकता है (ग्वेवरमोंट, 2010)। आईपीआर के सन्दर्भों में देशज ज्ञान को मान्यता और संरक्षण देने की अंतर्दृष्टि की कमी शक्ति असंतुलन को कायम रख सकती है और देशज समुदायों को हाशिए पर डाल सकती है (डटफील्ड और सुथेरसेन, 2017)। पारंपरिक ज्ञान की रक्षा की कई चुनौतियाँ हैं। एक प्रमुख चुनौतीपूर्व सूचित सहमति और ज्ञान के स्रोत का खुलासा करने की आवश्यकता का मुद्दा है। देशज ज्ञान अक्सर सामूहिक होता है और समुदायों के बीच साझा किया जाता है, जिससे आईपीआर के व्यक्तिवादी ढांचे के भीतर फिट होना मुश्किल हो जाता है (रीचमैनएटअल, 2019)। इसके अलावा, पारंपरिक ज्ञान अक्सर मौखिक रूप से प्रसारित होता है, जिससे स्वामित्व साबित करना और पूर्व कला स्थापित करना चुनौतीपूर्ण हो जाता है। मौजूदा पेटेंट प्रणाली, जो लिखित प्रलेखन और नवाचारी आवश्यकताओं पर बल देती है, देशज ज्ञान की प्रकृति के अनुरूप नहीं हो सकती है (हेरमैन, 2018)। इसके अतिरिक्त, आईपीआर प्रणाली की उच्च लागत और जटिलता देशज समुदायों की अपने ज्ञान की रक्षा करने की क्षमता को सीमित कर सकती है (कोम्बे, 2018)। हालाँकि, पारंपरिक ज्ञान के संरक्षण के पर्याप्त अवसर हैं। पारंपरिक कानून और सामुदायिक प्रोटोकॉल समुदाय के भीतर ही देशज ज्ञान की सुरक्षा के लिए वैकल्पिक व्यवस्था प्रदान कर सकते हैं (पोसी, 2004)। देशज समुदायों के साथ सहभागी अनुसंधान साझेदारी और मुख्य धारा के संगठनों के बीच लाभ-साझाकरण समझौते भी देशज समुदायों के लिए अपने ज्ञान के उपयोग और प्रसार पर नियंत्रण बनाए रखने के अवसर पैदा कर सकते हैं (एडम्सव अन्य, 2016)।

बौद्धिक संपदा अधिकार विमर्श को दिशा देने में देशज समुदायों की भूमिका का विश्लेषण

देशज समुदाय बौद्धिक संपदा अधिकारों और पारंपरिक ज्ञान पर संवाद को दिशा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वे सक्रिय रूप से अपने ज्ञान प्रणालियों की मान्यता और संरक्षण की वकालत करने में लगे हुए हैं (सिम्पसन, 2014)। देशज समुदायों ने पारंपरिक ज्ञान की रक्षा और वग बंधन के लिए अपने स्वयं के प्रोटोकल, दिशा निर्देश और सिस्टम विकसित कर के अपने ज्ञान पर नियंत्रण हासिल करने की मांग की है (कर्मटासेलएंडवशर, 2018)। वे नीतिगत चर्चाओं में भी शामिल रहे हैं और यह सुनिश्चित करने के लिए कि उनके दृष्टिकोण और अधिकारों को ध्यान में रखा गया है, वे राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय निकायों के साथ जुड़ रहे हैं (स्वीडर्सकाव अन्य, 2019)। देशज-पहल युक्त प्रयास, जैसे कि देशज बौद्धिक संपदा अधिकार कानून दिशा निर्देश की आवश्यकता है जिससे कि देशज मूल्यों, सामूहिक अधिकारों के साथ साथ ज्ञान के ऊपर समुदाय का स्वामित्व भी सुनिश्चित किया जा सके। इस प्रकार के प्रयासों से देशज समुदाय बौद्धिक संपदा के संवाद को दिशा प्रदान कर सकता है (मैकके एंड स्विडर्सका, 2018)।

देशज ज्ञान और पर्यावरण संरक्षण

देशज ज्ञान ने लंबे समय से पारिस्थितिक तंत्रों और उनके जटिल संबंधों की गहरी समझ प्रदर्शित की है। देशज समुदायों के पास पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान है जो पीढ़ियों से विकसित और परिष्कृत किया गया है। यह ज्ञान प्रथाओं, विश्वासों और मूल्यों को शामिल करता है जो पर्यावरण के साथ सतत अंतर्क्रिया को बढ़ावा देते हैं (बर्कस, 2012)। देशज ज्ञान और पर्यावरण संरक्षण के बीच संबंध देशज संस्कृतियों के समग्र विश्व दृष्टि में निहित हैं। देशज ज्ञान मानव और प्रकृति के बीच अन्योन्याश्रितता को पहचानता है तथा संसाधनों के उपयोग में संतुलन

और सामंजस्य की आवश्यकता पर जोर देता है (टर्नर, 2016)। यह जैव विविधता संरक्षण, भूमि प्रबंधन, जलवायु अनुकूलन और प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण में अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है (बर्कस, 2012)।

सतत संसाधन प्रबंधन पर देशज ज्ञान का दृष्टिकोण

I- सतत संसाधन प्रबंधन में देशज दृष्टिकोण का योगदान इस बात में है कि देशज ज्ञान परस्परता, देशज ज्ञान प्रणालियाँ अक्सर समुदाय-आधारित शासन, सामूहिक निर्णय लेने और दीर्घकालिक प्रथाओं पर जोर देती हैं जो पारिस्थितिक तंत्र और मानव समुदायों दोनों के दीर्घ कालिक कल्याण को सुनिश्चित करता है (काजेट, 2000)। घूर्णी खेती, चयनात्मक कटाई, और प्रजातियों के जीवन चक्रों के पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान जैसे कार्य देशज लोगों के पारिस्थितिक गतिशीलता की गहरी समझ को दर्शाते हैं और स्थायी संसाधन प्रबंधन में योगदान करते हैं (मैकग्रेगर, 2004)।

II- पर्यावरण नीतियों में देशज ज्ञान को एकीकृत करने के लिए चुनौतियों और अवसरों का विश्लेषण देशज ज्ञान को पर्यावरण नीतियों में एकीकृत करना चुनौतियों और अवसरों दोनों को प्रस्तुत करता है। एक प्रमुख चुनौती औपचारिक शासन प्रणालियों के भीतर देशज ज्ञान की पहचान और मान्यता है। पश्चिमी वैज्ञानिक प्रतिमान अक्सर नीति-निर्माण प्रक्रियाओं पर हावी हो जाते हैं तथा देशज ज्ञान प्रणालियों और उनके योगदानों को हाशिए पर डाल देते हैं (कर्नटासेल, 2008)। भाषा अवरोध, शक्ति असंतुलन और संस्थागत पूर्वाग्रह देशज समुदायों और नीति निर्माताओं के बीच प्रभावी सहयोग में बाधा बन सकते हैं। इसके अतिरिक्त, देशज ज्ञान का मानकीकरण और संहिता करण इसके संदर्भ-विशिष्ट और गतिशील प्रकृति (टर्नर, 2016) के कारण चुनौतीपूर्ण हो सकता है।

हालांकि, पर्यावरणीय नीतियों में देशज ज्ञान को एकीकृत करने के अवसर मौजूद हैं। देशज समुदायों के अद्वितीय दृष्टिकोण और योगदान की मान्यता ने विश्वस्तर पर अपने छिटफुट प्रयासों से ध्यान आकर्षित किया है। सहभागिता आधारित प्रयास और सिद्धांत, जैसे सह-प्रबंधन व्यवस्था और सहभागी अनुसंधान, समावेशी निर्णय लेने की प्रक्रियाओं पर बल देते हैं जो देशज ज्ञानका एक मौलिक सिद्धांत है (फोर्सिथ और वॉकर, 2008)।

चुनौतियाँ और अवसर

देशज ज्ञान को राजनीति की कई चुनौतियों का सामना करना पड़ता है जो इसकी मान्यता, सशक्तिकरण और नीतिगत निर्णय लेने की प्रक्रियाओं में शामिल होने में बाधा डालती हैं। कुछ प्रमुख चुनौतियों में निम्न सम्मिलित हैं :-

I- **हाशियाकरण और शक्ति असंतुलन** : मुख्यधारा की ज्ञान प्रणालियों के द्वारा देशज ज्ञान को अक्सर हाशिए पर रखा जाता है और इसका सही मूल्यांकन नहीं किया जाता है, जिसके परिणामस्वरूप शक्ति असंतुलन होता है जो असमानताओं को बनाए रखता है और देशज दृष्टिकोणों की पूर्णमान्यता को नकारात्मक रूप से प्रभावित करता है।

II- **कानूनी संरक्षण का अभाव**:- मौजूदा कानूनी ढांचे अक्सर देशज ज्ञान की अपूर्ण रक्षा करते हैं, जिससे यह गलत उपयोग, शोषण और बाहरी बाजारी कारकों द्वारा अनधिकृत उपयोग के लिए विवश हो जाता है।

III- **संस्थागत बाधाएं** : सरकारी तंत्रों के अंतर्गत नौकरशाही और संस्थागत बाधाएं देशज समुदायों के सार्थक प्रतिभाग और नीतिगत निर्णयों की प्रक्रियाओं में प्रतिनिधित्व को व्यवस्थित रूप से प्रभावित कर सकते हैं।

IV- **सीमित संसाधन और क्षमता** : देशज समुदायों को अक्सर संसाधनों की कमी का सामना करना पड़ता है और अपने ज्ञान का दावा करने, दस्तावेजीकरण और वकालत के प्रयासों में पूरी तरह से संलग्न होने के लिए आवश्यक वित्तीय, तकनीकी और संस्थागत संसाधनों तक पहुंचकी कमी होती है।

चुनौतियों के बावजूद, देशज ज्ञान के सशक्तिकरण और मान्यता के पर्याप्त अवसर हैं :

I- **सहयोगात्मक भागीदारी** : देशज समुदायों, शिक्षाविदों, सरकारों और अन्य हितधारकों के बीच सहयोगी साझेदारी का निर्माण ज्ञान विनिमय, क्षमता निर्माण और देशज ज्ञान का सम्मान और एकीकरण करने वाली नीतियों और कार्यक्रमों के सह-निर्माण के अवसर पैदा कर सकता है।

II- **समुदाय-नेतृत्व वाली पहल** : देशज समुदायों को उनके ज्ञान प्रणालियों के प्रलेखन, संरक्षण और पुनरोद्धार के लिए अपनी स्वयं की पहल को विकसित करने और नेतृत्व करने के लिए सशक्त बनाना आत्म निर्णय को बढ़ावा दे सकता है। इससे यह सुनिश्चित किया जा सकता है कि देशज प्रतिनिधित्व निर्णय लेने की प्रक्रिया में उचित रूप से सम्मिलित हो।

III- **अंतर्राष्ट्रीय प्लेटफार्म और नेटवर्क** देशज मुद्दों पर संयुक्त राष्ट्र स्थायी फोरम और क्षेत्रीय देशज नेटवर्क जैसे अंतर्राष्ट्रीय प्लेटफार्म के साथ जुड़ना, वकालत, ज्ञान-साझाकरण और वैश्विक नीतियों और एजेंडा को प्रभावित करने के अवसर प्रदान करता है।

IV- **देशज अधिकारों की मान्यता** : जैसा कि अंतरराष्ट्रीय घोषणाओं और सम्मेलनों में निहित है, देशज लोगों के अधिकारों को बनाए रखना और उनका सम्मान करना, एक ऐसे वातावरण के निर्माण के लिए आवश्यक है जो देशज ज्ञान को मान्यता देता है और उसकी संवर्धन करता है।

ज्ञान प्रणालियों के निरूपवेशीकरण और राजनीतिक परिदृश्य के पुनर्सृजन की सम्भावना :

देशज ज्ञान की राजनीति, ज्ञान प्रणालियों के उपनिवेशवाद को समाप्त करने और राजनीतिक परिदृश्य को फिर से रूपांतरित करने के लिए एक मार्ग प्रदान करती है :

I- **औपनिवेशिक विरासत की पहचान करना**: देशज ज्ञान प्रणालियों पर उपनिवेशवाद के ऐतिहासिक अन्याय और प्रभावोंको पहचानना और उनका निदान करना एक गैर-औपनिवेशिक दृष्टिकोण को बढ़ावा देने तथा विविध ज्ञान प्रणालियों के सह-अस्तित्व के लिए महत्वपूर्ण है।

II- **देशज ज्ञान मीमांसाओं को केन्द्र में रखना** : ज्ञान और सह-अस्तित्व के देशज तरीकों को अपनाने और महत्व देने से प्रमुख यूरोसेंट्रिक ज्ञान प्रतिमानों को चुनौती दी जा सकती है और विविध ज्ञान प्रणालियों को निर्णय लेने की प्रक्रियाओं में एकीकृत करने के नए आयाम विकसित किये जा सकते हैं।

III- **पारस्परिकता और सीखना** : देशज और गैर-देशज ज्ञान प्रणालियों के बीच पारस्परिक अधिगम और आपसी सम्मान को प्रोत्साहित करने से ज्ञान के सह-निर्माण की संभावना बढ़ती है और मिलती है जो विभिन्न दृष्टिकोणों को सहभागी बना सकता है और सामाजिक और पर्यावरणीय न्याय को बढ़ावा दिया जा सकता है।

IV- **नीतिगत सुधार** : नीतियों और कानूनी ढांचे में सुधार, दमनकारी संरचनाओं को समाप्त करने और अधिक समावेशी और न्यायपूर्ण राजनीतिक परिदृश्य को बढ़ावा देकर देशज ज्ञान की मान्यता, संरक्षण और न्याय संगत उपचार सुनिश्चित किया जा सकता है।

निष्कर्ष

इस शोध आलेख ने देशज ज्ञान की राजनीति के विभिन्न आयामों पर प्रकाश डाला है। इसमें देशज ज्ञान के ऐतिहासिक आचरण, उपनिवेशीकरण के प्रभाव और इसके दमन और हाशियाकरण के प्रयासों का उद्घाटन किया गया है। शक्ति गतिशीलता, प्रतिनिधित्व और बौद्धिक संपदा अधिकारों के विश्लेषण ने देशज ज्ञान को पहचानने और उसकी रक्षा करने में आने वाली चुनौतियों और अवसरों पर प्रकाश डाला है। इसके अतिरिक्त, देशज ज्ञान और पर्यावरण राजनीति के बीच संबंधों की खोजने स्थायी संसाधन प्रबंधन में पारंपरिक ज्ञान को एकीकृत करने के महत्व पर बल दिया है। इस शोध के निष्कर्षों का नीतियों, उनके क्रियान्वयन और भविष्य के शोध के लिए महत्वपूर्ण निहितार्थ हैं। सबसे पहले, नीति निर्माताओं और निर्णयकर्ताओं को देशज ज्ञान प्रणालियों के मूल्य को पहचानने और उनका सम्मान करने की आवश्यकता है। नीतियों को देशज समुदायों के सहयोग से विकसित और कार्यान्वित किया जाना चाहिए, जिससे निर्णय लेने की प्रक्रिया में उनकी सार्थक भागीदारी और प्रतिनिधित्व

सुनिश्चित हो सके। इसके अलावा, देशज ज्ञान के लिए पर्याप्त सुरक्षा प्रदान करने और समान लाभ-साझा करण व्यवस्था सुनिश्चित करने के लिए कानूनी ढांचे को संशोधित किया जाना चाहिए। व्यवहारिक रूप से, देशज समुदायों को उनके ज्ञान प्रणालियों के प्रलेखन, संरक्षण और पुनरोद्धार में सशक्त बनाने के प्रयास किए जाने चाहिए। देशज समुदायों, सरकारों, शिक्षाविदों और अन्य हित धारकों के बीच सहयोगात्मक साझेदारी युक्त पर्यावरण नीतियों, संसाधन प्रबंधन प्रथाओं और सतत विकास पहलों में देशज ज्ञान के एकीकरण को बढ़ावा दिया जा सकता है।

देशज ज्ञान की राजनीति की जटिलताओं का पता लगाने के लिए भविष्य में इस क्षेत्र में पर्याप्त शोध की संभावनाओं पर विचार किया जा सकता है। इसमें देशज ज्ञान राजनीति में शक्ति, प्रतिनिधित्व और अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की भूमिका की गतिशीलता का अन्वेषण किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, इस क्षेत्र में देशज ज्ञान की मान्यता और संरक्षण के लिए नवीन दृष्टिकोणों की पहचान करने के साथ-साथ ज्ञान प्रणालियों को उपनिवेशित करने और राजनीतिक परिदृश्य को पुनर्सृजित करने की प्रक्रियाओं पर अनुसंधान को बढ़ावा दिया जाना चाहिए।

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
वर्धा, महाराष्ट्र

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
वर्धा, महाराष्ट्र

संदर्भ :

- Agrawal, A. (1995) *Dismantling the divide between indigenous and scientific knowledge- Development and Change*, 26(3), 413-439.
- Alfred, T. (2009). *Colonialism and state dependency- In J- B- Waldram, A- Herring, & T. K. Young (Eds.), Aboriginal Health in Canada: Historical, Cultural, and Epidemiological Perspectives (pp- 51-63). University of Toronto Press.*
- Alfred, T.(2009). *Wasáse: Indigenous pathways of action and freedom- Broadview Press.*
- Battiste, M. (2013). *Decolonizing education: Nourishing the learning spirit. Purich Publishing.*
- Berkes, F. (2012). *Sacred ecology: Traditional ecological knowledge and resource management (3rd ed.). Routledge.*
- Berkes, F. (2012). *Sacred ecology: Traditional ecological knowledge and resource management (3rd ed.). Routledge.*
- Borrows, J.(2010). *Canada's indigenous constitution- University of Toronto Press.*
- Cajete, G. (2000). *Native science: Natural laws of interdependence. Clear Light Publishers.*
- Corntassel, J. (2008). *Re-envisioning resurgence: Indigenous pathways to decolonization and sustainable self&determination- Decolonization: Indigeneity] Education & Society*, 7(1), 1-40.
- Forsyth, T., & Walker] A. (2008). *Forest guardians, forest destroyers: The politics of environmental knowledge in Northern Thailand-. University of Washington Press.*
- Forsyth, T., & Walker, A. (2008). *Forest guardians, forest destroyers: The politics of environmental knowledge in northern Thailand. University of Washington Press.*
- Lu, F. E., Li, H., Li, Y., Frank, K., & Liu, S. (2017). *Indigenous peoples' resource rights and the environment: A critical assessment of the Dongria Kondh's legal mobilization against mining in Niyamgiri] India- Journal of Environmental Management] 197(Pt 1), 256-264.*
- McGregor, D. (2004). *Traditional ecological knowledge and sustainable development: Towards*

- coexistence*. In D. McGregor (Ed.), *Traditional ecological knowledge and sustainable development: Towards coexistence* (pp- 3-16). Center for Resource and Environmental Studies, Australian National University.
- McGregor] D. (2004). *Traditional ecological knowledge and sustainable development: Towards coexistence*- *Canadian Journal of Native Education*, 28(1/2), 12-21.
- Ministry for the Environment- (2018). *Mātauranga Māori and science*- New Zealand Government- Retrieved from <https://www.mfe-govt-nz/publications/about&us/maori/matauranga&maori&and&science>
- Smith, L.-T.(2012). *Decolonizing methodologies: Research and indigenous peoples* (2nd ed-). Zed Books.
- Turner, N. J. (2016). *Ancient pathways] ancestral knowledge: Ethnobotany and ecological wisdom of indigenous peoples of Northwestern North America*- McGill&Queen's University Press.

सामाजिक न्याय : भारतीय परिप्रेक्ष्य में एक वैचारिक अध्ययन

नेहा निरंजन

प्रस्तावना :-

सामाजिक न्याय (Social justice) की अवधारणा एक ऐसी अवधारणा है जो सभी मनुष्यों को समान मानने के आग्रह पर आधारित है। इसके अनुसार किसी के साथ सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक पूर्वाग्रहों के आधार पर भेदभाव नहीं होना चाहिए। हर किसी के पास इतने न्यूनतम संसाधन होने चाहिए, जिससे कि व्यक्ति 'उत्तम जीवन' की अपनी संकल्पना को पूर्ण कर सके। सामाजिक न्याय की आधुनिक अवधारणा, का विकास, पुनर्जागरण और सुधारकाल के बाद हुआ। "ऑन द इम्प्रूवमेंट ऑफ द अंडरस्टैंडिंग" (1677) में बारूक स्पिनोजा ने तर्क दिया कि जीवन का एक सच्चा उद्देश्य "एक मानव चरित्र को अपने, से कहीं अधिक स्थिर होना" प्राप्त करना होना चाहिए, (B Spinoza, On the Improvement of the Understanding (1677) pera 13) प्रबुद्धता के दौरान और फ्रांसीसी और अमेरिकी क्रांतियों का जवाब देते हुए, थॉमस पेन ने इसी तरह द राइट्स ऑफ मैन (1792) में लिखा था। समाज को "प्रतिभा को एक निष्पक्ष और सार्वभौमिक मौका देना चाहिए" और इसलिए "सरकार का निर्माण ऐसा होना चाहिए जो पिछली पंक्ति में खड़े हुए व्यक्तियों को आगे लाए ..." (T Paine, Rights of Man (1792) 197)

सामाजिक न्याय की संकल्पना समाज में व्याप्त न्याय की विभिन्न अवधारणाओं में से एक है अतः हमें सामाजिक न्याय से पूर्व न्याय की अवधारणा को समझना होगा क्योंकि विश्व की लगभग सभी सभ्यताओं और संस्कृतियों ने न्याय की व्याख्या अलग-अलग तरीके से की है। न्याय 'शब्द अंग्रेजी के justice' शब्द का हिन्दी अनुवाद है, जो लैटिन भाषा के Jus' से बना है, जिसका अर्थ है- 'बाँधना' या 'जोड़ना'। इस प्रकार न्याय का व्यवस्था से स्वाभाविक सम्बन्ध है, क्योंकि न्याय उस व्यवस्था का नाम है जो व्यक्तियों, समुदायों तथा समूहों को एक सूत्र में बाँधती है। किसी व्यवस्था को बनाए रखना ही न्याय है, क्योंकि कोई भी व्यवस्था किन्हीं तत्वों को एक-दूसरे के साथ जोड़ने के बाद ही बनती अथवा पनपती है।

मेरियम के अनुसार, "न्याय उन मान्यताओं तथा प्रक्रियाओं का योग है जिनके माध्यम से प्रत्येक व्यक्ति को वे सभी अधिकार तथा सुविधाएँ प्राप्त होती हैं जिन्हें समाज उचित मानता है।"

डी.डी. रैफल का मत है कि "न्याय द्विमुख है, जो एक साथ अलग-अलग चेहरे दिखलाता है। वह विधिक भी है और नैतिक भी। उसका संबंध सामाजिक व्यवस्था से है और उसका सरोकार जितना व्यक्तिगत अधिकारों से है उतना ही सामुहिक अधिकारों से भी है।... वह रूढ़िवादी (अतीत की ओर अभिमुख) है, लेकिन साथ ही सुधारवादी (भविष्य की ओर अभिमुख) भी है।"

प्राचीन भारतीय समाज में न्याय, धर्म के साथ जुड़ा था और धर्म या न्यायोचित सामाजिक व्यवस्था कायम रखना राजा का प्राथमिक कर्तव्य माना जाता था। चीन के दार्शनिक कन्फ्यूशियस का तर्क था कि गलत

करने वालों को दंडित कर और भले लोगों को पुरस्कृत कर राजा को न्याय कायम रखना चाहिए। इस विचार के अनुसार न्याय में हर व्यक्ति को उसका वाजिब हिस्सा देना शामिल हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्रतिभा के विकास और लक्ष्यों की पूर्ति के लिए समान अवसरों का अधिकारी हैं। न्याय के लिए जरूरी है कि हम तमाम व्यक्तियों को समुचित और बराबर की अहमियत दें लेकिन विभिन्न स्तरों में बटे समाज में यह संभव नहीं हैं। (चौबे, कमल नयन, (अनु.), समकालीन राजनीति-दर्शन : एक परिचय, दिल्ली, पियर्सन, 2013।

किसी भी सभ्य समाज/राज्य के लिए 'न्याय' बेहद अहम होता है। न्याय समाज को कई बुराइयों और गैर-सामाजिक तत्वों से दूर रखने के साथ-साथ लोगों के नैतिक और नागरिक अधिकारों की रक्षा भी करता है, लेकिन समाज में फैली असमानता और भेदभाव ने आज सामाजिक न्याय की मांग को और अधिक आवश्यक बना दिया है। आधुनिक समाज में यह एक समस्या है कि हर व्यक्ति को उसके सम्पूर्ण अधिकार कैसे दिए जाएँ? इस सम्बन्ध में सामाजिक स्तर पर कई सिद्धांत प्रचलित हैं जैसे-

समान लोगों के प्रति समान व्यवहार :

मनुष्य होने के नाते सभी व्यक्तियों में कुछ समान चारित्रिक विशेषताएँ होती हैं इसीलिए वे समान अधिकार और समान बर्ताव के अधिकारी हैं। उदारवादी लोकतंत्र में जीवन, स्वतंत्रता और संपत्ति के अधिकार जैसे नागरिक अधिकारों को शामिल किया गया है। साथ ही इसमें समाज के सभी सदस्यों को समान अवसरों का उपभोग करने का सामाजिक अधिकार और मताधिकार जैसे राजनीतिक अधिकार भी दिए गए हैं। अतः समान अधिकारों के साथ-साथ समकक्षों के साथ समान व्यवहार का सिद्धांत भी जरूरी है, ताकि लोगों के साथ वर्ग, जाति, नस्ल या लिंग के आधार पर भेदभाव न किया जाए, व्यक्तियों को उनके काम और कार्यकलापों के आधार पर जाँचा जाए, न कि जाति, धर्म या किसी अन्य समुदाय के सदस्य के आधार पर।

(<https://ncert.nic.in/textbook/pdf/khps104.pdf>)

समानुपातिक न्याय

सबके लिए समान अधिकार की दौड़ के साथ-साथ लोगों को उनके प्रयास के पैमाने और अर्हता के अनुपात में भी पुरस्कृत किया जाना चाहिए। यद्यपि लोगों को समान काम का समान दाम मिलना चाहिए, लेकिन किसी काम के लिए वांछित मेहनत, कौशल, संभावित खतरे आदि कारकों को ध्यान में रखते हुए अलग-अलग काम के लिए अलग-अलग पारिश्रमिक का निर्धारण उचित और न्यायसंगत होगा क्योंकि कई बार ऐसी परिस्थितियाँ भी हो सकती हैं जिसमें हम महसूस करें कि हर एक के साथ समान बर्ताव अन्याय होगा। उदाहरण के लिए, अगर आपके स्कूल में यह फैसला किया जाय, कि परीक्षा में शामिल होने वाले सभी लोगों को बराबर अंक दिए जाएँगे, क्योंकि सब एक ही स्कूल के विद्यार्थी हैं और सबने एक ही परीक्षा दी है, तो यह गलत होगा अतः यहाँ यह उचित होगा कि छात्रों को उनकी उत्तर-पुस्तिकाओं की गुणवत्ता और संभव हो तो इसके लिए उनके द्वारा किए गए प्रयास के अनुसार अंक दिए जाएँ। दूसरे शब्दों में, समाज में न्याय के लिए समान बरताव के सिद्धांत का समानुपातिकता के सिद्धांत के साथ संतुलन बिठाने की जरूरत है। (<https://ncert.nic.in/textbook/pdf/khps104.pdf>)

विशेष जरूरतों का विशेष ख्याल

न्याय के जिस तीसरे सिद्धांत को हम समाज के लिए मान्य करते हैं, वह पारिश्रमिक या कर्तव्यों का वितरण करते समय लोगों की विशेष जरूरतों का ख्याल रखने का सिद्धांत। इसे सामाजिक न्याय को बढ़ावा देने का तरीका माना जा सकता है। समाज के सदस्यों के रूप में लोगों की बुनियादी हैसियत और अधिकारों के लिहाज से न्याय के लिए यह जरूरी हो सकता है, कि लोगों के साथ समान बर्ताव किया जाय, लेकिन, लोगों के बीच भेदभाव न करना और उनकी मेहनत के अनुपात में उन्हें पारिश्रमिक देना भी यह सुनिश्चित करने के लिए शायद पर्याप्त न हो, कि समाज में अपने जीवन के अन्य संदर्भों में भी लोग समानता का उपभोग करें ताकि समाज समग्र रूप से न्यायपूर्ण हो जाए। लोगों की विशेष जरूरतों को ध्यान में रखने का सिद्धांत समान बरताव के सिद्धांत को अनिवार्यता खंडित

नहीं, बल्कि उसका विस्तार ही करता है क्योंकि समकक्षों के साथ समान बरताव के सिद्धांत में यह अंतर्निहित है, कि जो लोग कुछ महत्वपूर्ण संदर्भों में समान नहीं हैं, उनके साथ भिन्न ढंग से बरताव किया जा सकता है। विशेष जरूरतों या विकलांगता वाले लोगों को कुछ खास मामलों में असमान और विशेष सहायता के योग्य समझा जा सकता है, लेकिन इस पर सहमत होना हमेशा आसान नहीं होता, कि लोगों को विशेष सहायता देने के लिए उनकी किन असमानताओं को मान्यता दी जाय। (<https://ncert.nic.in/textbook/pdf/khps104.pdf>)

कभी-कभी सरकारें न्याय के उपरोक्त तीनों सिद्धांतों के बीच सामंजस्य बिठाने में कठिनाई महसूस कर सकती है। समान बरताव के सिद्धांत पर अमल कभी-कभी योग्यता को उचित प्रतिफल देने के खिलाफ खड़ा हो सकता है। योग्यता को पुरस्कृत करने को न्याय का प्रमुख सिद्धांत मानने का अर्थ यह होगा कि हाशिये पर खड़े तबके कई क्षेत्रों में वंचित रह जायेंगे, क्योंकि अच्छे पोषाहार और अच्छी शिक्षा जैसी सुविधाओं तक उनकी पहुँच नहीं हो पाती है। ऐसी स्थिति में सरकार की जिम्मेदारी बन जाती है कि वह एक न्यायपरक समाज को बढ़ावा देने के लिए न्याय के विभिन्न सिद्धांतों के बीच सामंजस्य स्थापित करें। न्याय के इन सिद्धांतों में सामंजस्य बिठाते हुए राज्य सामाजिक न्याय को कायम करने का प्रयास करता है।

सामाजिक न्याय :- सामाजिक न्याय की संकल्पना बहुत व्यापक है जिसके अन्तर्गत 'सामान्य हित' के मानक से सम्बन्धित सभी कुछ आ जाता है जो अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा से लेकर निर्धनता और निरक्षरता के उन्मूलन तक सभी पहलुओं को इंगित करता है। यह न केवल विधि के समक्ष समानता और न्यायपालिका की स्वतंत्रता से सम्बन्धित है, बल्कि इसका सम्बन्ध उन कुत्सित सामाजिक कुरीतियों जैसे जात-पात, छुआछूत एवं दरिद्रता, बीमारी, बेकारी और भुखमरी आदि को दूर करने से भी है जिसकी तीसरी दुनिया के विकासशील देशों पर गहरी चोट पड़ी है अर्थात् सामाजिक न्याय एक ऐसे न्यायपूर्ण समाज की स्थापना पर बल देता है जिसमें सामाजिक-आर्थिक विषमताएँ न्यूनतम हों, समाज 'समावेशी' हो और संसाधनों का वितरण सर्वमान्य स्वीकृति के आधार पर हो।

(<https://www.sdfoundation.org>)

नागरिक, नागरिक के बीच सामाजिक स्थिति के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव न किया जाए और प्रत्येक व्यक्ति को विकास के पूर्ण अवसर सुलभ हों। सामान्यतः सामाजिक न्याय का उद्देश्य एक ऐसी व्यवस्था की स्थापना करने से है जिसमें समाज के असुरक्षित, उपेक्षित, दलित एवं हाशिए पर स्थित लोगों तथा महिलाओं को समाज की मुख्य धारा से जोड़ा जा सके। इस उद्देश्य की ओर संकेत करते हुये रूसो ने कहा है-“कोई व्यक्ति इतना अमीर न हो कि वह दूसरे व्यक्ति के जीवन पर नियंत्रण करे, और न ही कोई व्यक्ति इतना निर्धन हो कि वह स्वयं को बेचने के लिए बाध्य हो जाए।” दाधीच, नरेश, समसामयिक राजनीतिक सिद्धान्त, जयपुर, रावत पब्लिकेशन्स, 2015

यद्यपि सामाजिक न्याय के विचार को विभिन्न धर्मों की बुनियादी शिक्षाओं में देखा जा सकता है, लेकिन अधिकांश धर्म या सम्प्रदाय व्यावहारिक रूप में जिस तरह सामने आये या उनका विकास हुआ, उनमें कई तरह के विरोधाभास और मतभेद जुड़ते चले गये। समाज-विज्ञान में सामाजिक न्याय का विचार उत्तर-ज्ञानोदय काल में सामने आया और समय के साथ अधिकाधिक परिष्कृत होता गया। सामाजिक न्याय की अवधारणा के अंतर्गत क्लासिकल उदारतावाद ने मनुष्यों पर से हर तरह की पुरानी रूढ़ियों और परम्पराओं की जकड़न को खत्म किया और उन्हें अपनी मर्जी के हिसाब से जीवन जीने के लिए प्रेरित किया। इसके तहत हर मनुष्य को स्वतंत्रता देने और उसके साथ समानता का व्यवहार करने पर जोर जरूर था, लेकिन ये सारी बातें औपचारिक स्वतंत्रता या समानता तक ही सिमटी हुई थीं। उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में कई उदारवादियों ने राज्य के हस्तक्षेप द्वारा व्यक्तियों का आर्थिक विकास करने और उन्हें अपनी स्वतंत्रता का उपभोग करने में समर्थ बनाने की वकालत की। कई यूटोपियाई समाजवादियों ने भी एक ऐसे समाज की कल्पना की जहाँ आर्थिक, सामाजिक या सांस्कृतिक आधार पर लोगों के साथ भेदभाव न होता हो। स्पष्टतः इन सभी विचारों में सामाजिक न्याय के प्रति गहरा सरोकार था, इसके

बावजूद भी मार्क्स ने इन सभी विचारों की आलोचना की और कहा कि न्याय जैसी अवधारणा की आवश्यकता तो पूँजीवादी समाज में ही होती है क्योंकि इस तरह की व्यवस्था में उत्पादन के साधनों पर कब्जा जमाये कुछ लोग बहुसंख्यक सर्वहारा का शोषण करते हैं। उन्होंने क्रांति के माध्यम से एक ऐसी व्यवस्था कायम करने का लक्ष्य रखा जहाँ हर कोई अपनी क्षमता के अनुसार काम करने और अपनी आवश्यकता के अनुसार चीजें हासिल करने की परिस्थितियाँ प्राप्त कर सके।

मार्क्सवाद से प्रेरित रूसी क्रांति के कुछ वर्षों बाद ही स्टालिनवाद की सर्वसत्तावादी संरचनाएँ उभरने लगीं। वहीं उदारवाद और पूँजीवाद ने आंतरिक जटिलताओं के कारण दुनिया को, दो विश्व युद्धों, महामंदी, फांसीवाद और नाजीवाद जैसी भीषणताओं में धकेल दिया। पूँजीवाद को संकट से उबारने के लिए पूँजीवादी देशों में क्लासिकल उदारवादी सूत्र से लेकर कीसवादी नीतियों तक हर सम्भव उपाय अपनाने की कोशिश की गयी। इस पूरे संदर्भ में सामाजिक न्याय की बातें नेपथ्य में चली गयीं या सिर्फ इनका दिखावे के तौर पर प्रयोग किया गया। कीस ने पूँजीवाद को मंदी से उबारने के लिए राज्य के हस्तक्षेप के जरिये रोजगार पैदा करने के प्रावधानों का सुझाव दिया, लेकिन फ्रेड्रिक वान हेयक, मिल्टन फ्रीडमैन और बाद में रॉबर्ट नॉजिक जैसे विद्वानों ने आर्थिक गतिविधियों में राज्य के हस्तक्षेप की आलोचना की। इन लोगों का मानना था कि इससे व्यक्ति की स्वतंत्रता और आर्थिक आजादी को चोट पहुँचती है, लेकिन जॉन रॉल्स ने 1971 में अपनी किताब 'अथियरी ऑफ जस्टिस' में ताकतवर दलीलें दीं कि आखिर क्यों समाज के कमजोर तबकों की भलाई के लिए राज्य को सक्रिय हस्तक्षेप करना चाहिए। अपनी थियरी में रॉल्स शुद्ध प्रक्रियात्मक न्याय की अवधारणा प्रस्तुत करते हुए वितरणमूलक न्याय के लक्ष्य को हासिल करने की कोशिश करते हुए दिखाई देते हैं। (जॉन रॉल्स (1971), (अ थियरी ऑफ जस्टिस, ऑक्सफ़र्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन) अपने न्याय के सिद्धांत में उन्होंने हर किसी को समान स्वतंत्रता के अधिकार की वकालत की। इसके साथ ही भेदमूलक सिद्धांत के माध्यम से यह स्पष्ट किया कि सामाजिक और आर्थिक अंतरों को इस तरह समायोजित किया जाना चाहिए कि जिससे सबसे वंचित तबके को सबसे ज्यादा फायदा हो। बाद के वर्षों में रॉल्स के इस सिद्धांत की समुदायवादियों और नारीवादियों द्वारा आलोचनाएँ भी की गईं और कहा गया कि रॉल्स जिस व्यक्ति की संकल्पना करते हैं वह अपने संदर्भ और समुदाय से पूरी तरह कटा हुआ है। 1980 के दशक के आखिरी वर्षों में, उदारतावादियों ने समुदायवादियों की आलोचनाओं को उदारतावाद के भीतर समायोजित करने की कोशिश की जिसके परिणामस्वरूप बहुसंस्कृतिवाद की संकल्पना सामने आयी। इसमें यह माना गया कि अल्पसंख्यक समूहों के साथ वास्तविक रूप से तभी न्याय हो सकता है, जब उन्हें अपनी संस्कृति से जुड़े विविध पहलुओं की हिफाजत करने और उन्हें सार्वजनिक रूप से अभिव्यक्त करने की आजादी मिले। इसके लिए यह जरूरी है कि इनके सामुदायिक अधिकारों को मान्यता दी जाए। इस तरह सैद्धांतिक विमर्श के स्तर पर बहुसंस्कृतिवाद ने सामाजिक न्याय की अवधारणा में एक नया आयाम जोड़ा।

विकासशील समाजों में पश्चिमी समाजों की तुलना में सामाजिक न्याय ज्यादा उग्र रूप में सामने आया है क्योंकि उपनिवेशवाद के खिलाफ चलने वाले राष्ट्रीय संघर्षों में मानव-मुक्ति और समाज के कमजोर तबकों के अधिकारों की बातें जोरदार तरीके से उठायी गयीं थी। खासतौर पर भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में सभी तबकों के लिए सामाजिक न्याय के मुद्दे पर गम्भीर बहस चली। इस बहस से ही समाज के वंचित तबकों के लिए संसद में पहुँच एवं नौकरियों में आरक्षण, अल्पसंख्यकों को अपनी आस्था के अनुसार अधिकार देने और अपनी भाषा का संरक्षण करने जैसे प्रावधानों पर सहमति बनी और बाद में ये सहमतियाँ भारतीय संविधान का भाग भी बनीं।

डॉ भीमराव आम्बेडकर, महात्मा गांधी, काशीराम, राममनोहर लोहिया आदि ने भी समाज के हाशिये पर पड़ी जातियों को शिक्षित और संगठित होकर संघर्ष करते हुए अपने न्यायपूर्ण अधिकार को हासिल करने की वकालत की। इन्होंने इस बात पर जोर दिया कि पिछड़ों, दलितों, अल्पसंख्यकों और स्त्रियों को एकजुट होकर सामाजिक न्याय के लिए संघर्ष करना चाहिए। नब्बे के दशक में तो सामाजिक न्याय, भारतीय राजनीति का एक

प्रमुख नारा बन गया। इसके कारण अभी तक सत्ता से दूर रह रहे समूहों को सत्ता की राजनीति के केंद्र में आने का मौका मिला। आधुनिक काल में जॉन रॉल्स और अमर्त्य सेन जैसे विचारकों ने 'सामाजिक न्याय' को एक प्रमुख अवधारणा बना दिया है, साथ ही वर्तमान लोक-कल्याणकारी राज्य का मूल लक्ष्य भी 'सामाजिक न्याय' की स्थापना करना ही है।

भारतीय संविधान में भी यत्र तत्र सामाजिक न्याय के सिद्धान्त बिखरे पड़े हैं। सामाजिक न्याय, सामाजिक समानता और स्वतंत्रता को संदर्भित करता है यही वजह है की भारतीय संविधान में लोकतंत्र, समाजवाद पंथनिरपेक्षता जैसे सिद्धांतों को शामिल किया गया है संविधान की प्रस्तावना में ही सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय की स्थापना का लक्ष्य रखा गया है। मौलिक अधिकार और नीति निर्देशक तत्व भी सामाजिक न्याय की प्राप्ति हेतु रखे गए हैं। अर्थात् सामाजिक न्याय, भारतीय संविधान का आधारभूत तत्व है। जिसमें नीति निर्देशक तत्व सामाजिक न्याय प्राप्ति के वे लक्ष्य हैं जो हमें प्राप्त करना है उन लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु हमें मूल/मौलिक अधिकारों के रूप में वे साधन दिये गये हैं जिनके माध्यम से हमें उन लक्ष्यों की प्राप्ति करना है अतः संविधान के भाग-3 एवं 4 में अल्पसंख्यकों के अधिकारों के संरक्षण के लिए अनेक उपबन्ध किए गए हैं। जैसे अनुच्छेद-14 भारत के प्रत्येक व्यक्ति को विधि के समक्ष समानता और विधियों के समान संरक्षण की गारंटी देता है। अनुच्छेद-15 धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्म-स्थान के आधार पर सार्वजनिक स्थानों में प्रवेश पर राज्य द्वारा भेदभाव करने का प्रतिषेध करता है। इस अनुच्छेद की कोई भी बात राज्य को सामाजिक और शिक्षात्मक दृष्टि से पिछड़े हुए वर्गों या अनुसूचित जातियों या अनुसूचित आदिम जातियों की उन्नति के लिए विशेष उपबन्ध करने में बाधक न होगी।

अनुच्छेद 45 अशिक्षा को दूर करने के उद्देश्य से राज्य को 14 वर्ष तक की आयु तक के सभी बालकों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा देने के लिए उपबन्ध करने का निदेश देता है। जिसके परिपालन में अनुच्छेद 21(A) के अधीन शिक्षा पाने का अधिकार एक मूल अधिकार बन गया है, किन्तु उच्च शिक्षा पाने के मामले में यह अधिकार राज्य की आर्थिक क्षमता पर निर्भर करेगा।

अनुच्छेद-16 सरकारी नौकरियों के लिए अवसर की समानता की गारंटी करता है और इसके संबंध में धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग उदभव, जन्मस्थान, निवास के आधार पर भेदभाव को वर्जित करता है। किन्तु राज्य उक्त वर्गों के व्यक्तियों के लिए, यदि उन्हें पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं मिल सका है, नियुक्तियों या पदों पर आरक्षण का प्रावधान कर सकता है। अनुच्छेद-17 अस्पृश्यता का उन्मूलन करता है जो भारतीय समाज का एक महान कलंक था। अनुच्छेद-19-5 अनुसूचित आदिम जातियों के हितों की संरक्षा के लिए इस अनुच्छेद के खण्ड घ, ड और च में प्रदत्त मूल अधिकारों पर निर्बन्धन लगाता है।

अनुच्छेद-29-30 में अल्पसंख्यकों की संस्कृति के संरक्षण के लिए उपबन्ध किया गया है। भारत में रहने वाले नागरिकों के किसी वर्ग को, जिसकी अपनी विशेष भाषा, लिपि या संस्कृति है, उसे बनाये रखने का अधिकार प्राप्त है। सभी अल्पसंख्यक वर्गों को, चाहे वे धर्म या भाषा पर आधारित हों, अपनी रुचि की शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन का अधिकार होगा। शिक्षा-संस्थाओं को सहायता देने में राज्य किसी विद्यालय के विरुद्ध इस आधार पर विभेद न करेगा कि वह किसी अल्पसंख्यक वर्ग के प्रबंध में है।

समाज के दुर्बल वर्गों के शिक्षा और अर्थ सम्बंधी हितों की अभिवृद्धि करने के लिए अनुच्छेद 46 इस बात का उपबन्ध करता है कि राज्य, जनता के दुर्बल वर्गों के विशेषतया अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों की शिक्षा तथा आय संबंधी हितों की विशेष सावधानी से अभिवृद्धि करेगा तथा सामाजिक अन्याय तथा सब प्रकार के शोषण से उनकी सुरक्षा करेगा।

अनुच्छेद-275 अनुसूचित आदिम जातियों के कल्याण हेतु राज्यों को केन्द्र द्वारा सहायक अनुदान का उपबन्ध करता है। अनुच्छेद-325 के अनुसार निर्वाचन हेतु एक साधारण निर्वाचक-नामावली होगी तथा केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग के आधार पर कोई व्यक्ति किसी ऐसी नामावली में सम्मिलित किये जाने के लिए अपात्र न होगा।

अनुच्छेद-164 उड़ीसा, बिहार और मध्य प्रदेश राज्यों में अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के लिए एक विशेष मंत्री का उपबन्ध करता है ।

अनुच्छेद-330-342 तक में अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों, ऐंग्लो-इंडियन्स और पिछड़े वर्गों के लिए विशेष उपबन्ध लोक सभा में सीटों के आरक्षण, राज्यों में नौकरी में आरक्षण, पिछड़ा वर्ग नियुक्ति आयोग, अल्पसंख्यक आयुक्त की नियुक्ति आदि के प्रावधान किये गये हैं ।

अनुच्छेद- 347,350, 350क, 350ख, भाषायी अल्पसंख्यकों के संरक्षण की व्यवस्था करते हैं । अनुसूचित जाति, जनजाति बाह्य क्षेत्रों को संविधान के अंतर्गत विशेष क्षेत्र घोषित कर उसके निवासियों को विशेषाधिकार प्रदान किये गया । समान न्याय और निःशुल्क विधिक सहायता को सर्वाधिक महत्व प्रदान करते हुये अनुच्छेद 39क राज्य को यह निदेश देता है कि वह सुनिश्चित करे कि विधिक व्यवस्था इस प्रकार काम करे कि सभी को अवसर के आधार सुलभ हों और विशिष्टतया आर्थिक या किसी अन्य नियोग्यता के कारण कोई नागरिक न्याय प्राप्त करने के अवसर से वंचित न रह जाये तथा उपयुक्त विधान द्वारा या किसी अन्य रीति से निः शुल्क विधिक सहायता की व्यवस्था करें । लक्ष्मीकांत, एम., भारत की राजव्यवस्था, चेन्नई, मैक्ग्रा हिल एजुकेशन (इण्डिया) प्रा.लि., 2020 संक्षिप्ततः ये सभी प्रावधान सामाजिक न्याय को एक सुदृढ़ सोपान प्रदान करते हैं । संविधान के भाग-नौ के अन्तर्गत पंचायती राज व्यवस्था के अन्तर्गत अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति तथा महिलाओं के लिए स्थानों का आरक्षण सामाजिक न्याय की स्थापना के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण कदम है । इसके साथ-साथ मातृत्व लाभ अधिनियम, सुकन्या योजना, गर्भावस्था परीक्षण के विरुद्ध संरक्षण, अनैतिक व्यापार, महिलाओं हेतु कार्यक्रम, प्रधानमंत्री उज्ज्वला योजना, प्रधानमंत्री आवास योजना आदि सामाजिक न्याय की स्थापना के सन्दर्भ में सरकार द्वारा किए गए महत्वपूर्ण प्रयास हैं । सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय द्वारा एस एमआइएलई -75 पहल के अंतर्गत 75 नगर निगम चिन्हित किये गए हैं जहां भीख मागने वाले लोगों का पुनर्वास किया जायेगा साथ ही आजीविका और उद्धम के लिए हाशिये पर रहने वाले लोगों की मदद की एक व्यापक योजना भी तैयार की गई हैं । सामाजिक न्याय और अधिकारिता विभाग द्वारा अनुसूचित जाति जनजाति के लिए प्री मैट्रिक छात्रवृत्ति, राष्ट्रीय प्रवासी छात्रवृत्ति का प्रावधान 2022-23 में किया गया है । (<https://socialjusticehry.gov.in>) इन सभी प्रयासों के बावजूद चुनौतियां अभी बहुत हैं भारतीय समाज विविधतापूर्ण है विभिन्न जाति और सम्प्रदायों में बटे समाज में समानता सुनिश्चित करना चुनौती है वैश्वीकरण और उदारीकरण ने इसे और मुश्किल बना दिया है वैश्विक भूखमरी के क्षेत्र में भारत 121 देशों में 107 वे स्थान पर है अर्थात 29 करोड़ लोग आज भी भुखमरी का शिकार हैं निर्धनता सूचकांक में यद्यपि सुधार हुआ है लेकिन बिहार, झारखण्ड और उत्तरप्रदेश अभी भी गरीब राज्यों की श्रेणी में आते हैं ।

आज देश, समाज, और शासन व्यवस्था में प्रमुख सामाजिक-राजनीतिक मुद्दों पर विचार-विमर्श हो रहा है आने वाले समय में भारत, जो दुनिया का सबसे अधिक विविधता वाला देश है और जहां हजारों जातियों, समुदायों और जनजातियों की अपनी अलग-अलग चिंताएं तथा अपेक्षाएं हैं उनपर दीर्घकालिक प्रभाव डालने वाले प्रमुख मंथन साफ दिखाई पड़ रहे हैं । सफल राजनीतिक दल वही माना जा सकता है जो इस विविधतापूर्ण आबादी को एक साथ संयोजित कर सके । वस्तुतः सामाजिक न्याय की स्थापना में राजनीतिक संस्थाओं, व्यक्तिगत व वास्तविक कारकों का महत्वपूर्ण स्थान होता है । इस दिशा में 'प्रशासन' एवं सरकार की भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण होती है । आवश्यकता इस बात की है कि ये संस्थाएँ अपने सामाजिक एवं आर्थिक उत्तरदायित्वों का न केवल कुशलतापूर्वक निर्वाह करें बल्कि मानवतावादी दृष्टिकोण स्थापित करें । एक ऐसी आदर्श स्थिति की स्थापना हो जिससे समाज में व्यक्ति का अस्तित्व बिना किसी भेदभाव के स्वीकार्य हो । इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु डॉ. अम्बेडकर ने एक 'जाति रहित समाज' का विकल्प दिया जिसमें न्याय, स्वतंत्रता एवं विकास के समस्त अवसर सम्पूर्ण समाज को प्राप्त होते हों । भारतीय संविधान एवं संविधानोत्तर भारत में संसद एवं राज्य विधान मण्डलों द्वारा अधिनियमित विभिन्न कानून सामाजिक न्याय की स्थापना हेतु एक क्रान्तिकारी प्रतिमान स्थापित करते हैं किन्तु सामाजिक न्याय की

स्थापना के ये सभी संवैधानिक एवं गैर संवैधानिक प्रावधान तभी सार्थक हो सकते हैं जब इन्हें लागू करने वाली एवं उन्हें कार्यान्वित करने वाली संस्थाएँ स्वतंत्र एवं निष्पक्ष भाव से अपने दायित्वों का निर्वहन करें। आज युवाओं को आत्ममंथन की आवश्यकता है हम अपने इतिहास, संस्कृति को समझकर समाज में व्याप्त असमानता, नस्लवाद, भेदभाव, जातिवाद, धार्मिक असहिष्णुता आदि समस्याओं को समझ सकते हैं। शैक्षिक अवसरों में सुधार, धार्मिक रीतिरिवाजों का सम्मान, भेदभाव के सभी रूपों का अंत, अच्छी स्वास्थ्य सुविधाएँ और राजनीतिक इच्छाशक्ति से हम सामाजिक भेदभाव को मिटाकर एक न्यायपूर्ण समाज की स्थापना कर सकते हैं।

राजनीति विज्ञान एवं लोक प्रशासन विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

संदर्भ :

- B Spinoza, On the Improvement of the Understanding (1677) para 13*
T Paine, Rights of Man (1792) 197
विल किमलिका (2009), समकालीन राजनीति दर्शन : एक परिचय, (अनु. कमल नयन चौबे) पियर्सन, नयीदिल्ली
<https://ncert.nic.in/textbook/pdf/khps104.pdf>
<https://www.drishtiias.com/hindi/images/dlp-demo/upsc/gs-pack-3/Social-Justice.pdf>
www.sdfoundation.org
दाधीच, नरेश, समसामयिक राजनीतिक सिद्धान्त, जयपुर, रावत पब्लिकेशन्स, 2015
जॉन रॉल्स (1971), अ थियरी ऑफ जस्टिस, ऑक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन.
गाबा, ओम प्रकाश, राजनीति-चिन्तन की रूपरेखा, नोएडा, मयूर पेपर बैक्स, 2012
<https://www.drishtiias.com/hindi/images/dlp-demo/upsc/gs-pack-3/Social-Justice.pdf>
लक्ष्मीकांत, एम., भारत की राजव्यवस्था, चेन्नई, मैकग्रा हिल एजुकेशन (इण्डिया) प्रा.लि., 2020
बसु, डॉ. दुर्गा दास, भारत का संविधान : एक परिचय, गुरुग्राम (गुड़गाँव), हरियाणा, लेक्सिस-नेक्सिस, 2015
<https://socialjusticehry.gov.in>
The Indian Express, December 2022

गाँधी और नवाचार : नई तालीम का पुनर्पाठ

नवनीत शर्मा, नीरज कुमार मनी

नई तालीम के बारे में विमर्श करना एक दुरूह कार्य है। दुरूह इसलिए क्योंकि नई तालीम पर विमर्श हम एक ऐसे देश में कर रहे हैं जिसने हाल ही में फ्रांस को विस्थापित करके दुनिया की पांच सबसे बड़ी अर्थव्यवस्थाओं की सूची में अपना नाम शामिल कर लिया है। इतनी बड़ी अर्थव्यवस्था और राष्ट्र अभी भी बुनियादी शिक्षा पर विमर्श कर रहा है। जिस देश का रक्षा बजट तीन लाख साठ हजार करोड़ रुपये का हो और जहाँ शिक्षा को मात्र पच्चीस हजार करोड़ रुपये दिए जाते हो वहाँ यह विसंगत नहीं लगता। उस बुनियादी शिक्षा की बात करना जो आज से बयासी साल पहले की गई थी, हमें बहुत से विरोधाभासों में ले जाता है। 2009 में 'शिक्षा का अधिकार' अधिनियम आया और 2019 में यह स्थिति है कि केवल 92 प्रतिशत स्कूल ही ऐसे स्कूल हैं जिन्हें 'शिक्षा के अधिकार' अधिनियम के पैमाने पर आंका जाए तो वह स्कूल होने का प्रमाण नहीं दिखा पाएँगे। पिछले दस वर्षों में शिक्षा हेतु जितने 'कर' लगाए गए हैं उनको देखा जाए, तो यह पाया गया है कि वह निरन्तर बढ़ते हुए 2 प्रतिशत से बढ़कर 4 प्रतिशत हो गए हैं। एक तरफ राज्य यह दावा करता है कि हम शिक्षा पर इतना खर्च कर रहे हैं और उसके बाद भी पैसा बच जाता है वहीं दूसरी ओर कुछ ऐसे क्षेत्रों को देखा गया है जहाँ मध्याह्न भोजन में विद्यार्थियों को नमक के साथ रोटी दी जा रही है। इसके अपवाद में राज्य कहता है कि "हम एक कल्याणकारी राज्य की दरकार में हैं"। अटल बिहारी वाजपेयी ने एक कविता लिखी थी "स्कूल चले हम, मिलकर स्कूल चले हम"। उस समय शिक्षा पर कुल सकल घरेलू उत्पाद का 5.5 प्रतिशत खर्च हो रहा था, परंतु यदि 2018 का बजट देखें तो उसमें कुल सकल घरेलू उत्पाद का 2.7 प्रतिशत ही शिक्षा पर खर्च किया गया।

भूमंडलीकरण बनाम नई तालीम

भूमंडलीकरण की अवधारणा में यह माना जाता है कि विश्व एक 'सिकुड़ता' हुआ गाँव है। ऐसे में गाँधी की उस अवधारणा पर विमर्श करना कि हम सब "स्वायत्त संस्था, गाँव और स्कूल बनाएँ", तो भूमंडलीकरण के इस दौर में उस स्वायत्त का क्यास्वरूप होगा? "स्वायत्तता का अर्थ है जनगण को स्वयं अपना भाग्य-विधाता बनाने वाली मुक्ति के लिए किया जाने वाला सतत प्रयास, जो उनके मानुषीकरण के लिए ऐतिहासिक रूप से जरूरी है। तथाकथित विकसित देशों की नकल करके ऐसी मुक्ति कभी नहीं पायी जा सकती, इसलिए विकास के पूँजीवादी मॉडल को त्यागकर तथाकथित विकासशील यानि अल्पविकसित देशों को अपने विकास का रास्ता और तरीका खुद ही निकालना होगा। उन्हें अपनी नैतिक और सांस्कृतिक जरूरतों के मुताबिक स्वयं अपने लक्ष्य निर्धारित करने होंगे और उन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए अपने ही साधनों पर निर्भर करना होगा। एक शब्द में कहें तो उन्हें आत्मनिर्भर बनना होगा"।¹ इस आधार पर देखें तो गाँधी की यह अवधारणा क्या प्लेटो के 'रिपब्लिक' जैसा है जो केवल एक आदर्श परिकल्पना है। हम ऐसा नहीं कह सकते हैं क्योंकि गाँधी उन्नीसवीं सदी के आरंभ में ब्रिटिश प्रशासन द्वारा स्थापित औपनिवेशिक शिक्षा व्यवस्था के प्रति आलोचनात्मक रवैया अपनाते हुए शिक्षा का एक ऐसा

प्रारूप प्रस्तुत करते हैं जो उनके अपने व्यक्तिगत अनुभव पर आधारित थे। ये अनुभव उपनिवेशवाद के खिलाफ में उठाये गए रोजमर्रा के कामों से जुड़े हुए जीवनपर्यन्त थे। जिसमें गाँधी जी यह महसूस करते हैं कि औपनिवेशिक शिक्षा लोगों को अपने स्थानीय ज्ञान से दूर कर रही है। इसलिए उन्होंने नई तालीम में स्थानीय ज्ञान को प्रमुखता देते हुए काम आधारित शिक्षा देने की बात करते हैं। उदहारण के तौर पर ये हमारा पारंपरिक ज्ञान है कि साल के बारह महीनों को स्थानीय नाम (जैसे-चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़, फागुन आदि) से जानते हैं और इन स्थानीय नामों से जोड़कर ऋतुओं को समझा जाता है जिसपर आधारित काम-धंधे किए जाते हैं। आज भी वैसे लोग जिनकी उम्र पचास से ऊपर की है उसमें भी खासकर के गाँव के लोगों में यह प्रचलन में है और जब हम उनसे पूछते हैं या बात करते हैं तो इसका आभास होता है लेकिन वहीं जब नई पीढ़ी से साल के बारह महीनों का स्थानीय नामों में बात की जाती है या पूछा जाता है तो यह देखने को मिल जाता है कि इस पारंपरिक ज्ञान का उनमें कोई भान/समझ नहीं है। वे साल के बारह महीने को अंग्रेजी महीने के नामों से ही समझते हैं। इसके पीछे का मुख्य कारण पारंपरिक ज्ञान को आधुनिक शिक्षा के पाठ्यचर्या का हिस्सा नहीं बन पाना है और गाँधी इसी की बात नई तालीम में करते हैं जिसको गाँधी के इस कथन से भी जोड़कर समझा जा सकता है कि “मैं नहीं चाहता कि मेरे घर के चारों ओर दिवारें बना दी जाएँ और मेरी खिड़कियाँ बंद कर दी जाएँ, मैं चाहता हूँ कि सभी देशों की संस्कृतियों की हवा मेरे घर के आस-पास निर्बाध रूप से बहती रहे। लेकिन मैं यह हरगिज नहीं चाहता कि वह हवा मुझे ही उड़ा ले जाए। मैं एक घुसपैठिये भिखारी या दास की तरह दूसरे के मकानों में नहीं रह सकता”।¹

गाँधी को समझने के लिए हमारी आपकी एक अलग राजनैतिक समझ हो सकती है, भिन्न सवाल हो सकते हैं। गाँधी को लेकर बहुत सी अवधारणाएँ भी हैं। चाहे वह ‘गांधीज्म’ हो, ‘गांधीवाद’ या ‘गांधीगिरी’। इनके सन्दर्भ में ‘नई तालीम’ से क्या तात्पर्य है? 1935 में भारत सरकार अधिनियम आया। तत्पश्चात इंडियन नेशनल कांग्रेस और मुस्लिम लीग की एक मिलीजुली सरकार बनी और शिक्षा पर किस प्रकार कार्य किया जाए, इसके लिए सरकार द्वारा एक कमेटी बनाई गई। डॉ. जाकिर हुसैन की अध्यक्षता में यह नौ लोगों की समिति थी, जिन्होंने एक बड़े प्रयोग पर काम करते हुए रिपोर्ट को तैयार किया। इस रिपोर्ट को बाद में गाँधी का समर्थन मिलने के बाद इसे ‘नई तालीम’ कहा गया। इस रिपोर्ट को 1937 में वर्धा में पढ़ा गया और 1938 में हरिपुरा अधिवेशन में इसे पारित किया गया। समिति ने उस समय की सामाजिक परिवेश में जड़ जमाए हुए अनैतिक तत्वों को इंगित करते हुए शिक्षा के सामाजिक लक्ष्यों को स्पष्ट करते हुए कहा कि “मौजूदा समाज लूट-खसोट, छीना-झपटी और मारपीट की नींव पर खड़ा है। परंतु समाज तो ऐसा होना चाहिए जिसमें सब लोग हिल-मिल कर एक-दूसरे के साथ काम करते हुए रह सकें। इस नये समाज को पैदा करने में मदद पहुँचाना शिक्षा का काम है। ऐसा नया तरीका चलाया जाए जिसमें नई रचना करने की ताकत हो और जिसकी नींव मनुष्यों की आपसी हमदर्दी और भलाई पर रखी गई हो, जो राष्ट्रीय जीवन के आदर्शों और जरूरतों से अधिक घुली-मिली हों, और जो मौजूदा जरूरी माँगों को अधिक अच्छी तरह पूरा कर सकती हैं”।² इस प्रकार गाँधी नई तालीम के माध्यम से एक ऐसे नए समाज की परिकल्पना करना चाहते थे जो अहिंसक, स्वावलंबी, शांतिमूलक, न्याय आधारित, धर्मनिरपेक्ष तथा प्रजातांत्रिक भागीदारी वाला हो। इस समाज में आत्मोन्नति सत्य के आधार पर, समाजोन्नति अहिंसा, सहयोग, स्वावलंबन और विकेंद्रीकरण के आधार पर एवं आर्थिक समृद्धि अपरिग्रह, श्रमनिष्ठा एवं शोषणहीनता के आधार पर संभव है।

नई तालीम शब्द में ‘तालीम’ से क्या तात्पर्य है? गाँधी जी ने तालीम शब्द को ही क्यों चुना? वह ‘ज्ञान’ या ‘शिक्षा’ शब्द को भी चुन सकते थे। तालीम उर्दू का शब्द है। इस शब्द के संदर्भ को अधिक गहराई से देखा जाए तो यह ‘इल्म’ से आता है। इल्म शब्द से क्या तात्पर्य है? क्या ‘इल्म’ ज्ञान से अलग है? दार्शनिक विश्लेषण में इल्म, ज्ञान, शिक्षा और विद्या यह सभी अलग-अलग हैं। तालीम या इल्म इसलिए कि ‘जो पढ़ता है’ यानि जो विद्यार्थी है वह तालीम/तालिब है। तालीम शब्द इसलिए क्योंकि इल्मज्ञान, समझ और कर्म का योग है। गाँधी जब इल्म की बात करते हैं तो वो कहते हैं कि आप इससे क्या सीखेंगे? उनका यह मतलब नहीं था कि इससे सभी विद्यार्थी उद्यमिता सीख जायेंगे। ऐसे शब्दों के साथ एक विरोधाभास यह भी है कि इसे एक धर्म विशेष से जोड़कर देखा

जाता है। साधना सक्सेना लिखती हैं कि “वह एक कक्षा में बैठी थी और वहाँ पर अध्यापिका द्वारा विद्यार्थियों से यह पूछा जाता है कि आपलोगों में से भूत-प्रेत के बारे में कौन जानता है? अध्यापिका एक बच्चे की ओर इशारा करते हुए कहती है कि तुम बताओं, तुम जानते होगें इसके बारे में क्योंकि तुम दलित हो”। इससे दो बातें उभर कर आती हैं। पहली यह कि, यदि वह बताने से मना कर दे तब भी वह पिछड़ा है क्योंकि वह उस प्रश्न के बारे में नहीं जानता और दूसरी यह कि, यदि वह हाँ कह दे तब भी वह पिछड़ा है क्योंकि वह भूत-प्रेत के बारे में जानता है या उसका समाज अभी भी अंधविश्वास से ग्रसित है। जाहिर है कि हमने उसके पिछड़े होने को तय कर दिया है। नई तालीम के साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ है क्योंकि जो उदासीनता कुछ सरकारों ने इसके साथ दिखाई है, उससे यह प्रतीत होता है कि वह इसे राजनैतिक विचारधारा से जोड़ कर देखते हैं।

तालीम के साथ एक और शब्द जुड़ा है वह है ‘तलबी’। जिससे तात्पर्य है शुभ मुहूर्त में शुरू किया हुआ कार्य, तालीम रहेगा। समय का भी अपना एक संदर्भ होता है। एक परिकल्पना करे कि पहली बार स्कूल क्यों खुले होंगे? समाज को स्कूल की जरूरत क्यों पड़ी होगी? यदि आदम और हव्वा के समय की बात करें तो वह आराम से अपना जीवन व्यतीत कर रहे होंगे। मान ले कि यदि गाँव में आग लग जाए या शेर आ जाए तो लोग अपनी जान बचाने के लिए भागेंगे। यह सभी चाहते हैं कि उनकी संतानों की जान बचे। इसलिए वह चाहते हैं कि हमारी संतति भी तेज भागना और पेड़ पर चढ़ना सीखे। इसलिए उन्होंने अपने बच्चों को उनके पास भेजना शुरू किया होगा, जो सबसे तेज भागता होगा और सबसे तेजी से पेड़ पर चढ़ना जानता होगा। शिक्षा की शुरुआत भी कुछ ऐसे ही प्रक्रियाओं द्वारा हुई होगी। यह ‘सर्वाइवल ऑफ फिटेस्ट’ का मामला है।

नई तालीम और आधुनिक शिक्षा मनोविज्ञान को जोड़कर देखें तो नई तालीम भी उसी संदर्भ में बात करता है जिस संदर्भ में आधुनिक शिक्षा मनोविज्ञान बात करती है। जैसे नई तालीम में कहा गया है कि बच्चे को उसके संदर्भ से पढ़ाया जाना चाहिए और आधुनिक शिक्षा मनोविज्ञान भी यही कहता है कि बच्चे को उसके तात्कालिक परिवेश से पढ़ाया जाना चाहिए। नई तालीम में बच्चों के पठन-पाठन के लिए उसकी प्रथम भाषा को प्राथमिकता दी गई है जबकि आधुनिक शिक्षा मनोविज्ञान भी यही कहता है कि प्रथम भाषा में बच्चे अपने तात्कालिक वातावरण को सन्दर्भों से जोड़कर ज्यादा समझ पाते हैं, अतः इसी भाषा में उनका पठन-पाठन होनी चाहिए। गाँधी कहते हैं कि पढ़ाई ऐसी हो जो बच्चों को शारीरिक रूप से क्रियाशील बनाये और आधुनिक शिक्षा मनोविज्ञान भी कहता है कि पढ़ाई ऐसी हो जो बच्चों को कक्षा-कक्ष में क्रियाशील बनाये। इसी संदर्भ में नई तालीम शिक्षा समिति ने इस शिक्षा प्रारूप की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है कि “मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस शिक्षा-प्रणाली को ग्रहण करना आवश्यक है, क्योंकि यह केवल किताबी और काल्पनिक शिक्षा से ही विद्यार्थियों की रक्षा नहीं करती है बल्कि यह मनुष्य के दिमागी तथा व्यावहारिक अनुभवों में समता बनाए रखती है। इसके द्वारा हाथ और मस्तिष्क दोनों को साथ-साथ शिक्षा मिलती है। इससे बच्चों को मिली शिक्षा इतनी सतही नहीं होती कि वे केवल छपे हुए पृष्ठ ही पढ़ें अपितु इतनी योग्यता हो जाती है कि वे अपने हाथ और मस्तिष्क का पूरा उपयोग कर उत्पादी कार्य कर सकें। यह मनुष्य के पूरे व्यक्तित्व की शिक्षा है”।¹

गाँधी जी का यह कथन कि यदि मुझे ‘आजादी और साक्षरता’ के बीच में चुनना हो तो मैं आजादी को चुनूँगा। गाँधी जब यह कहते हैं तो उसका मतलब यह भी नहीं है कि वह निरक्षर रहने की बात करते हैं। इस पूरे क्रम में यह समझना जरूरी है कि गाँधी जी जिस सन्दर्भ में बात कर रहे हैं उस समय में अंग्रेजी शिक्षा या उपनिवेशी शिक्षा और इसे एक रंग से देखने की कोशिश न किया जाए कि अंग्रेजी शिक्षा या उपनिवेशी शिक्षा बहुत बुरी थी, क्योंकि शायद अंग्रेजी पढ़कर ही हमने अंग्रेजों से लड़ना सीखा। गाँधी कहते हैं कि हम सभ्यता के रोग में ऐसे फँस गये हैं कि अंग्रेजी शिक्षा बिलकुल लिए बिना भी अपना काम चला सकें ऐसा समय अब नहीं रहा। वे कहते हैं कि जिसने वह (अंग्रेजी) शिक्षा पाई है, वह उसका अच्छा उपयोग करे, अंग्रेजों के साथ व्यवहार में, ऐसे हिन्दुस्तानियों के साथ व्यवहार में जिनकी भाषा हम नहीं समझ सकते हैं और अंग्रेज खुद अपनी सभ्यता से कैसे परेशान हो गए हैं, यह समझने के लिए अंग्रेजी का उपयोग किया जाए।¹ हमें यह भी समझने की जरूरत है कि कोई भी शिक्षा दो धारी होती

है, चाहे वह अंग्रेजी शिक्षा हो या देशज शिक्षा। राजाराम मोहन राय ने अंग्रेजी माध्यम में ही शिक्षा ग्रहण कर एक समय में आन्दोलन को शुरू किया। अंग्रेजी भाषा में ही पढ़कर लोगों को वह तीन विचार समझ में आये जो फ्रांसीसी क्रांति से उभरे- समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व। इन विचारों को जब लोगों ने पढ़ा तो पाया कि औपनिवेशिक शासन हमारे साथ गलत कर रहा है, इसका विरोध होना चाहिए। शिक्षा का एक उद्देश्य लोगों को जागृत करना भी है चाहे वह अंग्रेजी शिक्षा हो या कोई भी शिक्षा, मतांतरण ना हो। यदि वह शिक्षा सही मायने में शिक्षा है तो वह आपको सवाल पूछना सिखाएगी और जब किसी को सवाल पूछना सिखाया जाएगा तो वह हमसे या आपसे भी सवाल पूछेगा। इसीलिए गाँधी जी कहते हैं कि “शिक्षा से मेरा अभिप्राय है बच्चे व व्यक्ति के शरीर, मस्तिष्क व आत्मा में विद्यमान श्रेष्ठ तत्त्व का प्रकटीकरण व चहुँमुखी विकास करना है”।

गाँधी एवं काम का दर्शन

गाँधी जब यह कहते हैं कि ‘काम’ से सीखो तो क्या वे बाल मजदूरी को गौरवान्वित कर रहे हैं? कृष्ण कुमार लिखते हैं कि बाल-मजदूरी को किस तरह से परिभाषित किया जाए यह एक अलग मुद्दा है। लेकिन फिर एक राष्ट्रीय एका इस बात को लेकर बना है या बन सा गया है कि बच्चों को हर तरह के काम से मुक्त करने वाली शिक्षा देना, ये प्राथमिक शिक्षा के सार्वजनीकरण का अर्थ है, बल्कि काम से बच्चों को मुक्त करना ही शिक्षा का उद्देश्य है। ऐसी स्थिति में बुनियादी शिक्षा के प्रस्ताव में बहुत सी समस्याएँ उत्पन्न होती है। मैं उन कामों की चर्चा कर रहा हूँ जो सामान्य जीवन में निहित होते हैं, जो हमारे परिवेश में इतने ज्यादा किये जाते हैं कि जब हम बच्चे होते हैं, तब हमारी इच्छा होती है कि हम उन कामों को खुद करके देखें। किसी भी परिवार में, किसी भी समुदाय में, मोहल्ले में, तमाम तरह के किए जाने वाले काम बच्चे स्वयं करना चाहते हैं। अपने हाथ से करके देखना चाहते हैं। अगर उनके आस-पास कोई साईकिल ठीक करने की दुकान है तो वह साईकिल ठीक करना चाहता है। अगर उसके आस-पास साड़ी बनाने का कारखाना है तो वह स्वयं कोई छोटा-मोटा काम ही करना चाहते हैं। कोई चीज यहाँ से उठाकर वहाँ रखना, इस तरह की एक सहज, स्वतः स्फूर्त इच्छा और जिज्ञासा बचपन में होती है। उसका निषेध प्राथमिक शिक्षा की मौजूदा स्वीकृत नीतियों में अवधारणा के स्तर पर अवश्य निहित है, भले ही हम इस नीति को अभी पूरी तरह से इस्तेमाल न कर सकें हों। इस प्रस्ताव में यह निश्चित रूप से निहित है कि बच्चों को कोई काम न दिया जाए, ऐसा काम न उनसे कराया जाए जिसमें कोई जिम्मेदारी हो। इसलिए उन तमाम हस्त-कौशलों का, खेती से जुड़े हुए तमाम कामों का बच्चों से द्वैत है। सही मायने में बचपन तो वह हो गया जिसमें यह सब नहीं करना पड़े। चाहे वह छोटे बच्चों की देखभाल हो या वो घर में किया जाने वाला काम खुद करके सीखने का मामला हो। इन चीजों से बच्चों को दूर रखना है। तब उसकी शिक्षा ठीक तरह से होगी।¹

श्रम और काम में क्या अंतर है? हम इसे अलग-अलग क्यों देखें? गाँधी जी जब कहते हैं कि स्कूलों को आत्मनिर्भर होना चाहिए तो क्या वह स्कूल बच्चों की मजदूरी करने वाला कारखाना बन जायेगा? गाँधी जी कहते हैं कि हाथ की तालीम का मतलब यह नहीं होगा कि विद्यार्थी पाठशाला के संग्रहालय में रखने लायक वस्तुयें बनायें या ऐसे खिलौने बनायें जिनका कोई मूल्य नहीं। उन्हें ऐसी वस्तुयें बनाना चाहिए, जो बाजार में बेची जा सकें। कारखानों के प्रारंभिक काल में जिस तरह बच्चे मार के भय से काम करते थे, उस तरह हमारे बच्चे यह काम नहीं करेंगे। वे उसे इसलिए करेंगे कि इससे उन्हें आनन्द मिलता है और उनकी बुद्धि को स्फूर्ति मिलती है।² इसलिए जब आप नई तालीम को पढ़ेंगे तो पायेंगे कि इसमें बच्चों को इकट्ठा कर लिया गया है और वह टोकरी बना रहे हैं, कपड़ा सिल रहे हैं, चरखा चला रहे हैं। ये बच्चे इस तरह के काम को क्यों कर रहे हैं? जोशी लिखते हैं कि “एक तरह से देखा जाए तो टोलियों में काम करने की वजह से बच्चे काफी स्वायत्त हो जाते हैं और कक्षा के गुप्त सत्ता समीकरण में नया संतुलन स्थापित होता है। यह परिवर्तन आंशिक ही सही मगर मामूली नहीं है। टोली में काम करना सीखने में सामूहिकता का एक घटक है और यह प्रवृत्ति बाल वैज्ञानिक में हर जगह झलकती है”।³ साथ-साथ सीखने में प्रत्येक स्थिति अद्वितीय होती है, जिसे दोहराया नहीं जा सकता। इस रूप में शिक्षा ज्ञान का सृजन करने की सतत प्रक्रिया है, जिसमें बच्चे निरंतर एक-दूसरे के साथ पूर्णतर मनुष्य बनने की तलाश उस दुनिया में करते हैं, जिसमें वे

जीते हैं। वहीं इससे बनने वाले उत्पादों को बेचकर जो मुद्रा प्राप्त होगी उससे अध्यापक के वेतन के साथ-साथ कलम, किताब और कॉपी की व्यवस्था की जाए, मध्याह्न भोजन के लिए धन भी दिया जाए। यदि आठ घंटे का स्कूल है और उसमें छः घंटे टोकरीयाँ बनाएँ तभी काम चल सकता है। गाँधी जी लिखते हैं कि मैं जानता हूँ यह मुश्किल काम है लेकिन स्कूलों का काम केवल उत्पादन करना है और यह राज्य की जिम्मेदारी है कि वह उस उत्पाद को खरीदे। इस प्रकार गाँधी जी राज्य को शिक्षाई जिम्मेदारियों से मुक्त नहीं करते हैं।

गाँधी जी के अनुसार, जब बच्चा चरखा चलाएगा तो वह यह जानने का भी प्रयास करेगा कि चरखे का इतिहास क्या है, रुई का इतिहास क्या है और इसी उदाहरण को ढाबे पर काम करने वाले बच्चों के साथ जोड़कर देखा जाए तो, वहाँ जो बच्चा प्लेट धो रहा है वह भी यह सोचेगा कि प्लेट का इतिहास क्या है, प्लेट कैसे बनती है? देश में बहुत समय तक यह बात होती रही है कि लड़कियाँ कुछ कक्षा पढ़ने के बाद स्कूल छोड़ देती हैं। यह सुनने में विचित्र लगता है क्योंकि हम लोग बहुत समय तक कहते रहे हैं कि ऐसे बच्चों 'ड्राप आउट' कर जाते हैं परन्तु कोई बच्चा 'ड्राप-आउट' नहीं करता है बल्कि हम उन्हें 'पुश-आउट' कर देते हैं। ज्यादातर लड़कियाँ स्कूल से बाहर इसलिए धकेली जाती हैं क्योंकि उन्हें घर पर अपने छोटे भाई-बहनों की देख-भाल करनी होती है। क्या गाँधी इस बात के लिए सहमत नहीं हैं कि यदि वह घर पर अपने छोटे भाई-बहनों की देख-भाल कर रही है तो उसके मन में इस देख-भाल से 'नर्सिंग' का विचार आयेगा। लेकिन गाँधी इस काम से सीखने वाले विचार को कभी गौरवान्वित नहीं करते। गाँधी कहते हैं कि काम वह होगा जो शिक्षाप्रद होगा। यह कुछ-कुछ डिवी के 'प्रोजेक्ट मैथड' जैसा है जिसमें विद्यार्थियों की ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ दोनों सक्रिय रहती हैं। विषय से संबंधित समस्या का चयन करके उनका समाधान खोजा जाता है। इस पद्धति में विद्यार्थी रूचि के साथ पूर्ण रूप से लोकतांत्रिक आधार पर मिलकर कार्य करते हैं। इससे विद्यार्थियों में आत्मनिर्भरता, आत्मविश्वास और मौलिकता का विकास होता है, जिससे विद्यार्थी लोकतांत्रिक समाज के लोकतांत्रिक नागरिक बन सकेंगे। लेकिन फिर भी जॉन डिवी की योजना परंपरागत हस्तशिल्प आधारित उत्पादन प्रक्रियाओं पर उतनी निर्भर नहीं थी, जितनी गाँधी की थी। "हालाँकि दोनों ही पूँजीवादी विकास की विशेषताओं की पैदाइश थे। मुड़कर देखने पर, डिवी के शैक्षिक प्रस्ताव को पूँजीवादी विकास के अमानवीय फैलाव के बीच बच्चों के लिए खास स्थान सुरक्षित करने की अपील के तौर पर पढ़ा जा सकता है। दूसरी तरफ, गाँधी का प्रस्ताव पूँजीवाद के विकास को धीमा करने की अपील के रूप में पढ़ा जा सकता है ताकि महिलाओं और पुरुषों को मशीनों के साथ जीने से पहले उनकी क्षमताओं को बढ़ाने के लिए समय मिल पाए।"।

इस देश में कोई भी काम ऐसा नहीं है जो जाति के साथ न जुड़ा हो, चाहे वह लकड़ी पर काम करना हो या लोहे पर काम करना या फिर चमड़े पर काम करना हो, हर काम एक जाति के साथ जुड़ा है। गाँधी के लिए यह एक बड़ी चुनौती थी कि वह इस 'जाति' को तोड़े। क्योंकि जिस समय गाँधी भारत में सामाजिक क्रांति की बुनियाद खड़ी कर रहे थे उस समय भारत की आंतरिक समस्याओं में ऊँच-नीच, छुआ-छूत इत्यादि समस्याओं की जड़े बहुत गहरे में जमीं हुई थी। इन जड़ों की जड़ में अलग-अलग तरह के 'कामों' का स्वरूप ही था, जिसको गाँधी जी ने बहुत नजदीक से महसूस किया था। अतः गाँधी जी के सामने सबसे बड़ा लक्ष्य यह था कि समाज को किस प्रकार संगठित किया जाए। इसके लिए वह चाहते थे कि वह काम जो जाति से जुड़ा है स्कूल में आए और सब लोग मिलकर उस काम को करे। इसलिए जब गाँधी कहते हैं 'काम' और डिवी कहते हैं 'एक्टिविटी' तो उसमें यही फर्क है कि गाँधी उस भारतीय सामाजिक परिवेश को तोड़ना चाहते हैं जहाँ काम जाति के साथ जुड़ा हुआ है, अछूत के विचार के साथ जुड़ा हुआ है। गाँधी इसी काम प्रधानता को, जो एक जाति प्रधानता को इंगित करता है को चुनौती देने के लिए शिक्षा में काम की बात करते हैं।

कौशल और कला में क्या अंतर है? उदाहरण के तौर पर जब कोई एक टोकरी बनाता है तो वह उसको बनाने में पूरा मनोभाव लगा देता है। वह उसकी कला है और जब वह उसी काम को आँख बंद कर के करता है तो वह उसका कौशल हो जाता है। गाँधी हस्तकला की बात करते हैं लेकिन बाद के पढ़ने वालों ने इसे हस्तकौशल बना दिया। गाँधी कहते हैं कि विद्यार्थियों में निर्मिति का भाव आना चाहिए। कला में एक विशेषता होती है जो कौशल में

नहीं होती है। गाँधी इस पूरे संदर्भ में उस समझ को चुनौती देते हैं। कृष्ण कुमार लिखते हैं कि स्मृति का जो कौशल हमारी परंपरा में था, जिसे हम अच्छी तरह जानते थे, हमने उसी को भ्रमवश निकाल दिया और उसकी पुनः प्राप्ति के लिए अब हम दूसरों का मुँह देखेंगे। स्मृति के महत्व को आत्मविश्वासपूर्वक घोषित करना और उसकी नई-नई मीमांसाएँ करने के लिए साहस पैदा करना, अपने भीतर, शिक्षक के भीतर, समुदाय के भीतर, यह मुझे प्रयोगशील शिक्षा को समाज में लोकप्रियता दिलाने के लिए स्थायी महत्व के कामों में से एक लगता है।¹⁰

अकबर इलाहाबादी लिखते हैं कि “तिप्ल में बू आए क्या माँ बाप के अतवार की, दूध तो डिब्बे का है तालीम सरकार की”। जब वह तालीम सरकार की कहते हैं तो वह उस निराश्रय भाव से कहते हैं कि बच्चे को यह नहीं पता कि अतवार क्या है, सरकार क्या है, सरोकार क्या है, सामाजिक सन्दर्भ क्या है। दिल्ली विश्वविद्यालय के बी.एड. के प्रशिक्षु विद्यार्थी को दिल्ली के एक सम्भ्रांत स्कूल में गरीबी की अवधारणा को पढ़ाना था। उसने बच्चों को बताया कि गरीब वह होता है जिसके पास मोबाईल फोन नहीं है। गरीब वह होता है जिसे केक खाने को नहीं मिलता है। कक्षा के बच्चों ने कहा कि उदाहरण दीजिए तो उसने कहा कि ‘चालक’, उसने सोचा कि यही वह कामगारी समूह है जिससे बच्चे व्यवहारिक जीवन में रू-ब-रू हो रहे हैं। इस उदाहरण पर कक्षा के बच्चों ने बताया कि ऐसा नहीं है, हमारे यहाँ के चालक के पास मोबाईल फोन भी है और जब भी हमारे घर में केक बनता है तो हम उसे खाने को देते हैं तो चालक गरीब कैसे हुआ? इस कक्षाई विमर्श से यह संकेत मिलता है कि उस देश में गरीबी क्या है, की अवधारणा को समझना इतना जटिल हो गया है जिस देश की तीस प्रतिशत जनता आज भी दो जून की रोटी को मोहताज है, गाँधीकी बुनियादी शिक्षा इसीलिए प्रासंगिक है। गाँधी का मंत्र/जन्तर, जो शायद एनसीइआरटी की किताबों में गाँधी स्मृति की रस्म अदायगी हेतु होता है, “जो सबसे गरीब और कमजोर आदमी तुमने देखा हो, उसकी शकल याद करो और अपने दिल से पूछो कि जो कदम उठाने का तुम विचार कर रहे हो, वह उस आदमी के लिए कितना उपयोगी होगा। क्या उससे उसे कुछ लाभ पहुंचेगा? क्या उससे वह अपने ही जीवन और भाग्य पर कुछ काबू रख सकेगा? यानि क्या उससे उन करोड़ों लोगों को स्वराज्य मिल सकेगा जिनके पेट भूखे हैं और आत्मा अतृप्त है? तब तुम देखोगे कि तुम्हारा सन्देह मिट रहा है और अहम् समाप्त होता जा रहा है”। गाँधी का यह वह मंत्र है, जो बुनियादी शिक्षा की बात करता है।

1890 से 1900 तक के भारत में तीन बड़े अकाल पड़े, जिसमें लगभग पांच लाख लोग मारे जाते हैं जबकि उस समय पूरे भारत की जनसंख्या लगभग बीस करोड़ रही होगी। इन पांच लाख लोगों की अकाल मृत्यु ने भारत को भाग्यवादी बना दिया, और यह कथन कि “होए वही जो राम रचि राखा” भारतीय जनमानस के बोध को निर्देशित करने लगी। इसलिए गाँधी इस समाज को नई दिशा देने के लिए कहते हैं कि “भाग्यवादी नहीं कर्मवादी बनों” और इसलिए काम से शिक्षा लो। भिखू पारेख लिखते हैं कि “गाँधी के रचनाशीलता का मूल उनके द्वारा कर्म की परिभाषा में और उनके द्वारा बिताई गई सक्रिय जिंदगी में निहित है। कर्म से उनका अर्थ किसी लक्ष्य की प्राप्ति नहीं, बल्कि विशेष जीवन-दृष्टि के साथ जिंदगी बिताना था”।¹¹

नई तालीम में व्यक्ति और समाज के रिश्ते को मजबूत करने के लिए आत्मनिर्भरता और स्वावलंबन को महत्वपूर्ण कसौटी माना गया है। इसका संबंध व्यक्ति और समुदाय दोनों से है। गाँधी गाँव को समुदाय की प्रतिनिधि इकाई मानते थे। उनका मानना था कि अंग्रेजी राज के पहले गाँव की आर्थिक व्यवस्था आत्मनिर्भर थी जिसका आधार हस्तशिल्प था। वे चाहते थे कि आत्मनिर्भरता का उक्त आधार केवल और केवल हाथ के काम तक सीमित न रहे। इसी कारण नई तालीम में वे हाथ के काम से दिमाग को शिक्षा देने का रास्ता सुझाते हैं। वे कहते हैं कि “नई तालीम का नयापन समझना जरूरी है। पुरानी तालीम में जितना अच्छा है, वह नई तालीम में होगा, लेकिन उसमें नयापन काफी होगा। नई तालीम अगर सचमुच नई होगी तो उसका नतीजा यह होना चाहिए कि हमारे अंदर जो मायूसी है उसकी जगह उम्मीद होगी, कंगालियत की जगह रोटी का सामान तैयार होगा, बेकारी की जगह धंधा होगा, झगड़ों की जगह एका होगा और हमारे लड़के-लड़कियाँ लिखना-पढ़ना जानेंगे और साथ-साथ हुनर भी

सीखेंगे। जिसकी मार्फत वे अक्षर ज्ञान हासिल करेंगे। ...जब तक उन्हें (बच्चों को) इतिहास, भूगोल, जबानी गणित और कताई की कला का प्रारंभिक ज्ञान न हो जाए, तब तक मैं उन्हें वर्णमाला नहीं सिखलाऊंगा। ...मैं असल जोर उद्यम या धंधे पर नहीं, बल्कि हाथ के काम द्वारा शिक्षण पर दे रहा हूँ। साहित्य, इतिहास, भूगोल और गणित इत्यादि सभी विषयों की शिक्षा काम द्वारा जोड़कर ही दी जानी चाहिए”।¹² इस प्रकार नई तालीम के माध्यम से बच्चों को प्रदान करने वाली शिक्षा के केन्द्र में बच्चा है लेकिन समकालीन सामाजिक परिवेश में बच्चों को प्रदान की जा रही आधुनिक शिक्षा के माध्यम से पनपने वाले मनोविकृति को इंगित करते हुए नीता कुमार लिखती हैं कि बनारस के बुनकर यह नहीं चाहते हैं कि उनके बच्चे स्कूल जाए, क्योंकि जो क, ख, ग पढ़ लेता है वह करघे पर नहीं बैठता। अर्थात् जो भी पढ़ लेता है वह अपनी कला और कौशल को छोड़ देता है, वह अपने पारंपरिक काम को नहीं करता।¹³ इस तरह से क्या हम दो तरह का भारत और हिंदुस्तान नहीं बना रहे, जिसमें एक वो जो अपना पारंपरिक काम करेगा/करेगी और एक वो जो यह दावा करेगा/करेगी कि हम कान्वेंट स्कूल में पढ़ें हैं इसलिए हम अपने पारंपरिक काम को नहीं करेंगे। नई तालीम क्यों सफल नहीं हुई? क्योंकि इस आवाम में एक बड़ा हिस्सा था जिसको यह लगा कि बुनियादी शिक्षा पारंपरिक शिक्षा है और यह सवाल गाँधी के पास भी था कि मान लीजिए आपने कक्षा में कहा कि आओ लकड़ी पर काम करते हैं तो वह बच्चा जो बड़ई परिवार से आता है वह इस काम को तो आसानी से कर लेगा परन्तु बाकी बच्चे यह कहेंगे कि वह तो बड़ई परिवार से आता है इसलिए उसने यह काम कर लिया। क्या बुनियादी शिक्षा जाति प्रधानता को फिर से मजबूत कर देती है? इस सवाल को बड़ी ईमानदारी के साथ बाद के गांधीवादियों ने भी तलाशने की कोशिश नहीं की। वह स्कूल को सिर्फ एक आर्थिक सहायता देने की बात करते हैं जिससे कि स्कूल को स्वायत्ता मिल जाए। वह स्कूल को वित्त प्रदान करने वाली इकाई के रूप में बात नहीं करते हैं।

नई तालीम और नवाचार

कार्य एक शिक्षाशास्त्र है। उदाहरण के तौर पर इस प्रश्न को ले कि खिचड़ी कैसे बनती है? क्या दाल, चावल, तेल, हल्दी और नमक को मिला कर रख देने से खिचड़ी बन जाएगी? नहीं, आग/आँच की भी आवश्यकता पड़ेगी और शिक्षाशास्त्र यही कार्य करता है। शिक्षाशास्त्र वह नहीं जो अध्यापक कहे और विद्यार्थी सीखे, यह इससे व्यापक है। “शिक्षण एक वैविध्यपूर्ण कर्म है जिसमें कई गतिविधियाँ समाहित हो सकती हैं। जैसे इंगित करना, सुझाना, प्रेरित करना, फुसलाना, प्रोत्साहित करना, निर्देशित करना, चिन्हित करना, वार्तालाप, आदेश देना, सूचना देना, वर्णन करना, व्याख्या देना, अभ्यास, जांचना, परीक्षा लेना, आलोचना करना, संशोधन करना आदि-आदि। वास्तव में वह सब कुछ जो समझ के विकास में बाधक न हो”।¹⁴ इस प्रकार कह सकते हैं कि सीखना अध्यापक के निर्देशों से भी आगे है। आप और हम एक ऐसे युग में जी रहे हैं जहाँ हमने पढ़ा या नहीं पढ़ा, हम ‘परफोमेंटीविटी’ करते हैं। ल्योतार्ड लिखते हैं कि “नई प्रौद्योगिकी लगातार विकसित हो रही है, इसलिए हमें इस प्रौद्योगिकी के अनुरूप नया ज्ञान विकसित करने की आवश्यकता है। नई तकनीकें हमारे ज्ञान को प्रभावित करती हैं, इसलिए नई तकनीकों द्वारा दी गई चुनौती का सामना करने के लिए हमें प्रासंगिक व वास्तविक ज्ञान की आंतरिक विशेषताओं के प्रति सजग होना होगा”। नई तालीम क्यों सफल नहीं हुई, उसका एक कारण यह भी था कि हमने अन्तोदय तो छोड़ा ही, सर्वोदय भी छोड़ दिया। ज्ञान के साथ यह भी एक अवधारणा जुड़ी है। मान लीजिए यह पूछा जाए कि भारत कब आजाद हुआ? आप न चाहते हुए भी कहेंगे कि 15 अगस्त 1947 और अगर परीक्षा भवन में आपसे आपके साथी यही प्रश्न पूछते हैं और आप चाहते हैं कि मुझे ही प्रथम आना है तो, आप कहेंगे कि भारत 16 अगस्त को आजाद हुआ। ज्ञान आपको यह भी सिखाता है। यदि हम सबका सर्वोदय करेंगे तो फिर हमें कौन पूछेगा? यदि गाँधीजी की अवधारणा को हस्त कौशल कहते रहेंगे तो एक नई प्रतियोगिता जन्म लेगी, किसने कितना चरखा काता, सूत काता, किसने कितनी टोकरियाँ बनाई इत्यादि, इससे शिक्षा की स्थिति फिर से परीक्षामयी होगी और वह निर्मिती का मनोभाव जो बुनियादी शिक्षा का उद्देश्य है पूर्ण नहीं हो पायेगा। किसने कितना सूत काता या टोकरियाँ बनाई, यह बुनियादी शिक्षा का उद्देश्य नहीं है और गाँधीजी कहते हैं कि मैं नहीं चाहता कि स्कूलों में ऐसा काम हो

जहाँ बच्चे पसीना बहाए, पसीना बहाने वाला श्रम नहीं करना है। हमें काम करने वाला श्रम करना है और इसमें श्रम को समझना और सम्मान करना है। यह समझना मुश्किल था इसलिए हमने श्रमिकों का सम्मान करना शुरू कर दिया। कुछ दिन पहले एक समाचार आया कि दिल्ली में बने पुल का उद्घाटन उसमें काम करने वाले श्रमिक के द्वारा किया जायेगा। बात यह नहीं है कि इसका उद्घाटन मुख्यमंत्री करेंगे या श्रमिक के द्वारा किया जायेगा, महत्वपूर्ण यह है कि क्या उस श्रमिक को उतना श्रम मूल्य मिला, जितना उसे मिलना चाहिए था। बात यह नहीं है कि आप सफाई कर्मी से कितना अच्छा व्यवहार करते हैं, महत्वपूर्ण यह है कि क्या उन श्रमिकों को वह आधुनिक यंत्र उपलब्ध करवाए गए हैं या नहीं, क्योंकि पिछले साल 923 लोग सीवरेज में उतरने के कारण मर गए। इसलिए गाँधीजी ने जो श्रम की बात की है उस श्रम की महत्ता को समझने की जरूरत है।

गाँधीजी जब शिक्षा की बात करते हैं तो वह 'तैत्तिरीय उपनिषद्' का हवाला देते हैं और इसमें वह यह प्रश्न पूछते हैं कि सत्य क्या है? जो सत्य की खोज में लगा है, जो सत्यनुदेशी है। अर्थात् अगर कोई भूखा है तो उसके लिए सत्य रोटी है और अगर उसका पेट भर गया तो उसके लिए सत्य ज्ञान है और अगर उसको ज्ञान मिल गया है तो उसके लिए ज्ञान आनंद है। इस उपनिषद् के संदर्भ में गाँधीशिक्षा को जिस तरह से देखते हैं, हमें भी अपनी शिक्षा व्यवस्था को उस ढाँचे में लाने का प्रयास करना होगा और यह कैसे होगा? हर समाधान के साथ एक अंतिम जुड़ाव जुड़ी रहती है लेकिन ज्ञान की अवधारणा के साथ ऐसा कोई जुड़ाव नहीं जुड़ा है जिसमें अंतिम समाधान निकला जा सके। कांट की भाषा में "आप न जानने वाले को खींच कर जानने में लेकर आते हैं, कोई अंतिम पड़ाव नहीं है"। इसलिए गाँधी एक नये तरीके की खोज में थे और यह नया तरीका था आत्मबल को क्रियाशील बनाने का, व्यक्तियों की नैतिक ऊर्जा को मजबूत करने का, दिल और दिमाग के समक्ष अपील करने और एक ऐसा सुखमय वातावरण बनाने का, जिसमें संघर्ष का निपटारा शांतिपूर्ण ढंग से किया जा सके। शायद यही गाँधी की नई तालीम के नवाचारी पुट और गाँधी स्मृति के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी, जो 'सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय' के समाज को रचेगी।

शिक्षा विभाग, शिक्षा अध्ययन शाला,
हिमाचल प्रदेश केंद्रीय विश्वविद्यालय, धर्मशाला, हिमाचल प्रदेश

शिक्षा विभाग, शिक्षा अध्ययन शाला,
हिमाचल प्रदेश केंद्रीय विश्वविद्यालय, धर्मशाला, हिमाचल प्रदेश

संदर्भ :

1. उत्पल कुमार (2008) : 58.
2. महात्मा गाँधी (2010) : 15.
3. चाँद किरण सलूजा (2006) : 233.
4. चाँद किरण सलूजा (2006) : 233-34.
5. महात्मा गाँधी (2010) : 82.
6. कृष्ण कुमार (1998) : 14-15.
7. महात्मा गाँधी (2010) : 158.
8. सुनीलजोशी (2008) : 94.
9. कृष्ण कुमार (2010) : 18.
10. कृष्ण कुमार (2002) : 46.
11. भिखू पारेख (2019) : 187.
12. चाँद किरण सलूजा (2006) : 231.

13. नीता कुमार (1999) : 197-198.

14. माइकेल ऑकशॉट (2002) : 9.

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. उत्पलकुमार (2008) : “ऑटोनोमस डेवलपमेंट”, शिक्षा और भूमंडलीकरण, शब्दसंधान प्रकाशन, नई दिल्ली; पृ. 58।
2. महात्मा गाँधी (2010) : हिन्द स्वराज्य, डायमंड पॉकेट बुक्स प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली।
3. चाँद किरण सलूजा (2006) : शिक्षा, दार्शनिक परिप्रेक्ष्य, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली। पृ. 233-34
4. चाँद किरण सलूजा (2006) : शिक्षा, दार्शनिक परिप्रेक्ष्य, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली। पृ. 233-34
5. महात्मा गाँधी (2010) : मेरे सपनों का भारत, राजपाल एंड सन्ज, दिल्ली। पृ. 82
साधना सक्सेना (2000) : शिक्षा और जन आंदोलन, ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली।
6. कृष्ण कुमार (1998) : बुनियादी शिक्षा की प्रासंगिकता, शिक्षा विमर्श, अंक 3, मई। पृ. 14-15
7. Sharma, N. & Mir. S. A. (2019): Decolonizing Education: Re&schooling in India, *Sinectica*, 52, ISSN 2007&7033- Retrieved from: <http://www-scielo-org-mx/pdf/sine/n52/2007-7033-sine-52-00007-pdf>
8. सुनील जोशी (2008) : जश्न-ए-तालीम : होशंगाबाद विज्ञान का शैक्षिक सफरनामा, एकलव्य, भोपाल। पृ. 94
सुमित सरकार (2009) : आधुनिक भारत : 1885-1947, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली।
9. कृष्ण कुमार (2010) : गाँधी की नई तालीम, शिक्षा विमर्श, वर्ष 12, अंक 4, जुलाई-अगस्त। पृ. 18
10. कृष्णकुमार (2002) : शिक्षा और ज्ञान, ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली। पृ. 46
11. भीखू पारेख (2019) : गाँधी एक परिचय, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली। पृ. 187
12. चाँद किरण सलूजा (2006) : शिक्षा, दार्शनिक परिप्रेक्ष्य, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली। पृ. 233-34
- 13- Kumar, Nita (1999): *Lessons From School: The History of Education in Banaras*, Sage Publication, New Delhi. पृ. 197-98
14. माइकेलऑकशॉट (2002) : मानव और विद्यालय, शिक्षा विमर्श, वर्ष 4, अंक 1, अप्रैल-मई। पृ.09
15. Gandhi, Mohandas (1920) : *Collected Work of Mahatma Gandhi*, Government of India, Volume 20, P-No 15.
16. Sharma, N. & Nair, P. (2015): *ApneApne Ram: The God of Politics*, *Mainstream Weekly*, Vol LIII, No 49, November.

आधुनिक संस्कृत साहित्य में राष्ट्रिय भावना

सज्जय कुमार

संस्कृत साहित्य विश्व साहित्य में अपना श्रेष्ठ स्थान रखता है। इसका व्याकरण और भाषा चिंतन जितना गंभीर और महत्वपूर्ण है उतना ही रमणीय और मनोरम साहित्य सृजन भी है। यद्यपि लौकिक संस्कृत के जन्मदाता महर्षि वाल्मीकि हैं फिर भी कविता में सरसता और मार्मिकता के लिए कालिदास, अश्वघोष, भारवि, माघ, भवभूति, बाणभट्ट और दण्डी के समतुल्य कोई दृष्टिगोचर नहीं होता है। साहित्य सदैव सत्य की रक्षा की प्रेरणा देता है। राष्ट्र के गौरव का पाठ पढ़ाता है और आत्मबल को बढ़ाता है। जहाँ तक बात संस्कृत साहित्य की है तो उस सन्दर्भ में देखा जा सकता है कि 1785 ई. में चार्ल्स विल्किंस ने श्रीमद्भगवद्गीता का, 1789 ई. में सर विलियम जोन्स ने अभिज्ञानशकुन्तल का और 1814 में एच. विल्सन ने संस्कृत के विद्वानों के सहयोग से मेघदूत का अंग्रेजी में अनुवाद किया। आगे चलकर संस्कृत-अंग्रेजी कोश का भी इनके द्वारा निर्माण किया गया। इन अनुवाद प्रसंगों से भारतीयों के मन में अपनी भाषा और साहित्य के प्रति आत्मगौरव का भाव स्वतः उत्पन्न हो गया। जिससे संस्कृत का एक राष्ट्रिय स्वरूप भी उभर कर सामने आया। फलस्वरूप संस्कृत साहित्य जो प्रकारान्तर से अपने लोक पक्ष या राष्ट्रिय पक्ष को रखता था वह मुखर होकर उपस्थित होने लगा। संस्कृत साहित्यकारों के द्वारा विश्व के बदलते हुए सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक परिदृश्य का साहित्य पटल पर अंकन प्रारंभ हो गया। उद्योग यांत्रिकी, याता-यात, आयात-निर्यात, विकास, मजदूर, कृषक, पर्यावरण, स्त्री, दलित और गांधी चिंतन के रूप में राष्ट्रिय भावना को यहाँ नये कलेवर के साथ प्रस्तुत किया गया।

राष्ट्रिय भावना की बात करें तो वह वाल्मीकि रामायण, महाभारत और पुराणों से ही प्राप्त होता है लेकिन इसका व्यापक संदर्भ पं. अंबिकादत्त व्यास प्रणीत 'शिवराजविजय' से सामने आने लगता है। इस काव्य कृति का प्रकाशन 1893 ई. में हुआ जिसे संस्कृत का प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास भी कहा जाता है। जिसके राष्ट्रिय भावना के बीज को इसी वाक्य से समझा जा सकता है जिसमें कहा गया है- 'कार्य वा साधेयम् देहं वा पातेयम्' अर्थात् या तो कार्य सिद्ध करुंगा या स्वयं को ही समाप्त कर लूंगा। शिवाजी का यह व्रत यवनों को भारत से निकालने के सम्बन्ध में था। 'शिवराजविजय' देश भक्ति और राष्ट्रिय भावना से भरपूर महाराष्ट्र केसरी शिवाजी के राष्ट्रिय चेतना के रूप में सामने आया हुआ है। जिसका प्रणयन अम्बिकादत्त व्यास ने भारत में अंग्रेजी राज्य स्थापना के समय में किया है। मुस्लिम तब तक भारत को अपना देश मान चुके थे। यद्यपि मुगलों का समय भी भारतीयों के लिए कोई अच्छा नहीं रहा। जैसे राजपूत शासन से जन-सामान्य को परेशानी उठानी पड़ी थी वही स्थिति मुस्लिम शासन में भी रही। लेकिन अंग्रेजी शासन के आधिपत्य से संपूर्ण हिन्दू समुदाय, मुस्लिम, सिक्ख, जैन, बौद्ध आदि सभी एक साथ प्रभावित हुए। फलतः अंग्रेजों का व्यापक विरोध भारतीय जनमानस के द्वारा प्रारंभ हुआ। संस्कृत के कवियों द्वारा अंग्रेजों के दमन और षडयंत्रकारी नीति का व्यापक विरोध किया गया।

मध्य भारती-84, जनवरी-जून, 2023, ISSN 0974-0066, pp. 59-67

यूजीसी केयर लिस्ट, ग्रुप-सी (मल्टीडिसिप्लिनरी), क्र.सं.-15

1905 ई. में जुझारू स्वदेशी और वहिष्कार आंदोलन के कारण 1908 ई. में और 1910 ई. में प्रेस सम्बन्धित कानून को और कठोर बना दिया गया। जिसके चलते संस्कृत की अनेक पत्रिकाओं- संस्कृत चंद्रिका, सुनृतवादिनी, ज्योतिस्मति आदि पर प्रतिबंध लगा दिया गया। फलस्वरूप संस्कृत कवि के मध्य अंग्रेजी सरकार के प्रति विरोध का स्वर तीव्र होने लगा। संस्कृत कवि और लेखक स्वतंत्रता आंदोलन में सक्रिय तो थे ही इस प्रतिबन्ध के कारण उनकी सक्रियता और बढ़ गयी। चारों ओर संस्कृत विद्वानों के द्वारा संस्कृत महाविद्यालयों में गोष्ठियों का आयोजन होने लगा। राष्ट्र भक्ति की गीत और पद्य भी संस्कृत भाषा में रचे जाने लगे। भारतीय राष्ट्रिय कांग्रेस की स्थापना भी संस्कृत महाविद्यालय में हुई। इस तरह संस्कृत स्वतंत्रता आंदोलन में सम्मिलित हुई। संस्कृत के अनेक लेखकों ने अंग्रेजी शासन के प्रति अपनी गंभीर प्रतिक्रिया भी देनी शुरू कर दी। संस्कृतचंद्रिका तथा सुनृतवादिनी संस्कृत पत्रिकाओं के इस काल के संपादकीय का अध्ययन किया जाय तो लगता है कि उनमें ब्रिटिश शासन के प्रति विरोध बहुत मुखर था। 2 मई 1907 ई. के 'सुनृतवादिनी' के संपादकीय में क्लाइव को लुटेरा बताते हुए अप्पाशास्त्री कहते हैं-

‘एतत् खलु स्मारयन्नानाविधानि कपटजालानि, यस्यैव दौरात्म्याद्विप्रलब्धः श्रीमानमीचन्द्रो नाम । स एवायं यस्य खलु व्यापारः समपातयत परातन्त्र्यबन्धने यवनानामपि राज्यानि ।’

लेखक ने अंग्रेजों को लुटेरा तक कह दिया है। इस प्रकार धीरे-धीरे आधुनिक संस्कृत साहित्य में लिखे गये महाकाव्य, नाटक, उपन्यास, खण्डकाव्य, निबंध, चम्पूकाव्य आदि में राष्ट्रिय भावना के उद्गार स्फुटित होने लगे। यदि महाकाव्यों की बात की जाय तो राष्ट्रिय भावना के रूप में सर्वप्रथम हमारा ध्यान ‘आंग्लस्वाम्राज्यम्’ की ओर जाता है। जिसके प्रणेता राजराज वर्मा हैं। 23 सर्गों के इस महाकाव्य में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रवेश से प्रारंभ होकर इंग्लैण्ड में वणिक संघों की भारत यात्राएं, डच, पुर्तगाली, फ्रेंच का व्यापारिक सम्बन्ध आदि के साथ ईस्ट इण्डिया कम्पनी का भारत में साम्राज्यवादी नीति का विस्तार से वर्णन किया गया है। महाकाव्य के दशवें से बारहवें सर्ग में अंग्रेजों के विरुद्ध हैदरअली और टीपू सुल्तान के संघर्ष को बड़े ही मार्मिक रूप से प्रकाशित किया गया है। हैदर अली और टीपूसुल्तान किस साहस और वीरता के साथ अंग्रेजों से लड़े और वीरगति को प्राप्त हुए उसका यहाँ केवल जिक्र ही नहीं किया गया है बल्कि अपनी जन्मभूमि की रक्षा के लिए प्राणोत्सर्ग करना भी बहुत साधारण बात है, यह बताया गया है। यद्यपि महाकाव्य के अंत में महारानी विक्टोरिया के शासन व्यवस्था की प्रशंसा भी की गयी है। स्वतंत्रता सेनानी तथा आर्यसमाज के प्रति आस्था रखने वाले रमाकांत उपाध्याय ने ‘श्रीदयानंदचरित’ महाकाव्य की रचना की है। यह महाकाव्य राष्ट्रिय भावना से ओत-प्रोत है। इसमें अंग्रेजी सरकार के प्रति कवि का सदैव मुखर रूप दिखलाई पड़ता है। उन्होंने ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध कहा है-

क्वचितु बाबूध्वनिरेष श्रूयते क्वचिच्च बाबेति कटुश्रुतः स्वरः ।

विलोक्यते क्वापि न भारतीयता न राष्ट्रभक्तिः परिवीक्ष्यतेऽधुना ।’

इस प्रकार यह महाकाव्य व्यापक रूप से राष्ट्रिय भावना का सन्देश देता है। इसमें भारत का यथार्थ चित्रण करते हुए कहा गया है-

अस्तु दुर्भिक्षकृशानुना परं बभूव देशो नितरां वदार्थितः ।

प्रपीडिताभून्मथुरापुरी च सा सहस्रशो मृत्युमुखं ययुर्जनाः ।।

तदा महाकालकरालदंष्ट्रया प्रचर्विते हि द्विपदे चतुष्पदे ।

ब्रती मनीषी चणकैर्यथा तथा शरीरयात्रां निरवर्तयद् यतिः ।।’

इसी क्रम में ‘राष्ट्रपतिसभागौरवम्’ महाकाव्य का प्रकाशन 1938 ई. में हुआ। इस के रचयिता लक्ष्मीनारायण शानभाग हैं। इसमें लालालाजपतराय, महात्मा गांधी, नेहरू, सुभाषचन्द्र बोस आदि का जीवन चरित वर्णित है। इन राष्ट्र नायकों द्वारा राष्ट्रिय चेतना का बीज इस महाकाव्य में अंकुरित हुआ है। यह महाकाव्य उसी राष्ट्रिय चेतना के काल में लिखा गया जिस समय अंग्रेजों के शासन से भारत के जन-जन के मन में दुराव उत्पन्न हो

गया था। सभी लोग अंग्रेजी सरकार के नीतियों से दुःखी और प्रताड़ित थे। इसी तरह का भाव हमें पं. क्षमाराव की रचनाओं में भी मिलता है। विशेष रूप से उनके 'सत्याग्रहगीता' (1932), 'उत्तरसत्याग्रहगीता' (1948) और 'जयसत्याग्रहगीता' (1962) महाकाव्यों में राष्ट्रिय प्रेम का दिव्य रूप प्रकट हुआ है। सत्याग्रहगीता में उन्होंने गांधी जी के दाण्डी यात्रा के नमक सत्याग्रह के द्वारा पूरे देश में आंदोलन का वर्णन किया है। दसवें सर्ग में महात्मा गांधी के व्रत का उल्लेख इस रूप में पं. क्षमाराव करती हैं-

निरङ्कुशाः प्रवर्तन्ते यस्मिन् राज्येऽधिकारिणः ।
शासनं तद्वरं नष्टं प्रजाहितं विवर्जितम् ॥⁵

अर्थात् प्रजाहित से विमुख ऐसे राज्य (सरकार) का तो नष्ट हो जाना अच्छा है जिसके अधिकारी निरंकुश होकर काम करते हैं। वहीं रेवाप्रसाद द्विवेदी रामराज्य के महत्त्वशीलता का प्रकाशन उत्तरसीताचरितम् (1968) करते हुए कहते हैं-

तथा च सौराज्यसुखं भुवस्तले स भूमिपालः कृतवान् यथा दिवः ।
अमर्त्यभावात्स्खलिता दिवौकसश्चकाक्षुरेतन्निजकर्मभूमिकाम् ॥⁶

अर्थात् भूमितल पर उस राजा ने ऐसा सौराज्य सुख उपस्थित कर दिया कि देव योनि से लौटते हुए देवताओं ने उसी को अपनी कर्मभूमि बनाना चाहते थे। कवि ने भारत भूमि को तीर्थ स्वीकार करते हुए बतलाया है-

भरतभुवनमस्तितीर्थमार्यं ननु सततं हि चराचरोद्दिधीर्षुः ।
विविधमतिरतो विभिन्नभाषो विषमगतिश्च जनोऽत्र दृष्टिमेति ॥⁷

अर्थात् भारत वर्ष संसार भर के उद्धार का इच्छुक एक तीर्थ है। इसलिए तो यहाँ विभिन्न मत, विभिन्न भाषा और भांति-भांति के आचरण करने वाली जनता विकसित हुआ करती है। पुनः भारत के महत्त्व का प्रकाशन करते हुए रेवाप्रसाद द्विवेदी कहते हैं-

असति सति लघौ पृथौ च वृत्तिर्न विषमतामिह भारते प्रयाति ।
सति सति सति यद् विरुद्धवृत्तिः सरिति शिलेव शिवत्वमेति कश्चित् ॥⁸

अर्थात् असत् हो या सत्, छोटा हो या बड़ा, भारत में किसी के भी साथ व्यवहार में विषमता नहीं अपनाई जाती है क्योंकि यदि सत् सत् ही रहे तो विरोधी व्यक्ति भी कभी न कभी शिवभाव (कल्याणभाव) में परिणित हो जाता है। नदी में शिला की तरह वह सुंदर बन जाता है। 'भीष्मचरितमहाकाव्य' के प्रणेता हरिनारायण दीक्षित द्वारा उन्नत राष्ट्र के लिए राष्ट्रिय प्रतीकों, त्यौहारों आदि के प्रति प्रजा के कर्तव्यों का उल्लेख करते हुए कहा गया है-

देशस्य तीर्थेषु मठेषु धामसु नदीषु भूभृत्सु वनेषु पर्वसु ।
श्रद्धां दधीरन्नखिलाः प्रजाजनाः देशात्मवासोऽत्र मतो महर्षिभिः ॥⁹

अर्थात् सभी प्रजा जनो को अपने देश के त्यौहारों, तीर्थस्थानों, पूजाघरों, विद्यालयों, देवालयों, नदियों, पर्वतों और वनों पर श्रद्धा रखनी चाहिए। ऋषियों, मुनियों और विद्वानों ने इनमें देश की आत्मा का निवास माना है। कवि के द्वारा बहुत महत्त्वपूर्ण बात यहां कही गयी है। राष्ट्र केवल सीमाओं से नहीं बनता बल्कि वहां की परंपरा, सभ्यता, संस्कृति, आदि सभी विषयों के समुच्चय का नाम राष्ट्र है। पूजा के साथ उसकी पारंपरिक जीवनचर्या राष्ट्र का प्रतीक मानी जाती है। इन सबका संरक्षण और संवर्धन आवश्यक है। इसी संदर्भ को व्यक्त करते हुए अभिराजराजेन्द्र मिश्र ने 'वामनावतारण' (1995) महाकाव्य में लिखा है-

कृत्वा हिमाचलमसौ विबुधाधिवासं स्वर्गाधिरोहणसृतिंयुनदीञ्च गंगाम् ।
सोपानवीथिमनंघादिवि सारयन्तीं स्वर्गं भुवञ्च मघवा युगपद् बबन्ध ॥
संरक्षितं त्रितयतोऽपि नदत्समुद्रेः सह्याद्रिविन्ध्यतुहिनाचलसन्धिबन्धम् ।
क्षोणीतलोत्तममसौ विषयं जुघोष देवावतारनिलयं ननु भारताख्यम् ॥¹⁰

अर्थात् हिमाचल को देवताओं का निवास स्थान बनाकर तथा स्वर्ग की ओर अग्रसर होती निस्पाप

सोपानवीथी जैसी देवनदी गंगा को स्वर्गाधिरोहण की सरणि घोषित कर देवराज इंद्र ने स्वर्ग एवं पृथ्वी लोक को परस्पर बांध दिया है। तीनों दिशाओं में पूर्व, दक्षिण एवं पश्चिम में गरजते समुद्रों से संरक्षित सह्याद्रि-विन्ध्य तथा हिमालय के संधि बंधन से अलंकृत उत्तम भूमितल भारतवर्ष को इन्द्र ने भगवान् श्रीहरि के दिव्यावतारों का निलयभूत देश घोषित किया है। इसी प्रकार गिरिजाशंकर मिश्र अपने महाकाव्य 'प्रसन्नभारतम्' में ग्रामांचल, पर्वत, वन, युद्ध और सैनिक जीवन का चित्र उपस्थित करते हुए गांवों में पलाश राशि का चित्रण करते हैं-

ग्रामाद् बहिर्भान्ति समस्थलेषु भृशतुंगरूपाः।

संवीक्षितुं ग्रामनिसर्गशोभां धरामुपेता इव शैलवत्सा।।¹¹

यहाँ पलाश के ऊँचे-ऊँचे वृक्षों से ग्राम की स्वभाविक रूप से शोभा बढ़ गयी है। भारत गांवों का देश है। भारत का स्वाभाविक चित्र गांवों में ही दिखाई देता है। इच्छाराम द्विवेदी 'प्रणव' रचित वामनचरितमहाकाव्य (1997) में भी कवि के द्वारा अनेक राष्ट्रिय संदर्भों को प्रकाशित किया गया है। उन्होंने लिखा है-

वसुन्धरामण्डलमध्यवर्ती देवस्तुतो भारतदेशआस्ते।

समस्तकर्मणि फलन्ति यत्र तत्रैव यज्ञविधिर्भवेद्भि।।¹²

अर्थात् पृथ्वी मण्डल के बीचों-बीच देवताओं द्वारा वंदनीय भारत नामक देश है जहाँ पर समस्त कर्मों का सुंदर फल प्राप्त है। वहीं तुम्हारा यज्ञ होना चाहिए। यहाँ नर्मदा नदी का भी विस्तार से वर्णन किया गया है जो मध्य भारत की चेतना का प्रतीक है। इसी रूप में अनेक महाकाव्य आधुनिक संस्कृत के रूप में लिखे गये हैं यथा- विश्वनाथकेशव का सुभाषचरितमहाकाव्य, सुधाकर शुक्ल का भारतीस्वयंवरम्, रामसेवक मालवीय का भूभाषिणीविलासम् महाकाव्य, परमेश्वरदत्त त्रिपाठी रक्तारक्त-हिमालयम् महाकाव्य, सुबोधचन्द्र पंत का झांसीश्वरीचरितम् महाकाव्य, जयनारायण यात्री का कंसवधम् महाकाव्य आदि। इन महाकाव्यों में राष्ट्रिय भावना के सन्दर्भ केवल प्रेरणादायक ही नहीं हैं बल्कि ये सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से भी भारतीय जीवनचर्या को प्रकाशित करते हैं।

आधुनिक संस्कृत के नाट्य साहित्य में भी राष्ट्रिय भावना के अनेक संदर्भ मिलते हैं। स्वतंत्रताकाल में अनेक ऐसे नाटक भी लिखे गये जिनसे जनमानस में राष्ट्रिय भाव उदित हुये हैं। राष्ट्र के प्रति श्रद्धा और समर्पण के साथ उसके चतुर्विध विकास की कामना ही राष्ट्रिय भावना है। राष्ट्र के कण-कण के प्रति प्रत्येक नागरिक का लगाव, इत्यादि राष्ट्रीय भावना के अंतर्गत आता है। संस्कृत नाटकों का सम्प्रेषणीयता की दृष्टि से विशेष महत्त्व है क्योंकि वह श्रव्य और दृश्य दोनों होता है। इसलिए नाटकों में सामाजिक सरोकार अधिक होता है। इस रूप में राष्ट्रिय भावना के केन्द्र में अनेक नाटक संस्कृत कवियों द्वारा लिखा गया। नारायण दीक्षित के द्वारा सन् 1912 ई. 'मुकुटाभिषेकम्' नाटक लिखा गया है। यह नाटक 12 दिसम्बर 1911 ई. के दिल्ली दरबार में राज्यभिषेक पर आधारित है। इन दिनों के इसमें अनेक राष्ट्रिय भावना के स्वरूप उभरकर सामने आये हुए हैं। बंगाल के प्रख्यात विद्वान् पंचानन तर्करत्न के द्वारा 'अमरमंगलम्' नाटक का प्रणयन 1913 ई. में किया गया है। यह नाटक राणाप्रताप के पुत्र अमर सिंह के जीवन पर आधारित है। इसलिए उसमें राष्ट्रिय भावना के तत्व स्वतः आये हुए हैं। पंचानन तर्करत्न एक स्वतंत्रता संग्राम सेनानी थे। अतः यह उनका नाटक राष्ट्रिय भावना की दृष्टि से महत्वपूर्ण हो जाता है। इस नाटक में राणाप्रताप तथा अकबर के पश्चात् मुगल साम्राज्यों तथा राजपूत साम्राज्यों के मध्य संघर्ष को ऐतिहासिक रूप से प्रस्तुत किया गया है। स्वतंत्रता की चिंता इस नाटक में चारों ओर दिखलाई पड़ती है। यहाँ अमर सिंह कहते हैं-

देशस्य मंगलमये समये चिराय या शान्तिरप्रतिहताभ्युदयं तनोति।

सैवेतरत्र कुरुते प्रबलावसादं धर्मार्थसंक्षयकरीमपि मोहतन्दीम्।।¹³

कवि के द्वारा यहाँ पर राष्ट्र की मंगल कामना की गयी है। गोपीनाथ दाधीच प्रणीत 'माधवस्वातन्त्र्यम्' नाटक भी राष्ट्रिय भावना की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इस नाटक में महाराजा रामसिंह के आकस्मिक निधन हो जाने

पर बात की गयी है। उनकी इच्छानुसार राजकुमार माधव सिंह को राजा बनाया जाता है। नये राजा के विरुद्ध अमात्य फतेहसिंह का षड्यंत्र आदि और उसके निराकरण रूप में अनेक तत्व राष्ट्रिय भावना के रूप में उपस्थित हुए हैं। इसी रूप में लक्ष्मण सूरि का नाटक दिल्लीसाम्राज्यम् (1912) भी महत्वपूर्ण है। यह पांच अंकों का ऐतिहासिक नाटक है। इसमें वायसराय हार्डिंस के प्रयासों से दिल्ली में जार्ज पंचम का आगमन और उसके पदारोहण की घटनाएं प्रतिपादित की गयी हैं। साथ ही इंग्लैण्ड और भारत के सम्बन्ध के साथ अनेक राष्ट्रिय संदर्भों को भी कवि ने प्रकाशित किया है। मथुराप्रसाद दीक्षित के द्वारा 1937 ई. में 'भारतविजय' नाटक लिखा गया। इसमें स्वाधीनता संग्राम का वर्णन करते हुए कवि ने बालगंगाधरतिलक के आशीर्वाद से गांधी के सत्याग्रह के द्वारा भारत को स्वतंत्र होने का दृश्य प्रस्तुत किया गया है। बैकुण्ठनाथ शास्त्री विरचित 'हम्मीरोत्सर्ग' नामक सात अंकों का नाटक है। यह नाटक शरण में आये हुए मुहम्मदशाह की रक्षा के लिए हम्मीर अल्लाउद्दीन के साथ युद्ध करता है। युद्ध में वह वीर गति को प्राप्त करता है। हम्मीर की वीरगति प्राप्त होने पर विपत्ति में पड़ा हुआ अल्लाउद्दीन अनेक प्रकार से विलाप करता है। इस नाटक के अनेक प्रसंगों में राष्ट्रिय भावना का उद्गार आया हुआ है। रामजी उपाध्याय प्रणीत 'मदनमोहनमालवीयकर्तिमंजरी' (2002) नाटक में भी अनेक तथ्य राष्ट्रिय भावना के रूप में सामने आते हैं। विशेष रूप से राष्ट्रिय भावना का स्वर वहाँ देखने को मिलता है जहाँ मालवी जी चौरी-चौरा काण्ड में बनाये गये अभियुक्तों की ओर से जब वे प्रयाग उच्च न्यायालय के प्रांगण में पहुँचे तो वहाँ एकत्र भीड़ विदेशी शासन की आतंकवादी प्रवृत्तियों का परिचय कराती हुई बीच-बीच में गा रही थी-

देशोद्धारपराक्रान्तौ हुतात्मशौर्यशालिनः ।
स्मर्यन्ते प्रतिवर्षं श्रद्धाञ्जलिः परात्परः ॥
मेलके महतां तत्र यूनां प्रोत्साहनं वरम् ।
देशार्थं बलिदानस्य शाश्वती स्यात् परम्परा ॥
सुराज्यं भारतं कर्तुं यतन्ते ये दिवानिशम् ।
ते पराक्रमधौरेयाः बाध्यमानाः सन्ति दण्डिताः ॥
स्वदेशशोषणे व्यग्राः सततं स्वार्थसाधकाः ।
शासकैस्तेऽभिनन्द्यन्ते वस्तुतो ये कलंकिनः ॥
शीघ्रं विघटयिष्यामः पारतन्त्र्यस्य शृङ्खलाम् ।
हुतात्मनां हृदि व्यापिमनीषितं न विस्मरेत् ॥¹⁴

ऐसे वातावरण में न्यायालय में पहुँचकर मालवीय जी अपने वाक्चातुर्य से 173 अभियुक्तों को फांसी की सजा मुक्त करा देते हैं। इसी प्रकार रामजी उपाध्याय के नाटक अशोकविजयम् (2000) में भी अनेक राष्ट्रिय भावना के तत्त्व उभर कर सामने आये हुए हैं। इस नाटक के प्रारंभ में ही मंच पर अशोक का आगमन होता है। वह अपने युद्धनीति और पराक्रम से उत्साहित है। वह अपने को अपराजय कहता है-

पितृ-पैतामह-विजयपथमनुवर्तमानोऽहं कलिंगराजं पराजितवानस्मि, सम्प्रति तस्य राज्यं मम साम्राज्यस्यांगीभूतम् कलिङ्गस्तु दुर्जया आसन् । तेषां स्वायत्तीकरणेन मम मगधराज्यं बृहत्तमं संवृत्तम् । कलिङ्गेषु मम सैनिकैरनुपमः पराक्रमः प्रादर्शितः । पराभवभयात् कश्चिद् वैदेशिको राजा भविष्येऽप्यस्मान्नाक्रमितुं नोत्सहिष्यते । भयं स कालः सम्प्राप्तो यद्दहमात्मानं विश्वविजयाय नियोजयेयम् ॥¹⁵

अर्थात् अपने पिता और पितामह के विजय-पथ पर चलते हुए मैंने कलिंगराज को परास्त किया और उसके राज्य को अपने साम्राज्य में मिला लिया है। अब मैं भारत का राजराजेश्वर हूँ। पहले से ही मैंने तक्षशिला, कश्मीर, नेपाल आदि प्रदेशों को जीतकर मौर्य साम्राज्य का विस्तार बढ़ाया है। वे छोटे-छोटे राज्य थे। कलिङ्ग तो अपराजेय था। उसे जीत लेने पर मेरा साम्राज्य दूना हो गया है। युद्ध भूमि में मेरे सैनिकों ने अपूर्व उत्साह का प्रदर्शन किया है। अब कोई भी विदेशी राजा हमारी सेना का सामना करने का साहस नहीं करेगा। यही समय है कि हमें

विश्व विजय पथ पर चलना चाहिए। यद्यपि अशोक की विश्वविजय-अभिलाषा धर्म विजय के रूप में परिवर्तित हो जाती है। अशोक युद्ध की विभीषिका का परिणाम जानकर अपने जन-धन की हानि को रक्षित करते हुए संपूर्ण विश्व से युद्ध न करने की कामना करता है। इस तरह रामजी उपाध्याय के द्वारा यहाँ पर युद्ध विजय से धर्म विजय के द्वारा विश्व विजय की भावना व्यक्त की गयी है। रेवाप्रसाद द्विवेदी 'सनातन' प्रणीत सप्तर्षिकांग्रेसम् (2000) भी राष्ट्रिय भावना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नाटक है। यद्यपि यह नाटक 1977 ई. में कांग्रेस पार्टी के पराजय से आरंभ होता है लेकिन भारतीय राजनेताओं जगजीवनराम, हेमवतीनंदन बहुगुणा, चौधरीचरण सिंह आदि के द्वारा राष्ट्रिय विषयों पर जो प्रश्न उठाये गये हैं वह अभिनेय रूप में महत्त्वपूर्ण हैं। इसी रूप में बी.आर. शास्त्री का 'सत्याग्रहोदयः' (1969) एस. रंगनाथ का 'जयन्तु कुमाऊँनीया', पद्मशास्त्री का 'बाङ्ग्लादेशविजयः' और 'लोकतंत्रविजय' आदि राष्ट्रिय भावना से ओत-प्रोत नाटक लिखे गये हैं। जिनका आधुनिक संस्कृत साहित्य में विशेष महत्त्व है। इस तरह देखा जाय तो आधुनिक संस्कृत परम्परा के नाटक भी राष्ट्रिय सन्दर्भ, महत्त्व आदि की दृष्टि से उल्लेखनीय है।

आधुनिक संस्कृत गद्य काव्यों में राष्ट्रिय भावना का उदय 'शिवराजविजयम्' से होता है जिसका पहले उल्लेख किया जा चुका है। इस संस्कृत के प्रथम उपन्यास के नायक शिवाजी हैं और प्रतिनायक औरंगजेब है। पूरे उपन्यास में औरंगजेब का कुचक्र और समनकर्ता शिवाजी का व्यक्तित्व दिखलाई पड़ता है। शिवाजी अपने साथियों को तथा सेनाओं को साथ लेकर चलने वाले एक कुशल प्रशासक के रूप में सामने आते हैं जिनका एक मात्र लक्ष्य महाराष्ट्र को मुगलों से सुरक्षित रखना है। उन्हें यहाँ महाराष्ट्र केसरी भी कहा गया है। महामहोपाध्याय लक्ष्मणसूरि द्वारा प्रणीत 'भीष्मविजय' गद्य काव्य के षष्ठ और सप्तम उच्छ्वास में कवि द्वारा अनेक राष्ट्रिय भावनात्मक विषयों को उपस्थित किया गया है। इसके षष्ठ उच्छ्वास में महाभारत संग्राम के राष्ट्रिय भावना के अनेक संदर्भ दिखलाई पड़ते हैं तथा भीष्म के उपदेश स्वरूप सप्तमोच्छ्वास में भी अनेक राष्ट्रिय विषय को उपस्थित किया गया है। नदी, वृक्ष, वनस्पति-पूजा को संरक्षण के साथ राष्ट्रिय उन्नति के अनेक प्रसंग कवि के द्वारा यहाँ प्रतिपादित किया गया है। संस्कृत गद्य लेखकों में श्रीनाथहसूरकर का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनका समय 1924-1988 ई. के मध्य रहा है। उन्होंने 'अजातशत्रु', 'सिन्धुकन्या', 'प्रतिज्ञापूर्तिः', 'दावानलः', 'चेन्नम्मा', 'व्रती' आदि उपन्यास लिखा है। ये सभी उपन्यास ऐतिहासिक तथा राष्ट्रिय भावना का अद्भुत दृश्य उपस्थित करने वाले गद्य काव्य हैं। राष्ट्रिय भावना से ओत-प्रोत रामजी उपाध्याय प्रणीत 'द्वासुपर्णा' उपन्यास (1960) का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें लेखक के द्वारा सुदामा और कौमुदी के जीवन चरित्र से अनेक राष्ट्रिय प्रसंगों को उभारा गया है। यथा शिक्षा, स्वास्थ्य, संस्कृति, पर्यावरण आदि के साथ राष्ट्रिय भावना के तत्त्वों को भी लेखक ने प्रस्तुत किया है। यहाँ भारत की प्रशंसा करते हुए कहा गया है- ययि सुहृद्वरा सौभाग्येन भवतां जन्म भारते मानव यौनौसमभवत् किं न दैवः प्रगतिमिदं श्रुयते-

गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे ।

स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषा सुरत्वात् ।।

अत्रापि भारतं श्रेष्ठं जम्बूद्वीपे महामुने ।

यतोहि कर्मभूरेषा ह्यतोऽन्या भोगभूमयः ।।¹⁶

अर्थात् हे मित्रो सौभाग्य से आपका जन्म भारतवर्ष में मानव योनि में हुआ है। क्या देवताओं के द्वारा गाये जाते हुए आपने नहीं सुना- देवता गीत गाते हैं कि स्वर्ग और मोक्ष की स्थिति के लिए साधन बने हुए भारत खण्ड के लोग धन्य हैं। यह मानवभूमि देवताओं की भूमि से बढ़कर है। हे महामुने जम्बूद्वीप में भारत श्रेष्ठ है क्योंकि यह कर्म भूमि है। अन्य स्थल-भोग भूमियां हैं। इस तरह कवि ने यहाँ अनेक प्रकार भारत देश के गौरव और महत्त्व को व्यक्त किया है। कवि ने यहाँ यह भी बतलाया है कि मानव जीवन और सभ्यता के लिए भारत क्यों श्रेष्ठ है। तो इसके उत्तर में बताते हैं यहाँ चारों पुरुषार्थों का सम्यक् पालन किया जाता है। इनके पालन से मनुष्य सत्य में प्रतिष्ठित हो जाता है। रामजी उपाध्याय का दूसरी उपन्यासिका 'सत्यहरिश्चन्द्रोदयम्' है। यहाँ भी लेखक ने अनेक राष्ट्रिय पक्षों को साहित्य पटल पर लाया है। रामजी उपाध्याय के शिष्य राधावल्लभ त्रिपाठी के द्वारा अनेक गद्य

काव्य लिखे गये हैं लेकिन उनका 'विक्रमचरित' (2000 ई.) अनेक राष्ट्रिय पक्षों को लेकर उपस्थित होता है। कवि द्वारा अपने 'विक्रमचरित' में सिंह शूकर के समर की कथा को राजनीतिक, राष्ट्रिय और सामाजिक परिप्रेक्ष्य को व्यंग्य कथा रूप में सामने लाया गया है। स्वतंत्रता सेनानी हरिदत्त पालीवाल 'निर्भय' आधुनिक संस्कृत में प्रतिष्ठित गद्यकार हैं। उनकी कई कहानी संग्रह प्रकाशित हैं- 'बन्दीजीवम्' तथा 'जीवनं मरणं च'। इन दोनों कहानी संग्रहों में राष्ट्र प्रेम और भक्ति को बड़े मार्मिक रूप से प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत गद्य काव्य में भी राष्ट्रिय संदर्भों एवं तथ्यों को विशेष रूप से उपस्थित किया है। इसीक्रम में अभिराजराजेन्द्रमिश्र, प्रभुनाथ द्विवेदी, वनमाली विश्वास, रविन्द्र पण्डा, नारायण दास, राकेश दास, कैलाशनाथ द्विवेदी आदि की कथाओं में सामाजिक समस्याओं के संदर्भ में राष्ट्रिय परिदृश्य का चित्रांकन भी महत्वपूर्ण है। कवि अपने सामाजिक दृष्टि से भी राष्ट्रिय भावना का स्वरूप निर्मित करता है क्योंकि समाज भी एक राष्ट्र का अंग है। अपना आस-पड़ोस, गांव-गिराव, शहर उसी राष्ट्र के अन्तर्गत आते हैं और उन्हीं का राष्ट्र प्रतिनिधित्व करता है। राष्ट्र एक निश्चित भू-भाग में बसने वाली केवल जनता का नाम नहीं है अपितु उस भू-भाग का कण-कण राष्ट्र का अमर स्वरूप है।

यदि हम आधुनिक संस्कृत के रूप में मुक्तक काव्य आदि को देखें तो यहाँ भी अनेक राष्ट्रिय भावना से भरे हुए काव्यों का प्रणयन संस्कृत कवियों के द्वारा किया गया है। इस रूप में महायोगी श्री अरविंद प्रणीत 'भवानीभारती' का स्थान सर्वोपरि है। इसमें 99 श्लोक हैं और सभी श्लोकों में राष्ट्रिय विषयों, समस्याओं आदि को उपस्थित किया गया है। कवि ने भारतमाता के स्वर में प्रत्येक भारतीय के लिए अद्भुत संदेश दिया है। कवि भारतीय स्वतंत्रता और संघर्ष को यहाँ उपस्थित करते हुए राष्ट्रिय तत्त्वों के महीनय स्वरूप को उपस्थित किया है-

उत्तिष्ठ भो जागृहि सर्जयाग्नीन् साक्षाद्वितेजोऽसि परस्य शौरैः।

वक्षःस्थिते नैव सनातनेवशत्रून् हुताशेन दहन्तस्व॥

भो भो अवन्त्या मगधाश्च बंगा अंगा कलिंगा कुरवश्च सिन्धोः।

भो दाक्षिणात्याः शृणुतान्ध्रचोला वसन्ति ये पञ्चनदेषु धीराः॥

कवि ने 'भवानीभारती' के माध्यम से राष्ट्रिय जागरण का संदेश दिया है। यह महायोगी श्री अरविंद का शंखनाद है। यह राष्ट्र के भवितव्य का स्वप्न और देश की अखण्डता का आह्वान है। इसी समय में बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय के द्वारा 'वन्देमातरम्' राष्ट्रिय गीत का भी प्रणयन किया गया था। यह गीत 1882 प्रकाशित आनन्दमठ उपन्यास का हिस्सा है। यह आनन्दमठ उपन्यास हिन्दू सन्यासियों द्वारा मुस्लिम शासकों को हटाने के गाथा के रूप में प्रसिद्ध है। इस वन्देमातरम् राष्ट्रिय गीत में उन्होंने भारत को दुर्गा का स्वरूप मानते हुए देशवासियों को उस माँ का संतान बताया गया है। जिसके अंधकार पीड़ा, दुःख आदि से बचाने के लिए प्रार्थना की गयी है। यही गीत देखते-देखते पूरे राष्ट्र का प्रतीक बन गया। गलगलिरामाचार्य के द्वारा अनेक लहरी काव्य लिखे गये हैं। जिसमें राष्ट्रिय भावना के रूप में 'स्वदेशलहरी' (1921) का महत्वशील स्थान है। इस लहरी काव्य में स्वदेशी आंदोलन के साथ विदेशी शासन तंत्र का घोर विरोध गुंजित है। ताराचरण भट्टाचार्य द्वारा 'भारतवसुन्धरासान्त्वनम्' की रचना की गयी है। जिसे भारतगीतिका भी कहा जाता है। 167 पद्यों में निबद्ध यह काव्य राष्ट्रभाव की स्वर्णिम आभा प्रस्तुत करता है। जिसके प्रारंभ में ही कवि के द्वारा कहा गया है-

जयभारतभूमे भासि विश्वभुवननन्दिता।

मुहुर्मुराः सन्ति सुमुखि तव वैभवविस्मिताः।

हिमगिरिवरहीरकमयमुकुटस्तव भासते

सुरसरिदियमुरसि विमलहारस्तवराजते॥¹⁷

कवि के द्वारा यहाँ पर भारत वैभव को प्रदर्शित किया गया है। इसी तरह श्री प्रीतमलाल नरसिंहलालकच्छी के 'मातृभूमिकथा' का स्थान है। इसमें 608 पद्य हैं। जिसमें प्राचीन समय के अशोक राजा से लेकर 1930 ई. तक ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन किया गया है। जिसके अंतिम भाग में रोलेट एक्ट के विरुद्ध

जलियावाला बाग में हुई नृशंस गोलीकाण्ड की घटना का मार्मिक चित्रण किया गया है। गांधी इरविन समझौता तथा असहयोग आंदोलन की अनेक घटनाओं को राष्ट्रिय संदर्भ में कवि ने उठाया है। आधुनिक संस्कृत के मुक्तक काव्य परंपरा में शिवप्रसाद भारद्वाज का राष्ट्रिय भावना के दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है। इन्होंने 'भारतसंदेश' नामक 320 मन्दाक्रान्तात्मक छंदकाव्य लिखा है। जिसमें भारतीय स्वतंत्रता, राष्ट्रिय चेतना आदि विषयों के बड़े प्रभावकारी रूप से प्रस्तुत किया गया है। यथा राष्ट्र गौरव की भावना से ओत-प्रोत एक छंद देखा जा सकता है-

देशः सोऽयं विदितमहिमा योनिराश्चर्यभूम्नां
क्षोणीचूडाभरण शिखरस्फारहीरायमाणः।
यस्मिन्नन्धं तम उपचितिं छिन्नविज्ञानरेखं
छिन्दन् मित्रेऽपर इव परं ज्योतिराविर्बभूव।¹⁸

इसमें कवि अनेक राष्ट्रिय विषय को उपस्थित किया है। इसी तरह राष्ट्रभक्ति और राष्ट्रिय भावना से प्रेरित सुरेशचन्द्रशर्मा त्रिपाठी की 'वीरोत्साहवर्धनम्' परमेश्वरदत्त त्रिपाठी की 'रक्तहिमलायः', श्रीशशिधरशर्मा की 'वीरतरंगिणी', श्रीयज्ञेश्वरशास्त्री का 'राष्ट्ररत्नम्' ए.बी. कृष्णवारियार का 'राष्ट्रवैजयंती', कपिलदेव द्विवेदी के 'राष्ट्रगीतांजलिः', आचार्यमधुकरशास्त्री का 'पथिककाव्यम्', बच्चूलाल अवस्थी का 'कस्य लीलेयम्', 'केवलं बुध्येरन्', 'नागः हाराय ते' प्रेमनारायण द्विवेदी का काव्य संग्रह द्वितीय खण्ड- स्फूटकाव्यानि आदि प्रमुख हैं। इसी तरह रामकरण शर्मा, श्रीनिवासरथ, हर्षदेव माधव, राधावल्लभ त्रिपाठी आदि की कविताओं में भी अनेक राष्ट्रिय सन्दर्भ उद्घाटित हुए हैं। आधुनिक कविता कामिनी के कुलगुरु नाम से विख्यात पद्मश्री अभिराजराजेन्द्रमिश्र के यदि वाग्वधूटी के राष्ट्रिय भावना की दृष्टि से बात की जाय तो वह भी महत्वपूर्ण है। इसमें उन्होंने अनेक राष्ट्रिय संदर्भों को उठाया है। यथा-

अद्यापि यस्य नातिं विस्मापयति अनल्पम्।
उद्धोष्य विश्वशान्तिं भावं च मित्रकल्पम्।।
वन्दे ध्वजं त्रिवर्णं वन्देऽगृहीतकेशम्।
वन्दे सदा स्वदेशम् एतादृशं स्वदेशम्।।¹⁹

यहाँ पर कवि देश की वन्दना करते हुए उसके गौरव को व्यक्त किया है। पद्मश्री रमाकांतशुक्ल प्रणीत 'भूतले भाति मेऽनारतं भारतम्' काव्य राष्ट्रिय चेतना के रूप में एक प्रवाह पूर्ण भंडार है। इसके भाव और वर्ण्य विषय सभी राष्ट्रिय भावना के संवहन के रूप में सामने आते हैं। इस तरह मुक्तक काव्य और संस्कृत पद्य आदि भी राष्ट्रिय भावना आदि की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक संस्कृत साहित्य के महाकाव्य, नाटक, उपन्यास, कथा, मुक्तक काव्य आदि सभी के साथ-साथ संस्कृत पत्रिकाओं का राष्ट्रिय भावना के विषय, भाव और चेतना के प्रस्तुतिकरण में विशेष स्थान रहा है। आधुनिक संस्कृत कवि उन राष्ट्रिय पक्षों को उभारने का प्रयास किया है जिससे देश का गौरव बढ़ता है। यहाँ राष्ट्रिय भावना के रूप में निश्चित भू-भाग के साथ जनता, वृक्ष, वनस्पति, पशु-पक्षी, पर्वत, पठार आदि के गौरव को प्रतिष्ठित किया गया है। इन सबसे राष्ट्र सम्बद्ध होता है। इसलिए संस्कृत कवि भारतीय स्वतंत्रता के साथ राष्ट्र के अमर स्वरूप को अपनी रचनाओं के माध्यम से प्रकाशित करने का कार्य किया है। जिससे राष्ट्र का विविध वैभव प्रकाशित हुआ है। अतः राष्ट्र के विविध वैभव का प्रकाशन ही आधुनिक संस्कृत साहित्य में राष्ट्रिय भावना को व्यक्त करता है।

सन्दर्भ :

1. शिवराजविजयम्, चतुर्थ निःश्वास-प्रारम्भ
2. त्रिपाठी राधावल्लभ, संस्कृत साहित्य का समग्र इतिहास, पृ. 1709
3. श्रीदयानंदचरितम् 3/78
4. वही, 3/18-19
5. सत्याग्रहगीता, 10/17
6. उत्तरसीताचरितम् 2/6
7. वही, 6/65
8. वही, 6/69
9. भीष्मचरितम्, 18/37
10. वामनावतरणम् 17/26-27
11. प्रसन्नभारतम् 12/38
12. वामनचरितम् 10/17
13. अमरमंगलम् (त्रिपाठी राधावल्लभ, संस्कृत साहित्य का समग्र इतिहास, पृ.1878)
14. मदनमोहनमालवीयकीर्मिमंजरीनाटकम्, 3/1-5
15. द्वासुपर्णा, पृ. 158-159
16. भवानीभारती, 18,23
17. भारतवसुन्धरासान्त्वम्, 9
18. भारतसंदेशः, 3
19. वाग्वधूटी पृ. 13

मध्यप्रदेश लोक सेवाओं के प्रदान की गारंटी अधिनियम, 2010 के क्रियान्वयन में लोक-निजी भागीदारी (पी.पी.पी.मॉडल) की भूमिका

शीतल द्विवेदी, टी. सरकार

लोक-निजी सहभागिता की अवधारणा आधुनिक नहीं है बल्कि इसका विकास धीरे-धीरे हुआ है और यह अपने विकसित रूप में 20वीं सदी के अंत व 21वीं सदी की शुरुआत में सामने आया है। 16वीं व 17वीं शताब्दी में फ्रांस में नहरों, सड़कों व पुलों का निर्माण और सिंचाई हेतु जल वितरण का कार्य सरकारी संगठन के साथ निजी संस्थाएँ करती थी। 19वीं सदी में लन्दन में जल वितरण कार्य में निजी भागीदारी अस्तित्व में रही है। 19वीं व 20वीं सदी में ही “संयुक्त राज्य अमेरिका, मैक्सिको, चिली, उरूग्वे, फिलीपीन्स, ब्राजील आदि देशों में जन उपयोगी कार्यों में लोक-निजी सहभागिता देखने को मिलती है। लेकिन व्यापक रूप से इसका प्रचलन 1970 में शुरू हुआ। उस समय इन देशों में शहरी विकास योजनाओं में वित्त की समस्या आने लगी थी तब विकल्प के रूप में लोक-निजी साझेदारी व्यवस्था को अपनाया गया था।

लोक-निजी सहभागिता की अवधारणा का महत्व वर्तमान परिप्रेक्ष्य में राज्यों की प्रकृति में परिवर्तन, प्रतिस्पर्धा व वैश्वीकरण की नीतियों के सन्दर्भ में राज्यों की नीतियों में परिवर्तन आदि के कारण अधिक बढ़ जाता है।

विभिन्न विद्वान लोक-निजी सहभागिता को विभिन्न क्षेत्रों में विकासशील देशों में अपनाने का समर्थन करते हैं तथा बताते हैं कि राज्य का लोक सेवा, सामाजिक सुधार एवं विकास के मोर्चे पर अपने कार्य का सफलतापूर्वक निष्पादन करना एक महत्वपूर्ण कार्य है।

समसामयिक परिप्रेक्ष्य में वैश्वीकरण की नीतियों के चलते निजी क्षेत्र का सहयोग लेना/अनुबन्ध करना सार्वजनिक क्षेत्र की आवश्यकता है। सामान्यतः ऐसा माना जाता है कि निजी क्षेत्र के साथ साझेदारी के माध्यम से इन कार्यों में मितव्ययी कुशलता प्राप्त की जा सकती है।

लोक-निजी भागीदारी की अवधारणा का प्रयोग वर्तमान में अधिकांश देशों के द्वारा लोकनीति को लागू करने से संबंधित विभिन्न प्रकार की योजनाओं में उपयोग किया जा रहा है। सामाजिक, शहरी विकास, ढाँचागत विकास (सड़क निर्माण अन्य निर्माण परिक्षेत्र) शिक्षा, स्वास्थ्य आदि के क्षेत्र के कार्यों में लोक-निजी भागीदारी का स्वरूप देखने को मिल रहा है। ऐसे में राष्ट्रीय एवं अन्तराष्ट्रीय स्तर पर लोक व निजी सेवा के मध्य अन्तर कम हो रहा है।

सुशासन की दिशा में मध्यप्रदेश सरकार ने एक क्रान्तिकारी पहल करते हुए प्रदेश के नागरिकों को प्रदान की जाने वाली चुनिन्दा सेवाओं को समय-सीमा में प्रदान करने की गारंटी देते हुए सम्पूर्ण प्रदेश में दिनांक 25 सितम्बर, 2010 को “मध्यप्रदेश लोक सेवाओं के प्रदान की गारंटी अधिनियम, 2010” लागू किया। ऐसा कानून

बनाकर लागू करने वाला मध्यप्रदेश देश का पहला राज्य बन गया है। इस महत्वपूर्ण पहल का अनुसरण कर देश के अन्य राज्यों ने भी इस अधिनियम को अपने-अपने राज्य क्षेत्रों में लागू किया है। ये हैं, - पंजाब, बिहार, उत्तराखण्ड, छत्तीसगढ़, राजस्थान, जम्मू-कश्मीर, झारखण्ड, उत्तरप्रदेश और दिल्ली।

यह अधिनियम नागरिकों को सेवा प्रदान की गारंटी ही नहीं देता वरन् एक निश्चित समय-सीमा के अंदर सेवा प्रदान करने की भी गारंटी देता है। इस अधिनियम के अनुसार लोकसेवकों को समय-सीमा में कार्य करने के लिए बाध्य किया गया है, और ऐसा न कर पाने पर लोकसेवकों पर आर्थिक दण्ड का प्रावधान है।

अधिनियम का उद्देश्य :- मध्यप्रदेश लोक सेवाओं के प्रदान की गारंटी अधिनियम, 2010 में 11 धाराएँ हैं। इस अधिनियम का उद्देश्य सरकार द्वारा अधिसूचित सेवाएँ आम नागरिकों को एक तय समय-सीमा के अंदर उपलब्ध कराना है। अधिनियम की धारा 4 में पदाभिहित अधिकारी धारा 3 के अधीन अधिसूचित कोई सेवा प्राप्त करने के लिए पात्र व्यक्ति को, निश्चित की गई समय-सीमा के भीतर ऐसी सेवा प्रदान करायेगा।

अतः अधिनियम का मुख्य लक्ष्य नागरिकों को समय पर सेवाएँ प्रदान करना है। इसी लक्ष्य की पूर्ति हेतु लोक सेवा प्रबंधन विभाग ने अधिनियम के सुचारू क्रियान्वयन करने हेतु प्रशासकीय मशीनरी के कार्यभार में कमी एवं सेवा प्रदाय के आवेदनों का त्वरित निराकरण करने हेतु लोक-निजी भागीदारी अवधारणा का प्रयोग किया है। प्रशासनिक सुधारों के तहत नवाचार करते हुये विभाग ने सेवा प्रदाय केन्द्र के रूप में लोक सेवा केन्द्र की स्थापना की है। इन केन्द्रों में अधिनियम में अधिसूचित सेवाओं में से उन समस्त सेवाओं के आवेदन प्राप्त किये जाते हैं जो सेवाएँ ऑनलाइन माध्यम से प्रदान की जा रही हैं।

लोक सेवा केन्द्र (LSK) :- लोक सेवा केन्द्र का गठन, संरचना, कार्यकाल, कार्य, अन्य सुविधाएँ व प्रावधान -

लोक सेवा केन्द्र का गठन :- लोक सेवा प्रबंधन विभाग के आदेशानुसार 25 सितम्बर 2012 से प्रथम चरण में राज्य के प्रत्येक जिले में कम से कम एक लोक सेवा केन्द्र (जिला मुख्यालय स्तर पर) का औपचारिक रूप से शुभारम्भ किया जाय, जिसकी अनुपालना स्वरूप उज्जैन जिले में भी लोक सेवा केन्द्र की स्थापना की गई।

लोक सेवा केन्द्र की संरचना :- लोक-निजी अवधारणा के आधार पर गठित लोक सेवा केन्द्र निजी कम्पनियों द्वारा संचालित होते हैं। LSK की स्थापना हेतु इन कम्पनियों का चयन शासन द्वारा निविदा प्रक्रिया के माध्यम से किया जाता है। लोक-निजी सहभागिता वास्तव में सरकार व निजी क्षेत्र के बीच एक अनुबन्ध है जिसके तहत विभिन्न सेवाएँ व कार्यों में सरकार व निजी क्षेत्र मिलकर कार्य करते हैं। LSK की निजी कम्पनियों हेतु नियमों व अन्य प्रावधानों का समुचित उल्लेख विभाग द्वारा तैयार REQUEST FOR PROPOSAL में किया गया है। प्रत्येक जिले के विकास खण्ड स्तर व शहरी स्तर पर संचालित LSK के भवन एवं फर्नीचर की व्यवस्था शासन द्वारा की गई है। इन केन्द्रों में निजी कम्पनी के 5 कर्मचारी, जिनमें से 1 मुख्य संचालक, 1 लोक जनसम्पर्क अधिकारी (PRO) व 3 कम्प्यूटर ऑपरेटर कार्यरत हैं। इन कर्मचारियों का एक सुनिश्चित ड्रेस निर्धारित है। इन केन्द्रों में ऑनलाइन प्रक्रिया से कार्य सम्पन्न करने हेतु आवश्यक यंत्रों की व्यवस्था कम्पनी को स्वयं करना होता है, जैसे- कम्प्यूटर, प्रिंटर, स्कैनर, इंटरनेट कनेक्शन, जल, बिजली कनेक्शन आदि। विभाग ने राष्ट्रीय सूचना केन्द्र (NIC) से विशिष्ट प्रकार का साफ्टवेयर निर्मित करवाया है जिसके माध्यम से ऑनलाइन सेवा प्रदाय की सम्पूर्ण प्रक्रिया सम्पन्न होती है।

कार्यकाल :- शासन द्वारा इन कम्पनियों से 3 साल का अनुबन्ध किया जाता है। उक्त अवधि पूर्ण होने के पश्चात अगले सत्र के लिए इन कम्पनियों की कार्य प्रतिपुष्टि के आधार पर सरकार पुनः चयन कर सकती है या नवीन अनुबन्ध के लिए कम्पनियों से निविदा आमंत्रित करती है।

कार्य :- लोक-निजी सहभागिता वास्तव में सरकार व निजी क्षेत्र के बीच एक अनुबन्ध है जिसके तहत विभिन्न सेवाओं व कार्यों में सरकार व निजी क्षेत्र मिलकर कार्य करते हैं। इस मिश्रित कार्य विभाजन के आधार पर गठित लोक सेवा केन्द्रों में नागरिकों के सेवा प्रदाय के आवेदन व उससे संबंधित अभिलेख लिये जाते हैं और इनकी ऑनलाइन प्रविष्टि की जाती है। समस्त संबंधित अभिलेखों को स्कैन कर ऑनलाइन आवेदन किया जाता है।

अधिनियम की धारा 5 में उल्लिखित आवेदन की पावती अनिवार्य रूप से दी जाती है। इस तरह ऑनलाइन प्रविष्टि से संबंधित पदाभिहित अधिकारी तक आवेदन पहुँचाये जाते हैं जिसके आधार पर वह अग्रिम कार्यवाही कर प्राप्त आवेदन का निराकरण करता है। इसके अतिरिक्त यह व्यवस्था भी है कि विभाग द्वारा किसी कर्मचारी को नियमित रूप से LSK भेजकर अपने विभाग से संबंधित आवेदन प्रपत्र हार्डकॉपी में प्राप्त किये जाते हैं व पूर्व के आवेदनों की सेवाएँ, निराकृत निर्णय आदि हार्डकॉपी में LSK तक पहुँचाये जाते हैं। आवेदन के उपरान्त प्राप्त सेवाएँ व आवेदन निरस्तीकरण की सूचना, निरस्ती का कारण आदि की जानकारी LSK के कर्मचारी द्वारा आवेदक को उपलब्ध करायी जाती है।

अधिनियम क्रियान्वयन के सन्दर्भ में लोक-निजी भागीदारी का विश्लेषण :-

लोक-निजी भागीदारी की अवधारणा के तहत संचालित सेवा प्रदाय की इस नवीन व्यवस्था का व्यावहारिक अनुभव जानने हेतु हितग्राहियों, शासकीय अधिकारियों व LSK के कर्मचारी उत्तरदाताओं से लोक-निजी भागीदारी अवधारणा व लोक सेवा केन्द्र से संबंधित उनके मत को जानने का प्रयास किया गया है। वस्तुतः अध्ययन में निम्नलिखित शोध प्रविधि का उपयोग किया गया है।

शोध प्रविधि-

अध्ययन का समग्र उज्जैन जिला है। अवलोकन की इकाईयाँ तीन श्रेणियों की है। (1) हितग्राही (2) सेवा प्रदाता (2a) शासकीय अधिकारी (2b) लोक सेवा केन्द्र के कर्मचारी।

प्रतिचयन की प्रविधि -

प्रथम स्तर पर हितग्राहियों का चयन दैव-निदर्शन पद्धति से किया गया है। विभिन्न विभागों के आवेदनों की सूचियों पर यादृच्छिक संख्या अंकित कर कुल 8 केन्द्रों में प्रत्येक से 20 हितग्राही, द्वितीय स्तर पर सेवा प्रदाता अधिकारियों का उद्देश्यपूर्ण प्रतिचयन किया गया है। सम्पूर्ण जिले में द्वितीय अपील का आवेदन प्राप्त न होने के कारण द्वितीय अपीलीय प्राधिकारी को सम्मिलित नहीं किया गया है। लोक सेवा केन्द्र में एक मुख्य संचालक सहित 4 कम्प्यूटर आपरेटर कार्यरत हैं। इस तरह प्रत्येक केन्द्र से मुख्य संचालक और 1 वरिष्ठ कम्प्यूटर आपरेटर का चयन किया गया।

प्रतिचयन का आकार -

शोध समग्र उज्जैन जिले में 8 लोक सेवा केन्द्र संचालित हैं। उज्जैन जिले के इन लोक सेवा केन्द्रों में 14 विभागों की सेवाओं के आवेदन 2014 तक प्राप्त हुये थे। यह विभाग निम्न हैं, - सामान्य प्रशासन विभाग, राजस्व विभाग, नगरीय प्रशासन एवं विकास विभाग, पंचायत एवं ग्रामीण विकास विभाग, खाद्य, नागरिक आपूर्ति एवं उपभोक्ता संरक्षण विभाग, श्रम विभाग, सामाजिक न्याय विभाग, लोक स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण विभाग, गृह विभाग, किसान कल्याण एवं कृषि विकास विभाग, ऊर्जा विभाग, महिला एवं बाल विकास विभाग। अतः प्रतिचयन का आकार निम्नानुसार है,-

हितग्राही	8 x 20	160
शासकीय अधिकारी	8 x 2	16
एल.एस.के. कर्मचारी	8 x 2	16
कुल		192

समंक संकलन विधि :-

समंक का संकलन प्राथमिक व द्वितीयक स्त्रोतों के माध्यम से किया गया। प्राथमिक आकड़ों का संकलन करने हेतु साक्षात्कार अनुसूची, अवलोकन तथा समूह चर्चा विधि का प्रयोग किया गया है। इनमें प्रथम साक्षात्कार अनुसूची हितग्राहियों के लिए, द्वितीय साक्षात्कार अनुसूची शासकीय अधिकारियों के लिए और तृतीय साक्षात्कार अनुसूची लोक सेवा केन्द्र के कर्मचारियों से संबंधित है।

उज्जैन का परिचय - उज्जैन मध्यप्रदेश के उत्तर-पश्चिम भाग में उज्जैन संभाग का एक जिला है। इस जिले का

भौगोलिक विस्तार 20°43' से 23°36' उत्तरी अक्षांश व 75°00' से 76°30' पूर्वी देशान्तर तक है। उज्जैन जिले का कुल क्षेत्रफल 6,091 वर्ग किलो मीटर है। जिले में सात तहसील तराना, महिदपुर, उज्जैन, घटिया, नागदा, खाचरौद, बड़नगर है। इसके अतिरिक्त जिले में छः विकासखण्ड तराना, महिदपुर, उज्जैन, घटिया, खाचरौद, बड़नगर और सात नगरपालिकाएँ तराना, महिदपुर, उज्जैन, उन्हेल, नागदा, खाचरौद, बड़नगर है। इसके साथ ही उज्जैन जिले में उज्जैन नगर निगम भी गठित है।

प्रदेश के सभी जिलों की भांति उज्जैन जिले में भी मध्यप्रदेश लोक सेवाओं के प्रदान की गारण्टी अधिनियम, 2010 25 सितम्बर 2010 को प्रभावी हुआ। अधिनियम के कुशल क्रियान्वयन हेतु लोक सेवा प्रबंधन विभाग द्वारा प्रत्येक जिले के विकासखण्ड/तहसील स्तर पर एवं शहरी क्षेत्र में लोक सेवा केन्द्र की स्थापना का निर्णय लिया गया। अधिनियम, 2010 को और अधिक प्रभावी बनाने के लिए लोक-निजी भागीदारी (PPP मोड अर्थात पब्लिक-प्रायवेट पार्टनरशिप) के माध्यम से लोक सेवा केन्द्रों की स्थापना की गई। इन केन्द्रों का मुख्य कार्य अधिनियम में अधिसूचित सेवाएँ प्रदान करने के आवेदन प्राप्त कर उनकी ऑनलाइन प्रविष्टि कर पदाभिहित अधिकारी तक पहुँचाना। अधिकारी द्वारा प्रदान की गई सेवा या उनके द्वारा लिये गये निर्णय की जानकारी आवेदक को उपलब्ध कराना है। जिले में आठ लोक सेवा केन्द्रों की स्थापना 25 सितम्बर 2012 को की गई। यह आठ लोक सेवा केन्द्र निम्नवत् हैं,- (1) नगर निगम उज्जैन, (2) तराना, (3) महिदपुर, (4) जनपद उज्जैन, (5) घटिया, (6) नागदा, (7) खाचरौद, (8) बड़नगर। सेवा प्रदाय की नवीन व्यवस्था के अंतर्गत संचालित लोक सेवा केन्द्रों में आवेदन करना, वहाँ से सेवाएँ प्राप्त करना व सेवा प्राप्ति संबंधित अन्य समस्याओं के निराकरण आदि की जानकारी हितग्राहियों ने इन्हीं केन्द्रों से प्राप्त की है। इस सेवा प्राप्ति की नवीन व्यवस्था में हितग्राहियों के क्या अनुभव रहे, हितग्राहियों को आवेदन करने व सेवा प्राप्ति के दौरान किन-किन समस्याओं का सामना करना पड़ा, नवीन व्यवस्था के सन्दर्भ में हितग्राहियों की राय को जाना गया है।

सारणी 1.1

हितग्राही उत्तरदाताओं के अनुसार

क्या आवेदन करने के दौरान किसी तरह की परेशानी का सामना करना पड़ा?				
	हाँ	नहीं	योग	
आवृत्ति	87	73	160	
प्रतिशतमें	54.4	45.6	100	

क्या आपको लम्बी कतार में खड़ा होना पड़ा?				
	हाँ	नहीं	योग	
आवृत्ति	88	72	160	
प्रतिशत में	55.0	45.0	100	

क्या आपको आवेदन करने हेतु एक से अधिक बार जाना पड़ा?				
	1 से 2 बार	2 से 3 बार	3 से अधिक बार	योग
आवृत्ति	122	23	15	160
प्रतिशत में	76.2	14.4	9.4	100

लोक सेवा केन्द्रों के कर्मचारियों का व्यवहार कैसा रहता है?				
	सहयोग पूर्ण	असहयोग पूर्ण	कोई राय नहीं	योग
आवृत्ति	149	8	3	160
प्रतिशत में	93.1	5.0	1.9	100

सेवा प्रदाय की नवीन व्यवस्था के अन्तर्गत 50 प्रतिशत से अधिक हितग्राहियों को आवेदन करने के दौरान परेशानियों का सामना करना पड़ा जिनमें से सर्वाधिक हितग्राहियों को लोक सेवा केन्द्रों में लम्बी कतार में खड़ा होना पड़ा।

सारणी में स्पष्ट है कि दो से तीन बार अथवा तीन से अधिक बार केन्द्र जाने वाले हितग्राहियों का सम्मिलित रूप से 23.8 प्रतिशत है। चर्चा के दौरान ज्ञात हुआ कि एक से अधिक बार केन्द्र जाने के कारणों में फार्म का न मिलना, पर्याप्त दस्तावेज न होना, सर्वर डाउन की समस्या, केन्द्र का बंद होना व हितग्राहियों में अधिनियम की जानकारी का अभाव है। सेवा प्रदाय की प्रक्रिया में केन्द्र के माध्यम से निजी कम्पनियों ने पहली बार इस तरह की भागीदारी की है। अतः केन्द्र में कार्यरत कर्मचारियों के व्यवहार को तीन चौथाई से अधिक हितग्राही उत्तरदाताओं ने सहयोगात्मक बताया है। हितग्राहियों के अनुसार उन्हें केन्द्र से अधिनियम के अन्तर्गत सेवा प्रदाय हेतु आवेदन की प्रक्रिया के साथ-साथ आवेदन में सम्मिलित होने वाले अभिलेखों की जानकारी प्राप्त हुई। इसके अतिरिक्त आवश्यकता पड़ने पर कर्मचारियों द्वारा आवेदकों के आवेदन प्रपत्र भी भरे गये। परिणाम स्वरूप जिले में अधिनियम के अन्तर्गत किये जाने वाले आवेदन में संलग्न होने वाले प्रमाण पत्रों की जानकारी सर्वाधिक हितग्राहियों को केन्द्र के कर्मचारियों द्वारा प्राप्त हुई है।

सारणी 1.2

क्या लोक सेवा केन्द्रों में आवेदन करने व सेवा प्राप्त करने में सुगमता हुई है?					
		हाँ	नहीं	कोई राय नहीं	योग
हितग्राहियों के अनुसार	आवृत्ति	151	6	3	160
	प्रतिशत में	94.4	3.8	1.9	100
शासकीय अधिकारियों के अनुसार	आवृत्ति	14	1	1	16
	प्रतिशत में	84.5	6.2	6.2	100

सारणी 1.2 हितग्राही एवं अधिकारी उत्तरदाताओं की राय को स्पष्ट करती है, जिसके अन्तर्गत लोक सेवा केन्द्रों में सेवा प्रदाय के आवेदन करने व इन्हीं केन्द्रों से सेवा प्राप्ति करने की व्यवस्था को सर्वाधिक हितग्राही उत्तरदाताओं ने सुगम व्यवस्था बताया है। हितग्राहियों की राय में यह व्यवस्था अत्यधिक सुगम है क्योंकि विभिन्न विभागों की ऑनलाइन सेवाओं के आवेदन एक ही स्थान में स्वीकृत किये जाते हैं। इससे पुरानी सेवा प्रदाय व्यवस्था की आवेदन कहाँ जमा होंगे, जैसी सन्देहास्पद स्थिति से हितग्राहियों को मुक्ति मिली है और विभिन्न शासकीय कार्यालयों के कई बार चक्कर लगाने की भी अब आवश्यकता नहीं है। आवेदन के साथ-साथ हितग्राहियों के लिए सेवा प्रदान का स्थान भी सुनिश्चित हुआ है। ठीक इसी प्रकार सर्वाधिक अधिकारी उत्तरदाताओं ने भी नागरिकों हेतु सेवा प्रदाय की नवीन व्यवस्था में लोक सेवा केन्द्रों में आवेदन करने व सेवा प्राप्ति करने की व्यवस्था को सुगम बताया है।

सारणी 1.3

क्या लोक सेवा केन्द्रों की संख्या बढ़ायी जाना चाहिए?

		हाँ	नहीं	कोई राय नहीं	योग
हितग्राहियों के अनुसार	आवृत्ति	129	27	4	160
	प्रतिशत में	80.6	16.9	2.5	100
शासकीय अधिकारियों के अनुसार	आवृत्ति	9	5	2	16
	प्रतिशत में	56.2	31.2	12.5	100
LSK के कर्मचारियों के अनुसार	आवृत्ति	8	8	-	16
	प्रतिशत में	50.0	50.0	-	100

जिले की सात तहसीलों में से कुछ तहसीलें भौगोलिक व जनसंख्या की दृष्टि से वृहद् हैं, वहाँ स्थित लोक सेवा केन्द्रों में लम्बी कतार व केन्द्र से गांवों की अत्यधिक दूरी होने के कारण तीन चौथाई से अधिक हितग्राहियों के अनुसार लोक सेवा केन्द्रों की संख्या बढ़ायी जानी चाहिए।

हितग्राहियों के सुझावानुसार लोक सेवा केन्द्र की शाखाएँ स्थानीय स्तर में भी संचालित होनी चाहिए ताकि स्थानीय नागरिक सहजतापूर्वक आवेदन कर सकें। इन्हीं कारणों के आधार पर 56.2 प्रतिशत अधिकारी उत्तरदाताओं ने भी लोक सेवा केन्द्रों की संख्या बढ़ाये जाने पर सहमति दी है।

जिले के कुछ लोक सेवा केन्द्रों का क्षेत्र वृहद् होने से संबंधित केन्द्रों में आवेदनों की अधिकता है जिस कारण 50 प्रतिशत कर्मचारी उत्तरदाताओं ने लोक सेवा केन्द्रों की संख्या बढ़ाये जाने की आवश्यकता बतायी है। शेष कर्मचारी उत्तरदाताओं के अनुसार लोक सेवा केन्द्रों की संख्या नहीं बढ़ायी जानी चाहिए क्योंकि कुछ लोक सेवा केन्द्रों में एक महीने में शासन द्वारा निर्धारित 2000 आवेदन संख्या पूर्ण नहीं हो पाती है। इस कारण शासन को इन लोक सेवा केन्द्रों को निर्धारित संख्या से कम प्राप्त आवेदनों का मुआवजा कम्पनी को देय होता है।

सारणी 1.4

क्या सभी सेवाओं के आवेदन लोक सेवा केन्द्रों में अनिवार्य रूप से दिये जाने चाहिए?

		हाँ	नहीं	कोई राय नहीं	योग
हितग्राहियों के अनुसार	आवृत्ति	107	32	21	160
	प्रतिशत में	66.9	20.0	13.1	100
शासकीय अधिकारियों के अनुसार	आवृत्ति	9	5	2	16
	प्रतिशत में	56.2	31.2	12.5	100
LSK के कर्मचारियों के अनुसार	आवृत्ति	13	-	3	16
	प्रतिशत में	81.2	-	18.8	100

LSK की स्थापना के पश्चात सेवा प्राप्ति के आवेदन के साथ-साथ सेवा प्राप्ति की प्रक्रिया में हुई सहजता के आधार पर सर्वाधिक हितग्राही उत्तरदाताओं ने LSK में आवेदन किये जाने की अनिवार्यता को स्वीकार किया है।

अधिनियम में अधिसूचित कुल 135 सेवाओं में से 50.0 प्रतिशत से भी अधिक सेवाओं के आवेदन लोक सेवा केन्द्रों में आवेदित होते हैं। इस सन्दर्भ में 56.2 प्रतिशत अधिकारी उत्तरदाताओं ने सभी अधिसूचित सेवाओं के आवेदन लोक सेवा केन्द्रों में अनिवार्य रूप से किये जाने का सुझाव दिया है, क्योंकि लोक सेवा केन्द्रों में सभी आवेदन ऑनलाइन किये जाते हैं। अतः इन अधिकारियों के अनुसार ऑनलाइन आवेदन सेवाओं का विस्तार होना चाहिए, जबकि 31.2 प्रतिशत अधिकारी उत्तरदाताओं की राय में लोक सेवा केन्द्रों में सभी सेवाओं के आवेदन अनिवार्य किये जाने से विभागों को सेवा प्रदाय करने में और हितग्राहियों को त्वरित सेवा प्राप्त करने में व्यवधान हो सकता है। इन अधिकारियों का तर्क है कि सेवाओं के आवेदन व उससे संबंधित अभिलेखों की जाँच विभागीय स्तर पर शीघ्र किये जाने से नागरिकों को त्वरित सेवा प्राप्त हो सकती है। अतः लोक सेवा केन्द्रों में आवेदन की अनिवार्यता नहीं होनी चाहिए।

इसके साथ ही स्पष्ट है कि 81.2 प्रतिशत कर्मचारी उत्तरदाताओं ने बताया कि केन्द्र में आवेदन की अनिवार्यता होनी चाहिए। अधिनियम के सफल क्रियान्वयन हेतु स्थापित लोक सेवा केन्द्र राज्य शासन की एक महत्वपूर्ण पहल है, जिसका उद्देश्य नागरिकों को मानक प्रक्रिया के तहत सहज व समय से सेवाएँ प्रदान किया जाना है। इस व्यवस्था व इसके प्रावधानों से संबंधित शासकीय अधिकारियों की राय इस प्रकार है -

सेवा प्राप्ति के आवेदन के संबंध में सर्वाधिक अधिकारी उत्तरदाताओं के अनुसार उन्हें केन्द्र के कर्मचारियों से सम्पर्क करना होता है। यह सम्पर्क अधिकारियों को प्राप्त आवेदनों में अभिलेखों की कमी के संबंध

में व आवेदन संबंधी अन्य निर्देश देने हेतु करना होता है। अधिकांश अधिकारियों ने बताया कि लोक सेवा केन्द्रों का संचालन सरकार द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार हो रहा है।

सारणी 1.5

क्या LSK व शासकीय अधिकारियों के बीच किसी प्रकार के विवाद के मामले सामने आते हैं?

		हाँ	नहीं	कोई राय नहीं	योग
शासकीय अधिकारियों के अनुसार	आवृत्ति	3	13	-16	
	प्रतिशत में	18.8	81.2	-	100
LSK के कर्मचारियों के अनुसार	आवृत्ति	5	9	2	16
	प्रतिशत में	31.2	56.2	12.5	100

सेवा प्रदाय व्यवस्था में लोक-निजी भागीदारी मॉडल को प्रथम बार अपनाये जाने के कारण शासकीय अधिकारियों व निजी कर्मचारियों के आपसी संबंध को जानना आवश्यक था। इस सन्दर्भ में अधिकारियों से जानने का प्रयास किया गया कि उनके व LSK के कर्मचारियों के बीच किसी प्रकार के विवाद के मामलों सामने आये, जिसके उत्तर में 81.2 प्रतिशत अधिकारी उत्तरदाताओं ने बताया कि LSK के कर्मचारियों के कार्य की सीमा निर्धारित होने से विवाद की स्थिति नहीं आती है।

LSK व शासकीय अधिकारियों के बीच विवाद के प्रश्न पर 50.0 प्रतिशत से अधिक कर्मचारी उत्तरदाताओं के अनुसार नियमों की स्पष्टता व LSK का कार्य निर्धारित होने पर किसी प्रकार के विवाद की स्थिति नहीं आती है। अनौपचारिक चर्चा के दौरान कुछ कर्मचारी उत्तरदाताओं ने बताया कि LSK व उसके कार्य दायित्व को अधिकारियों ने अपनी कार्य प्रणाली में हस्तक्षेप माना है। इस धारणा के फलस्वरूप शासकीय अधिकारी व LSK के कर्मचारियों में कुछ विवाद की स्थिति उत्पन्न हुई जिसे जिला कलेक्टर व जिला लोक सेवा प्रबंधक की उपस्थिति में शांतिपूर्ण रूप से सुलझाया गया है।

लोक-निजी भागीदारी के तहत सेवा प्रदाय कार्य में शासकीय अधिकारियों के साथ-साथ निजी क्षेत्र के कर्मचारी भी सम्मिलित हुये है। इस तरह के अनुबन्ध में शासकीय अधिकारियों व निजी कम्पनी के कर्मचारियों बीच उद्देश्य, कार्यप्रणाली, मनोस्थिति, पद-प्रतिष्ठा जैसे विभिन्न अंतरों के कारण समस्याओं का पनपना स्वाभाविक है।

सेवा प्रदाय की नवीन व्यवस्था के अन्तर्गत शासकीय अधिकारी सेवा प्रदाता के रूप में समाप्त हुए एकाधिकार से विचलित हुए हैं। लोक सेवा केन्द्र के कर्मचारियों की कार्यप्रणाली को वे अनावश्यक हस्तक्षेप मानते हैं क्योंकि पूर्व की सेवा प्रदाय व्यवस्था में प्राप्त आवेदन अधिकारी व उसके विभाग के कर्मचारियों की जानकारी तक सीमित रहता था। इन आवेदनों का निराकरण विभागीय अधिकारियों की इच्छानुसार होता था। वर्तमान में सेवा प्रदान की प्रक्रिया ऑनलाइन होने से आवेदन संबंधी जानकारी शासकीय एवं निजी क्षेत्र के जुड़े कर्मचारी समेत जनता की पहुँच में भी आसानी से आ जाता है, कि किस पदाभिहित अधिकारी के आधीन कितने आवेदन लम्बित हैं, कितने आवेदनों का निराकरण समय-सीमा में व कितनी सेवाएँ समय-सीमा के पश्चात प्रदत्त की गई है। इस प्रकार प्रशासन में पारदर्शिता का विस्तार हुआ है और शासन की कार्यप्रणाली नागरिकोन्मुखी हुई।

राजनीति विज्ञान एवं लोकप्रशासन विभाग
रांची विश्वविद्यालय, रांची, झारखंड

राजनीति विज्ञान एवं लोकप्रशासन विभाग
रांची विश्वविद्यालय, रांची, झारखंड

संदर्भ :

1. कार्मिक लोक शिकायत एवं पेंशन मंत्रालय, भारत प्रशासन, द्वितीय प्रशासनिक सुधार आयोग, ग्यारहवाँ प्रतिवेदन, ई-गवर्नेंस को प्रोत्साहन: भविष्य की स्मार्ट राह, नई दिल्ली-2008.
2. कार्मिक लोक शिकायत एवं पेंशन मंत्रालय, भारत प्रशासन, द्वितीय प्रशासनिक सुधार आयोग, बारहवाँ प्रतिवेदन, नागरिक-केन्द्रित प्रशासन: अभिशासन का हृदय, नई दिल्ली-2009.
3. गजेटियर, जिला उज्जैन, 1995.
4. गुप्ता, सुनील, एवं सिंह, कमल कुमार (2012), सुशासन, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली, पृ.214.
5. गुप्ता, कमलेश एवं दमेल, मंजरी(2014), लोक-निजी सहभागिता: समसामयिक चुनौतियाँ व सम्भावनाएँ, लोक प्रशासन, खंड 6, अंक 1, जनवरी-जून.
6. चौहान, बलराज एण्ड श्रीवास्तव, मृदुल, गुड गवर्नेंस:सर्च फार एकाउन्टिबिलिटी मैकेनिज्म(2011), इण्डियन जर्नल ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, Vol. LVII, No. 4, अक्टूबर-दिसम्बर.
7. जिला सांख्यिकीय पुस्तिका, जिला सांख्यिकीय कार्यालय उज्जैन, उज्जैन-2010.
8. पेल्लेन्थुराई, जी., गवर्नेंस इशूज इन इण्डिया, फ्राम ग्रासरूट्स पर्सपेक्टिव(2014), कनसेप्ट पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली.
9. भारत की जनगणना, 2011.
10. मध्यप्रदेश लोक सेवाओं के प्रदान की गारण्टी अधिनियम, 2010 जन-प्रतिनिधियों के लिए अध्ययन-सामग्री, सुशासन एवं नीति विश्लेषण स्कूल, भोपाल-2012.
11. मध्यप्रदेश शासन, लोक सेवा प्रबंधन विभाग, मंत्रालय, आदेश क्र. 928/2012/लो.से.प्र./61 भोपाल दिनांक 03.08.2012. राज पत्र (असाधारण) क्र. 456 भोपाल, शुक्रवार दिनांक 17 सितम्बर 2010.
12. मध्यप्रदेश शासन विधि एवं विधायी कार्य विभाग, मध्यप्रदेश लोक सेवाओं के प्रदान की गारंटी अधिनियम, 2010, मध्यप्रदेश राजपत्र, क्र. एफ 308-5-01-2010, भोपाल-24 सितम्बर 2011.
13. मध्यप्रदेश शासन सूचना प्रौद्योगिकी विभाग के प्रकाशन सन् 2011 से 2015.
14. मुंशी, सुरेन्द्र एवं अब्राहम, बिजू पॉल (2004), गुड गवर्नेंस, डेमोक्रेटिक सोसायटीज एण्ड ग्लोबलाइजेशन, सेज पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली.
15. मीना, जनक सिंह (2004), लोक सेवा गारंटी कानून, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर.
16. मुंशी, सुरेन्द्र, अब्राहम, बीजू पॉल एवं चौधरी, सोमा (2011), सुशासन, रावत पब्लिकेशन, जयपुर.
17. राव, एन. भास्कर(2013), गुड गवर्नेंस डिलेवरिंग करप्शन-फ्री पब्लिक सर्विसेस, सेज पब्लिकेशनस, नई दिल्ली.
18. सेन, विनोद एवं पटेल, मनीष कुमार(2011), वैश्विक परिप्रेक्ष्य में सुशासन: एक पुनरावलोकन,म. प्र. सामाजिक विज्ञान अनुसंधान जर्नल, वर्ष 9, अंक 1-2, जनवरी-दिसम्बर.
19. अटल बिहारी वाजपेयी सुशासन एवं नीति विश्लेषण संस्थान, मध्यप्रदेश शासन स्वशासी संस्था के प्रकाशन, भोपाल-2013-2016.
20. अरोड़ा, रमेश के., (सम्पादित)(2008), इथिक्स इन गवर्नेंस इनोवेशनस, इशूज एण्ड इन्स्ट्रुमेंटेलिटीज, आलेख पब्लिशर्स, जयपुर.
21. उपाध्याय, ममता(2014), सुशासन की धारणा एवं स्थानीय प्रशासन: ग्रेटर नोएडा औद्योगिक विकास प्राधिकरण के सम्बन्ध में एक अध्ययन, लोकप्रशासन, खंड 6, अंक 1, जनवरी-जून.

साहित्य एवं कला में वामन त्रिविक्रम

शिवाकान्त त्रिपाठी

अवतारवाद के सिद्धान्त के आधार पर पौराणिक कथाओं में विष्णु के अनेक रूपों को निरूपित किया गया है, जिनमें पशु अवतारों में मत्स्य, कूर्म तथा वाराह, मानवावतारों में वामन, राम (भार्गव), राम (दाशरथी), कृष्ण-बलराम, बुद्ध, कल्कि एवं मिश्रित अवतारों में नृसिंह विशेष रूप से समावृत्त है। ध्यातव्य है कि वामन त्रिविक्रम के रूप में विष्णु का पांचवां अवतार वैदिक वाङ्मय एवं प्राचीन प्रकृति कथाओं में अख्यात है। जैसा कि ऋग्वेद में कहा गया है कि विलक्षण गुणों से युक्त विष्णु ने तीन पगों से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को नाप लिया- **‘इदं विष्णुर्विक्रमे त्रेधा निदधे पद्म । समूहमस्य पांसुरे ।’** ऋग्वेद में विष्णु के लिए उरुगाय तथा उरुक्रम जैसे विशेषण का प्रयोग किया गया है जिसका तात्पर्य है लम्बे-लम्बे डग भरने वाला - **यः पार्थिवानि त्रिभिरद् विगामभिः उरुक्रमष्टिरुगायाय जीवसे ।**¹ इन्हीं विस्तीर्ण पदक्रमों के अन्तर्गत सम्पूर्ण लोक विश्राम करता है -**यस्योरुशु विक्रमर्णेशु अधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ।**² इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व विष्णु के उपर्युक्त तीन पदक्रमों में सिमटा हुआ है-**येषु विष्णुस्त्रिषु पदेषु इष्टः तेषु विश्वं भुवनमाविवेश ।** उल्लेखनीय है कि विष्णु के तृतीय पद को मधु का अनन्त स्रोत कहा गया है जो मानवीय दृष्टि तथा पक्षियों तक की उड़ान से परे है -

विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः ।³

तृतीयमस्य नकिरा दधर्षतिवयञ्चन पतयन्तः पतत्रिणः ।⁴

तीन स्थानों पर निवास होने के कारण विष्णु त्रिषधस्थ कहे गये-**अःयो विवाय सचयाय दैव्य इंद्राय विष्णुः सुकृते सुकृन्नरः ।** वेधा अजिन्व त्रिषधस्थ आर्यमृतस्य भागे यजमानमाभजत् । जैसा कि ऋग्वेद में विष्णु को तीन रूपों वाला त्रिधातु भी कहा गया है -**‘यः ऊँ त्रिधातु पृथ्वीं उत द्यां एकः दाधार भुवनानि विश्वा’ ।**

शाकपूणि जैसे विद्वानों का मानना है कि विष्णु मूलतः भासमान सूर्य का आधिदैविक रूप है तथा उनके तीन पदों को उदयाचल, मध्याकाश एवं अस्ताचल से समीकृत किया जा सकता है। जैसा कि यजुर्वेद में विष्णु के तीन पगों को क्रमशः आकाश, अन्तरिक्ष और पृथिवी से समीकृत किया गया है। वस्तुतः त्रिपदन्त्यास की सुस्पष्ट व्याख्या हमें शतपथ ब्राह्मण में देखने को मिलती है जहां विष्णु को उक्त पगों से पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश को व्याप्त करने के रूप में दिखाया गया है -

यज्ञौ वै विष्णुः । स देवेभ्यः इमां विक्रन्ति विक्रमे । येशामियं विक्रान्तिः । इदमेव प्रथमेन पदेन पस्पार । अथेदमन्तरिक्षं द्वितीयेन । दिवमुत्तमेन । ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मण काल में विष्णु के उपर्युक्त तीनों पदक्रमों की महत्ता अत्यधिक बढ़ चुकी थी। शतपथ ब्राह्मण में प्राप्त एक आख्यान में उन्हें स्पष्ट रूप से वामन कहा गया - **वामनो ह विष्णुरास ।**⁵ डॉ. गया चरण त्रिपाठी जैसे विद्वान शतपथ ब्राह्मणोक्त उक्त यज्ञीय लघु कथा को विष्णु के वामनावतार आख्यानों का आदि स्रोत मानते हैं।⁶ इस प्रकार विष्णु का त्रिविक्रम रूप विशुद्ध ऋग्वैदिक है जबकि उनका वामनत्व ब्राह्मण कालीन।

ब्राह्मण काल में पल्लवित विष्णु के वामन तथा त्रिविक्रम रूपों का आख्यान अवान्तर काल में एक वृहद आख्यान का रूप धारण कर लेता है। वाल्मीकि रामायण में सिद्धाश्रम के प्रसंग में विश्वामित्र ने राम को वामन (विष्णु) के द्वारा दानवराज बलि से पृथ्वी के राज्य को अपहृत किये जाने की लोकविश्रुत कथा को सुनाया है। तदनुसार विष्णु ने अदिति पुत्र के रूप में जन्म लेकर वामन रूप ग्रहण किया तथा देवताओं के कल्याण के लिए वह यज्ञरत बलि से तीन पग भूमि की याचना करते हैं और बलि द्वारा तीन पग भूमि देने का संकल्प लेने पर वामन ने विराट त्रिविक्रम रूप धारण करके सम्पूर्ण विश्व को आक्रान्त कर लिया तथा इन्द्र को उनका राज्य पुनः सौंप दिया -

इह राम महाबाहो विष्णुर्देवनमस्कृतः ।
वर्शाणि सुबहूनीह तथा युगशतानि च ।।
सिद्धाश्रम इतिख्यातः सिद्धो ह्यत्र महातपाः ।
एतस्मिन्नेव कालेतु राजा वैरोचनिर्बलिः ।।
यज्ञं चकार सुमहानसुरेन्द्रो महाबलः ।
बलेस्तु यजमानस्य देवाः साग्नि पुरोगमाः ।।⁷
अथ विष्णुर्महातेजा आदित्यां समाजयत ।
वामनं रूपमास्थाय वैरोचनि मुपागमत् ।।
त्रीनि पदानथ भिक्षित्वा प्रतिगृह्य च मेदिनीम् ।
आक्रम्य लोकांल्लोकार्थो सर्वलोक हिते रतः ।।
महेन्द्राय पुनः प्रादान्नियम्य बलियोजसा ।
त्रैलोक्यं स महातेजाश्चके शक्रवशं पुनः ।।
तेनेव पूर्वमाक्रान्त आश्रमः श्रमनाशनः ।
मयापि भक्त्या तस्यैव वामनस्योप भुज्यते ।।⁸

इसी प्रकार महाभारत में भी विष्णु नारद से अपने भावी वामनातार के प्रसंग में बलि के यज्ञ में वामन रूप में उपस्थित होने तथा उससे त्रैलोक्य का राज्य अपहृत करके इन्द्र को देने की बात करते हैं।

विरोचनस्य बलवान् बलि पुत्रं महासुरः ।
अवध्यः सर्वलोकानां सदेवासुरक्षसाम ।।
त्रैलोक्येऽपहृते तेन विमुखे च शतक्रतो ।
आदित्यां द्वादशादित्यः संभविश्यामि क्रयपात ।।

महाभारत के वन पर्व में विष्णु को बादल की भांति यामल, एक हाथ में दण्ड तथा दूसरे हाथ में कमण्डलु एवं वक्ष पर श्रीवत्स लांछन धारण किए हुए दिखाया गया है -

दुर्दिनाम्भोदसदृशो दीप्ताक्षो वामनाकृतिः । दण्डी कमण्डलुधरः श्रीवत्सोरासि भूशितः ।।⁹

पुराणों में अनेकत्र विष्णु के वामनावतार एवं उनके विशद् रूप का विवरण प्राप्त होता है। ध्यातव्य है कि पद्म पुराण में बलि के स्थान पर वाशकलि नामक दैत्य का उल्लेख प्राप्त होता है, जहां वामन द्वारा विराट त्रिविक्रम रूप में सम्पूर्ण पृथ्वी के अधिग्रहण की बात कही गई है - “अश्वक्रान्ते रथक्रान्ते विष्णुक्रान्ते वसुन्धरे ।” भागवत पुराण के अष्टम सर्ग के अनुसार अदिति की कोख से विष्णु अपने आयुधों सहित अवतरित हुए तथा कश्यप एवं अदिति के समक्ष पलक झपकते ही वह वामन वटु का रूप धारण कर लेते हैं - “वभूव तेनैव स वामनो वटुः संपश्यतोर्दिव्यगतिर्यथाः नटः ।”¹⁰ किंचित बड़े होने पर देवी देवताओं की उपस्थिति में उनका यज्ञोपवीत संस्कार होता है जहां सविता ने उन्हें पवित्र गायत्री ज्ञान, बृहस्पति ने यज्ञोपवीत, कश्यप ने मुंज मेखला, पृथ्वी ने कृष्ण मृगचर्म, अदिति ने कोपीन एवं कटिवस्त्र, चन्द्रमा ने दण्ड, आकाशदेव ने छत्र, ब्रह्मा ने कमण्डलु, सरस्वती ने रुद्राक्षमाला, सप्तर्षियों ने कुश, यक्षपति कुबेर ने भिक्षा पात्र तथा भगवती उमा ने भिक्षा प्रदान किया। इसके पश्चात वह दानवेश्वर बलि की यज्ञाला के लिए निकलते हैं तथा हाथ में छत्र दण्ड और जल पूरित कमण्डलु सुशोभित हो

रहा था- छत्र-दण्डं सजलं कमण्डलुं विवेश विभ्रद्वय मेधवादम् ।¹¹ बालक वामन के सुंदर रूप को देखकर मुग्ध बलि ने उनका स्वागत करते हुए उत्तम आसन प्रदान किया। मत्स्य पुराण में वामन के त्रिविक्रम विराट रूप में रुद्र, आदित्य, प्रजापति, मरुद्गण इत्यादि देवों को अवस्थित बताया गया है -

पाणौतु पतिते तोये वमनोऽभूदवामन्,
सर्वदेवमयं रूपं दर्शयामास तक्षणात् ।
चन्द्र सूर्यो च नयने द्यौर्मूर्धाचरणौ क्षितिः,
विश्वेदेवा च जानुस्या जघं साध्याः सुरोत्तमाः ।।¹²

जैसा कि भागवत पुराण में विवृत है कि शुक्राचार्य ने बलि को आगाह किया था कि वह वामन को तीन पग भूमि न दें किन्तु फिर भी उसने भूमि दान का संकल्प लिया और संकल्प लेते ही त्रिविक्रमत्व ने विराट रूप धारण कर लिया जिसमें सम्पूर्ण विश्व समा गया एवं उस समय त्रिविक्रम की भुजाओं में सुदर्शन चक्र, पांचजन्य शंख जैसे आयुध विद्यमान थे।

सुदर्शनं चक्रमसह्यतेजो धनुश्चशार्गस्तनयित्रयोशम् ।

पर्यन्यघोशो जलजः पांचजन्यः, कौमोदकी विष्णुगदा तरस्विनी ।।

त्रिविक्रम ने प्रथम पग से दैत्येश्वर बलि की सम्पूर्ण पृथ्वी तथा द्वितीय पग से स्वर्गलोक को परिवृत्त कर लिया। उनका उर्ध्व विस्तीर्ण द्वितीय पगमहः जनः तपः लोकों के आगे सत्यलोक तक उत्थित था। अब तृतीय पग से नापने के लिए बलि के पास कुछ भी शेष न था। फलतः त्रिविक्रम ने तीसरा पग बलि के शरीर पर रखकर उसे सुतल लोक में भेज दिया तथा देवराज इन्द्र को पुनः उनका राज्य सौंप दिया। जैसा कि विष्णुधर्मोत्तर पुराण में वामन को दूर्वा की भांति श्याम वर्ण, दुर्बल, दण्ड धारण किये हुए, कृष्णाजिन युक्त शिक्षार्थी वटु वेश में निरूपित करने का विधान किया गया है -

कर्तव्यो वामनो देवस्संकटैर्गात्रपवाभिः

पीनगात्रस्य कर्तव्यो दण्डी चाध्ययनोद्यतः ।

दूर्वाश्यामश्च कर्तव्यः कृष्णाजिन धरस्तथा ।।¹³

ध्यातव्य है कि शिल्पग्रंथों में भी वामन त्रिविक्रम के प्रतिमा वैज्ञानिक लक्षणों पर विशद् प्रकाश डाला गया है। 12वीं शदी के सुप्रसिद्ध शिल्पग्रंथ अपराजितपृच्छा में वामन को छत्री, दण्डी तथा चतुर्भुज बनाये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है-छत्री दण्डी वामनः स्यादयवास्याच्चतुर्भुजः ।

शिल्परत्न में वामन को बाएँ पैर से पृथ्वी को दबाते हुए तथा दाहिने पैर को आकाश की ओर विस्तीर्ण एवं उठाते हुए निर्मित करने का विधान मिलता है -

त्रिविक्रमं वक्ष्ये वामपादेन मेदिनीम् ।

आक्रामन्तं द्वितीयेन साकल्येन नभस्थलम् ।।

कला में वामन त्रिविक्रम प्रतिमा का अंकन मुख्यतः दो रूपों में हुआ है - प्रथम वामन बालक ब्रह्मचारी के रूप में तथा दूसरा विराट त्रिविक्रम के रूप में। प्रथम रूप में वामन प्रतिमा प्रायः दशावतार पट्टियों में प्राप्त होती हैं। 1924-25ई. में एम.एस. गोडे को म.प्र. के पवाया से एक शिलापट्ट पर वामन की सर्वाधिक प्राचीन प्रतिमा प्राप्त हुई है जिसकी तिथि प्रारम्भिक गुप्तकाल मानी जाती है। प्रस्तुत स्थल पर एक समूह मूर्तन में बलि-वामन आख्यान को दर्शाते हुए बलि द्वारा वामन के दाहिने हाथ में कलश जल को छोड़ते हुए प्रदर्शित किया गया है। साथ ही आजानुपर्यन्त विस्तीर्ण वामन की केश राशि तथा उनके बाएँ हाथ में एक भिक्षापात्र भी मूर्तित है।¹⁴ जैसा कि के०एल० मन्कोडी का मानना है कि उपर्युक्त दृश्यांकन में वामन या तो नग्न हैं अथवा उन्हें अति सूक्ष्म व्याधचर्म पहने हुए निर्मित किया गया है। उपर्युक्त समूह मूर्तन में वामन बलि के अलावा यज्ञाश्व तथा सम्भवतः पुरोहित शुक्राचार्य का भी अंकन प्राप्त होता है। ध्यातव्य है कि अभी तक ऐसी बहुत कम स्वतंत्र वामन प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं, जिन्हें उपास्य अर्थात् पूजा के निमित्त बनाया गया हो। कुशाण कालीन एक अन्य प्रतिमा, जो राजकीय संग्रहालय

लखनऊ में सुरक्षित है, भी उल्लेखनीय है। इस प्रतिमा में वामन को कुशाण कालीन परिधान पहनाया गया है तथा सिर पर सर्पिलाकार घुघराले बाल अंकित हैं। इस कोटि की एक अन्य प्रतिमा (5वीं शती ई.) जो इलाहाबाद संग्रहालय में सुरक्षित है, वामन को दो भुजी, कृष्णाजिनोपवीती भिक्षापात्र सहित ब्रह्मचारी रूप में दिखाया गया है। प्रतिमा शास्त्रीय दृष्टि से यह मूर्ति विष्णुधर्मोत्तर पुराण में वर्णित वामन रूप से पर्याप्त साम्यता रखती है। ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्त एवं परवर्ती गुप्त काल में बनी स्वतंत्र वामन प्रतिमाएं अधिकांशतः दो भुजी थीं किन्तु अवान्तर काल में 11वीं, 12वीं शती तक चतुर्भुजी रूप बनाने का शिल्पशास्त्रीय विधान अधिक लोकप्रिय हो गया।

विदिशा संग्रहालय में सुरक्षित 9वीं शती ई. की एक अन्य उपास्य मूर्ति जिसमें शिलापट्ट के बीचों-बीच समपादस्थानक मुद्रा में वामन को कुम्भाकार विशाल उदर तथा चतुर्भुजी बनाया गया है। पिछले दाहिने हाथ में दण्ड तथा पिछले बाएं हाथ में चक्र, सामने वाले दाहिने हाथ को वरद मुद्रा के साथ निर्मित किया गया है। ऐसी ही एक दूसरी उपास्य वामन प्रतिमा मनवा (सीतापुर उ.प्र.) से भी प्राप्त हुई है। लखनऊ संग्रहालय में सुरक्षित एक दो भुजी खड़ी वामन प्रतिमा अति दर्शनीय है जिसमें उन्हें यज्ञोपवीत, श्रीवत्स, तथा वाघाश्वर धारण किये हुए दिखाया गया है। राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली में काले पत्थर पर निर्मित एक अन्य प्रतिमा उल्लेखनीय है जिसकी भुजाएं तथा पैर खण्डित हैं किन्तु वामन का घुघराले बंधे बालों से युक्त मुख मण्डल, श्रीवत्स, कुम्भाकार उदर, मेखला, यज्ञोपवीत इत्यादि पूर्णतः सुरक्षित है। इसी कोटि की एक अन्य सुंदर प्रतिमा मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित है जिसे प्रो. वी.एस. अग्रवाल मध्य कालीन मानते हैं। ध्यातव्य है कि यह प्रतिमा मत्स्य, पुराणोक्त वामन प्रतिमा से पर्याप्त संगति रखती है।¹⁵ **स वामनो जटी दण्डी छत्री धृत कमण्डलुः।**

जे.एन. बनर्जी ने विहार से प्राप्त एवं आशुतोष संग्रहालय कलकत्ता में सुरक्षित पालकालीन एक वाराह प्रतिमा का उल्लेख किया है,¹⁶ जिसमें वामन को ब्रह्मचारी वेश में क्षेत्र और कमण्डलु धारण किये हुए दिखाया गया है। बनर्जी के अनुसार इसमें वामन की सेविका के रूप में श्री तथा पुष्टि भी प्रदर्शित हैं। गोपीनाथ राव प्रतिमा के पृष्ठभाग में रूपायित मानवाकृतियों की पहचान बलि पत्नी विंध्यावली तथा पुरोहित शुक्राचार्य से करते हैं।¹⁷ दसवीं शती ई0 की एक अन्य प्रतिमा उल्लेखनीय है जो भारत कला भवन वाराणसी में सुरक्षित है। यह कमलासन पर समपादस्थानक मुद्रा में आसीन चतुर्भुजी वामन की प्रतिमा है जिसमें पश्चभाग के दोनों हाथों में क्रमशः गदा और चक्र है तथा सामने के बाएं हाथ में शंख तथा दाहिना हाथ वरद मुद्रा में हैं। यहां पर बादामी की एक अन्य प्रतिमा विशेष रूप से उल्लेखनीय है जिसमें वामन को सिर पर छत्र, हाथ में दण्ड, कमण्डलु, शरीर पर कृष्णाजिन तथा कटि में मोटी मुंज मेखला पहने अत्यंत शान्त एवं सौम्य मुखमण्डल से युक्त निर्मित किया गया है, जो भागवत पुराणोक्त वामन प्रतिमा लक्षण से अत्याधिक साम्यता रखता है।

छत्रं सजलदं सदण्डं कमण्डलु

मौञ्जामेखलाया वीतमुपवीता जिनोत्तरम् जटिलं वामनम्।¹⁸

ध्यातव्य है कि कला में वामन प्रतिमाओं को जहां शान्त, सौम्य एवं निष्कपट रूप में रूपायित किया गया है वहीं त्रिविक्रम मूर्तियों में विष्णु के त्रिविक्रम रूप को अपेक्षाकृत विशाल, विलक्षण एवं भयानक प्रदर्शित किया गया है। त्रिविक्रम प्रतिमा में विशाल शिल फलकों के चतुर्विक बलि की यज्ञाला, वटु वामन, रानी विंध्यावली, दैत्येश्वरबलि तथा पुरोहित शुक्राचार्य की आकृतियों को उकेरा गया है, साथ ही उनकी विश्वरूपता, पराक्रमेय पौरुष एवं शरीर के प्रत्येक अंगमें गतिशील शौर्यता के प्रदर्शन पर विशेष बल दिया गया है। इस तरह की प्रतिमाओं में त्रिविक्रम का एक पैर दृढ़तापूर्वक धरती पर जमा हुआ तथा दूसरा पैर आकाश की ओर पूरे खिचाव के साथ उठा हुआ दिखाया गया है। ध्यातव्य है कि शिल्पग्रंथों में त्रिविक्रम प्रतिमा निर्माण सम्बन्धी मूर्तन विधानों में उन्हें चतुर्भुजी आकृति प्रदान करने की पुष्टि की गई है जिनमें गदा, चक्र, शंख इत्यादि का रूपायन अभीष्ट है -**त्रिविक्रमस्त्रिशु गदा चक्राशंखान विभर्तियः।¹⁹** जैसा कि गोपीनाथ राव ने महाबलीपुरम में मामल्ल शैली में निर्मित पंचपाण्डव मण्डप की एक त्रिविक्रम प्रतिमा का उल्लेख किया है जो वैरवानशागम में विवृत त्रिविक्रम प्रतिमा वैज्ञानिक लक्षणों से पर्याप्त संगति रखती है। यहां पर बादामी की एक अन्य प्रतिमा उल्लेखनीय है जिसमें छत्रधारी

वामन को बलि दम्पति तथा उसके अन्य सहायकों के समक्ष दान ग्रहण करने की मुद्रा में दिखाया गया है। इस प्रतिमा में त्रिविक्रम अपने दाहिने पैर को भूतल पर दृढ़ता पूर्वक जमाए हुए हैं जिसे बलि संभवतः आलिंगन कर रहे हैं। त्रिविक्रम की अधिकांश मूर्तियों में उनके आकाश की ओर गतिशील तथा उठे हुए पैर के नीचे एक ऐसी आकृति देखने को मिलती है जो खीझ युक्त होकर अपने दातों को दिखाता हुआ सा प्रतीत होता है। जैसा कि आर.डी. बनर्जी इस बदसूरत एवं कोधावृत्त आकृति की पहचान राहु ग्रह से करते हैं। ध्यातव्य है कि मध्य कालीन देव मूर्तियों में राहु को प्रायः इसी मुद्रा में प्रदर्शित किये जाने का विधान मिलता है। गोपीनाथ राव एक ऐसी विलक्षण प्रतिमा का उल्लेख करते हैं जिसमें त्रिविक्रम के एक पैर उठने के साथ ही उसका एक हाथ भी फैला हुआ है तथा उसकी पांचों अंगुलियां अतिशय रौद्र रूप में विस्तीर्ण हैं एवं आवेश युक्त उनका मुखमण्डल असामान्य तथा बदसूरत दिखाया गया है। इस तरह की मूर्तियों का प्रतिमा वैज्ञानिक आधार विष्णु धर्मोत्तर पुराण में उल्लिखित 'एकोर्ध्ववदनः कार्यो देवो विस्फारितेक्षणः' जैसे उल्लेखों से संपुष्ट किया जा सकता है। जुंरादल (ढाका) से प्राप्त काले पत्थर की बनी त्रिविक्रम रूप की एक अन्य प्रतिमा तीन फुट लम्बी तथा एक फुट आठ इंच चौड़ी है, विशेष रूप से उल्लेखनीय है। त्रिविक्रम के चारों भुजाओं में शंख, चक्र, गंदा एवं पदमांकन है एवं वाम पादके ऊपर चतुर्मुख ब्रह्मा को आसीन दिखाया गया है जो विष्णु के द्वारा सत्यलोक तक को आक्रान्त किये जाने का द्योतक है। इस अंकन की आख्यानात्मक पुष्टि श्रीमद्भागवत में संदर्भित त्रिविक्रम विष्णु के द्वितीय पग की महः, जनः तपः और सत्यलोक के देवों, ऋशियों एवं ब्रह्मा द्वारा किये गये स्पर्श तथा नमन वृत्तान्त से होती है -सत्यं समीक्षाञ्ज भयोनरखेन्दु भिर्हतस्वधामद्युतिरावृत्तोऽभ्यगत।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय
अमरकंटक (अनूपपुर) म.प्र.

संदर्भ :

1. ऋग्वेद, 1.22.17
2. वहीं, 1.154.4
3. वहीं, 1.154.5
4. वहीं, 1.154.5
5. शतपथ ब्राह्मण, 1.2.5, 1-7
6. डॉ. गया चरण त्रिपाठी, वैदिक देवताः उद्भव एवं विकास, प्रथम खण्ड, पृ. 316
7. रामायण, 1.29, 2-9
8. वहीं, 1.29.19-23
9. महाभारत वनपर्व, 272.63
10. भागवत पुराण, 8.18.12
11. वहीं, 8.18.23
12. भागवत पु., 8.20.30.31
13. विष्णु धर्मोत्तर पुराण, 85.55.56
14. आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया रिपोर्ट, 1924-25, पृ. 165-166
15. मत्स्य पु., 245.88-89
16. जे.एन. बनर्जी, द डेवलपमेंट ऑफ हिन्दू आइकोनोग्राफी, पृ. 419
17. गोपीनाथ राव, ए.हि.आ.वा., भाग-1, पृष्ठ 175-76
18. भागवत पुराण, 8.20
19. रूपमण्डन, 3.15

शोध प्रविधि और साहित्यिक अनुसंधान : प्रामाणिकता का प्रश्न

ज्योति गिरि

शोध केवल नवीनता की खोज नहीं है, बल्कि समय और परिस्थिति से समाज में आए परिवर्तन का विश्लेषण, निरीक्षण-परीक्षण कर स्पष्ट उचित समाधान तक पहुँचना है। शोध, गवेषणा, अनुसंधान, समीक्षा, आलोचना आदि पर्यायवाची शब्द के संदर्भ में एक-दूसरे से भिन्न परिभाषित होते हैं, पर वास्तव में एक दूसरे के पूरक हैं। ध्यान देने की आवश्यकता यह है कि उपर्युक्त सभी शब्दों की प्रक्रिया प्रयोग की दृष्टि से एक-दूसरे से भिन्न है। पारसनाथ राय के शब्दों में 'अनुसंधान' शब्द से अभिप्राय 'अनुसंधान शब्द का प्रयोग किसी संशोधन या वस्तु की खोज के लिए नहीं किया जा रहा है। यह उस क्रिया तथा प्रक्रिया का द्योतक है, जिसमें अनेक प्रकार के तथ्यों का एकत्रीकरण और अनेक आधारों पर व्यापक निष्कर्ष निकालना सम्मिलित है। इस शब्द में पूछताछ, जांच, गहन निरीक्षण, व्यापक परीक्षण, योजनाबद्ध अध्ययन, सोद्देश्य एवं तत्परता युक्त सामान्य निर्धारण आदि की प्रक्रिया महत्वपूर्ण है। इससे भिन्न 'शोध' एक प्रकार की शुद्धि, संस्कार या संशोधन का अर्थ देता है। जिनसे प्रदत्तों के विश्लेषण, सारणीयन और कुछ-कुछ स्पष्टीकरण के लिए शोध शब्द का प्रयोग किया जा सकता है।¹ इस प्रकार शोध और अनुसंधान वैज्ञानिक होते हुए भी व्यवहारिक पक्ष से भिन्न हैं।

शोध करने के दौरान जिन पद्धति, प्रक्रिया, उपकरण, तकनीक आदि का प्रयोग किया जाता है, उसे शोध प्रविधि के अन्तर्गत माना जाता है। डॉ. हरिश्चंद्र वर्मा का शोध प्रविधि के विषय में कथन है- 'प्रविधि शोध के अन्य सभी तत्वों को भी संयोजित करती है और शोध में व्यवस्था, गठन या प्रबंधात्मकता उत्पन्न करती है। प्रविधि के पालन से शोध में प्रामाणिकता का गुण विशेष रूप से विद्यमान रहता है। शोधक तथ्यों के बिना स्वतंत्र रूप से कोई निष्कर्ष नहीं निकालता, समालोचक भी तथ्यों और तर्कों का सहारा लेकर अपने विवेचन को प्रामाणिक और विश्वसनीय बनाये रखना चाहता है।'² यहाँ यह प्रश्न महत्वपूर्ण है कि शोध में समाज विज्ञान, मनोविज्ञान, तकनीक विज्ञान, गणित आदि विषयों में की जाने वाली शोध प्रविधि में आंकड़ों एवं तथ्यों का सुव्यवस्थित टूल्स एवं तकनीक के माध्यम से एकत्रण, विश्लेषण, स्थापन किया जाता है। इससे इतर साहित्यिक अनुसंधान में शोध प्रविधि के निश्चित टूल्स एवं तकनीक नहीं है, जिससे हम शोध की वास्तविकता, सत्यता, प्रामाणिकता की जांच कर पाए। इससे भिन्न अनुसंधान को रवींद्र जैन परिभाषित करते हैं- 'ज्ञान की किसी संभावना सम्पन्न शाखा का जिज्ञासा पूर्ण परिश्रम, तटस्थ दृष्टि एवं विवेकपूर्ण मेधा से किया गया निष्कर्ष मूलक, अन्वेषण एवं परीक्षण अनुसंधान है। अनुसंधान प्रमुखतया नवीन तथ्यों की खोज तक ही सीमित था परंतु प्राप्त तथ्यों की नवीन मौलिक व्याख्या भी अनुसंधान में स्वीकृत है। नयी समीक्षा और नवमूल्यांकन भी शोध के विशिष्ट रूप है।'³ शोध प्रविधि में तथ्य जहाँ वैज्ञानिक तकनीक से जुड़ा हुआ है वहीं साहित्य कलापरक एवं भावपरक मूल्यों से संबद्ध है। इसलिए साहित्य के क्षेत्र में तथ्य संग्रह की कोई निश्चित प्रणाली नहीं है जिसे तथ्य मानकर स्वीकार या अस्वीकार किया जाए। रवींद्र जैन साहित्यिक अनुसंधान को परिभाषित करते हैं- 'वास्तव में साहित्यिक अनुसंधान में भावानुभूति रूपी साध्य को

ज्ञानरूपी साधन के द्वारा प्रमाणित किया जाता है।⁴ जिससे आज के समय में सबसे बड़ा सवाल अनुसंधान की प्रामाणिकता और प्रासंगिकता पर उठता है। किसी भी अनुसंधान विषय का आधार 'तथ्य' होता है जिसको सत्यता की कसौटी पर कसकर उसकी गुणवत्ता, वास्तविकता का पता चलता है। इन्हीं प्रमुख कारणों को जानना इस विषय का उद्देश्य है।

शोध प्रविधि के प्रकार के अन्तर्गत - 1. गुणात्मक, 2. मात्रात्मक, 3. विवरणात्मक, 4. विश्लेषणात्मक, 5. अनुप्रयुक्त, 6. आधारभूत, 7. अवधारणात्मक, 8. नैदानिक, 9. ऐतिहासिक, 10. अन्तर-अनुशासनात्मक अनुसंधान आदि मुख्य रूप से प्राप्त होते हैं तथा शोध के विभिन्न आयामों की दृष्टि से 1. वैज्ञानिक, 2. समाजशास्त्रीय, 3. साहित्यिक अनुसंधान विषयों को मुख्य आधार क्षेत्र के रूप में देखा जा सकता है। जिसमें वैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय अनुसंधान में विषय अनुरूप शोध प्रविधि को प्रयोग में लाया जा सकता है, परन्तु साहित्यिक अनुसंधान का आधार सैद्धांतिक, वस्तुपरक, कलापरक और भावपरक होने के कारण यह समझना कठिन हो जाता है, कि विषय के अनुसार कौन सी प्रविधि का प्रयोग किया जाए, क्योंकि इसकी कोई निश्चित पद्धति नहीं बन पायी है। इस संदर्भ में डॉ. नगेन्द्र का कथन महत्वपूर्ण है 'साहित्य में आत्मा की प्रधानता है। अतः साहित्य के अध्ययन में आत्मतत्व का बहिष्कार कर एकांत वस्तुपरक अध्ययन की संभावना नहीं है। इस प्रकार का अध्ययन वस्तु से उलझकर जड़ बन जाएगा, क्योंकि साहित्य स्वतः वस्तु नहीं है, अनुभूति है। साहित्यिक अनुसंधान में ज्ञानवृत्ति के साथ ही सृजन, सौंदर्य संस्कृति की पोषक 'भाववृत्ति' का समुचित संयोग भी अभीकृति है।'⁵ अर्थात् साहित्य में भाव, कला, विचार की प्रधानता के कारण इसे तकनीक की कसौटी में नहीं कहा जा सकता या विज्ञान से तुलना नहीं की जा सकती।

साहित्यिक अनुसंधान में शोध प्रविधि भिन्न रूप से प्रयोग में लायी जाती है। साहित्यिक अनुसंधान में शोध प्रविधि के अलग मानदण्ड एवं मापदण्ड है। साहित्यिक अनुसंधान का क्षेत्र और विभिन्न विचारधाराओं के दृष्टियों के आधार पर साहित्यिक अनुसंधान के प्रमुख प्रकार निम्नलिखित हैं- '1. साहित्येतिहासिक, 2. काव्यशास्त्रीय अनुसंधान, 3. भाषावैज्ञानिक अनुसंधान, 4. शैलीविज्ञान अनुसंधान, 5. पाठानुसंधान, 6. लोक साहित्यिक अनुसंधान, 7. अंतरविद्यावर्ती अनुसंधान। अतः साहित्यिक अनुसंधान की दिशाएं भी अनेक हैं- 1. आलोचनात्मक पद्धति (तथ्याख्यानपरक), 2. तुलनात्मक पद्धति, 3. कालखण्ड परक या ऐतिहासिक पद्धति, 4. सर्वेक्षण पद्धति, 5. वर्गपरक पद्धति, 6. शास्त्रीय या सैद्धांतिक पद्धति।'⁶ अतः इन सभी दृष्टियों के पश्चात् महत्वपूर्ण प्रश्न तथ्यों का है जिसके आधार पर शोध की गुणवत्ता एवं नैतिकता निर्भर होती है।

अधिकांशतः साहित्यिक अनुसंधान में गुणात्मक विधि का प्रयोग किया जाता है जिसके अंतर्गत साहित्य में समाज और व्यक्ति को ही केन्द्र में रखकर अनुसंधान किया जाता है। साहित्य में शोध का विषयवस्तु अधिकांशतः सैद्धांतिक धरातल पर टिका होता है। शोधार्थी पुस्तकों की समीक्षा और साहित्यकार से हुई बातचीत के आधार पर शोधकार्य पूर्ण कर लेता है। जिससे शोध का व्यवहारिक पक्ष उभर कर सामने नहीं आ पाता और इस प्रकार अनुसंधान की नैतिकता भी बाधित होती है। समाज विज्ञान की भांति भले साहित्य के शोधार्थी के समक्ष आंकड़ों के चयन का विकल्प कम होता है, साथ ही प्रतिदर्शों (Samples) का चयन भी कम होता है, परन्तु अवलोकन पद्धति का प्रयोग किया जा सकता है। साथ ही विषय संबंधित क्षेत्र में जाकर वस्तुस्थिति को ज्ञात किया जा सकता है, जिस अनुसंधान विषय से संबंधित साहित्य लिखा गया है। ऐसा करने से सैद्धांतिक और व्यवहारिक पक्ष का तुलनात्मक अध्ययन कर सटीक निष्कर्ष तक पहुंचा जा सकता है। जिससे समाज और साहित्य में आये परिवर्तन को रेखांकित कर नवीन स्थापना की जा सकती है। शोध विषय से संबंधित क्षेत्र में समूह या व्यक्तियों का साक्षात्कार या सर्वे किया जा सकता है उनसे चर्चा विमर्श किया जा सकता है। घटनाजन्य विधि, नृ-जातीय या जातिवृत्त अनुसंधान, व्यक्तिगत अध्ययन, अनुसंधान, प्रदत्त आधारित सिद्धांत आदि वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रयोग कर शोध को प्रामाणिक बनाया जा सकता है। 'प्रमाण शब्द का अर्थ है शुद्ध ज्ञान या यथार्थ बोध एस. रोजेन्थल (M. Rosenthal) तथा पी. युडीन (P. Yudin) द्वारा संपादित 'ए डिक्शनरी ऑफ फिलॉसफी' (A Dictionary

of Philosophy) के अनुसार, किसी विचार के सत्यासत्य की स्थापना के लिए निर्मित तर्क प्रक्रिया है। प्रसिद्ध न्यायशास्त्री (तर्कशास्त्री) वात्सायन का कथन है कि प्रमाणों के द्वारा अर्थ की जांच करना ही न्याय (तर्कशास्त्र) है।⁷ शोध की प्रामाणिकता तथ्यों के आधार पर की जाती है तथा तथ्यों की सही जानकारी होना आवश्यक व अनिवार्य है तथा तथ्यों में किन साक्ष्यों को स्वीकार करना है या नहीं करना है, किन साक्ष्यों का चुनाव करना है इन बातों का विशेषकर ध्यान देना चाहिए।

साहित्यिक अनुसंधान में शोधार्थी के समीप तथ्यों का चुनाव एक प्रमुख चुनौती है उदा. साहित्य विषय में शोध स्रोत के अंतर्गत पुस्तकों के माध्यम से विभिन्न विचार, दर्शन, भाव, भाषा और व्याकरण के आधार पर यह निश्चित निर्णय कर पाना कठिन होता है कि किन तथ्यों का चुनाव करें और किसे छोटे क्योंकि पुस्तकों का ही संकलन अधिक हो जाता है उस पर भी यह ज्ञात करना कि किस पुस्तक के आधार पर कौन से तथ्य का चयन किया जाए यह जटिल एवं चुनौती पूर्ण प्रश्न है। साहित्य में तथ्यों के संग्रह में मिथ्याकरण एवं पुष्टिकरण का सिद्धांत महत्वपूर्ण है, क्योंकि मिथ्याकरण और पुष्टिकरण अनुसंधान सामग्री को प्रामाणिक घोषित करती है। मिथ्याकरण में किसी भी सिद्धांत के पूर्वाग्रह से संबंधित होने से उसका अनुपयोगी और अप्रासंगिक होने के कारण कोई औचित्य नहीं रह जाता। इसलिए पुष्टिकरण के द्वारा उस पूर्वाग्रह, पूर्वधारणा का खण्डन कर नवीन, मौलिक कारणों से सत्यापन ही पुष्टिकरण है, जिसके प्रयोग से साहित्यिक अनुसंधान के क्षेत्र में परिवर्तन कर नवीन विषयों पर कार्य किया जा सकता है, तथा जिससे साहित्य क्षेत्र में नवीन अवधारणा नए सिद्धांत, नए स्थापनाओं का विकास संभव हो सकता है।

प्रामाणिकता के संदर्भ में प्रो. मैथिली प्रसाद भारद्वाज का कथन है- ‘अप्रामाणिकता के विभिन्न आयामों के अतिरिक्त कुछ अन्य ऐसे आयाम भी हैं जो लेखन, टंकण, मुद्रण की त्रुटियों से संबंधित है तथा कई बार भारी भ्रांतियों को जन्म देते हैं। शोधकों को चाहिए कि वे शोध ग्रंथों के प्रामाणिक संस्करणों का ही प्रयोग करें।’⁸ अतः शोध प्रविधि को प्रभावित करने वाले कारक शोध सामग्री का चयन भी है, चूंकि साहित्य के विद्यार्थी के समीप पुस्तक रूप में अधिक सामग्री होती है ऐसे में प्रामाणिक संस्करणों वाली सामग्री का चयन अतिआवश्यक है। प्रो. मैथिली प्रसाद का कथन प्रासंगिक है “विश्लेषणात्मक साहित्यिक अध्ययनों में भी संगृहीत सामग्री के मूल्यांकन की दृष्टि से यह तत्व महत्वपूर्ण होता है। यही कारण है कि सामग्री के द्वितीयक स्रोतों के बजाए प्राथमिक स्रोतों से सामग्री संचयन एवं निर्भरता को वरीयता दी जाती है। मूल सामग्री को अनिवार्यतः लेकर उसके अनुवाद, व्याख्या या रूपांतरण को जितना कम ग्रहण किया जाए उतनी ही विकार या निरूपण की संभावना कम होती है।”⁹ अतः साहित्यिक अनुसंधान में तथ्यों का चुनाव एवं प्रयोग गहन एवं सूक्ष्म कार्य है, जिसमें अनुसंधान की प्रामाणिकता निर्भर करती है।

साहित्यिक अनुसंधान की विशेषता यह है कि यह सृजनात्मक स्वरूप में है तथा इसमें कम यांत्रिकता का प्रयोग होता है। सर्जनात्मक साहित्य के शोध के लिए कोई सुनिश्चित यांत्रिक प्रणाली नहीं है। इसलिए साहित्यिक शोध की अभी तक कोई सुनिश्चित पद्धति विकसित नहीं हो सकी है। डॉ. नगेन्द्र का कथन है- “शुक्ल जी की आलोचना पद्धति में तत्व-दर्शन के प्रति इतना प्रबल आग्रह था कि वे तथ्यों की चिंता अधिक नहीं करते थे। उनके इतिहास तथा भूमिकाओं एवं सैद्धांतिक निबंधों में तथ्याचार स्पष्टतः दुर्बल है। तथ्यों के संकलन और सांख्य की पद्धति के अवलंबन के प्रति उनकी रुचि नहीं थी। इसका सुपरिणाम यह हुआ कि जायसी, सूर और तुलसी के काव्य के जिन मार्मिक रहस्यों का उद्घाटन वे अपनी संक्षिप्त भूमिकाओं में कर गए हैं, परवर्ती अनुसंधान दाताओं के विशालकाय ग्रंथ आज तक उनमें कोई आश्चर्यजनक अभिवृद्धि नहीं कर पाए हैं।”¹⁰ इसके पश्चात् डॉ. धीरेन्द्र वर्मा के विषय में ‘वैज्ञानिक पद्धति को हिंदी शोध के क्षेत्र में भी प्रतिफलित करने का व्यवस्थित प्रयत्न किया और एक नवीन शोध प्रणाली का आविर्भाव हुआ जिसने माना अनुसंधान आलोचना नहीं है।’¹¹ अतः साहित्यिक अनुसंधान में शोध का आलोचनात्मक दृष्टिकोण आवश्यक है पर शोधार्थी को आलोचना और अनुसंधान में अंतर ज्ञात होना चाहिए जिससे वह शोध विषय पर प्रामाणिक विश्लेषण कर सके। इसे और स्पष्ट करते हुए डॉ. नगेन्द्र का कथन है-

‘आलोचनात्मक प्रतिभा के बिना मैं उत्कृष्ट अनुसंधाता की कल्पना नहीं कर सकता। शोध-नियमों के अनुसार भी परीक्षक को यह प्रमाणित करना पड़ता है कि अनुसंधाता ने अपने प्रबंध में आलोचना क्षमता का परिचय दिया है। सत्य शोध के तीन संस्थान हैं- तथ्य संग्रह, विचार और प्रतीति। उपलब्ध तथ्य को विचार में परिणत किये बिना ज्ञान की वृद्धि संभव नहीं है और विचार को प्रतीति में परिणत किये बिना सत्य की सिद्धि संभव नहीं, तथ्य को विचार रूप देने के लिए भावना की आवश्यकता पड़ती है और विचार को प्रतीति में परिणत करने के लिए दर्शन अनिवार्य तत्व है।’¹² इस प्रकार साहित्यिक अनुसंधान में सटीक तथ्यों का चयन, आलोचनात्मक वैचारिक दृष्टिकोण, भाव प्रतीति अनुसंधान में शोधार्थी के लिए महत्वपूर्ण दृष्टिकोण को उजागर करता है।

निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि समाजशास्त्रीय एवं वैज्ञानिक शोध प्रविधि साहित्यिक अनुसंधान से भिन्न अवश्य है, परन्तु तर्कों एवं तथ्यों के आधार पर ही शोध प्रामाणिक सिद्ध होते हैं। साहित्यिक अनुसंधान की शोध प्रविधि में भी विविध प्रकार आलोचनात्मक, तुलनात्मक, कालखण्डपरक, ऐतिहासिक सर्वेक्षण, वर्गपटक, शास्त्रीय एवं सैद्धांतिक पद्धति के आधार पर सटीक रूप से विश्लेषित किया जा सकता है। साहित्यिक अनुसंधान में तथ्यों की उतनी ही महत्वपूर्ण भूमिका है, जितनी वैज्ञानिक या समाजशास्त्रीय जैसे विषयों में होती है। तथ्यों का आधार अनुसंधान के जांच की कसौटी है जिससे उसकी सत्यता, प्रामाणिकता, विश्वसनीयता यथार्थता की पुष्टि होती है। साहित्यिक अनुसंधान अधिकांश भावनापरक एवं कलापरक दृष्टि के कारण अपनी विशेष पद्धति व तकनीक विकसित नहीं कर पाया है। परन्तु वहां भी तथ्यों में कार्य-कारण संबंध, सिद्धांतों की स्थापना, विषय का तर्कसंगत निर्वाह, मानव-जीवन के ज्ञान का वैचारिक पक्ष आदि महत्वपूर्ण बिंदुओं को उभारते हैं। साहित्यिक अनुसंधान तथ्यों को सामाजिकता से जोड़ता है, जो दोनों व्यक्ति एवं समाज के विभिन्न राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक आदि पक्षों को पूर्ण करता है। अंततः साहित्यिक अनुसंधान का तथ्य पूर्णतः विज्ञान से भले ना जुड़े परन्तु वह मानव एवं समाज से जुड़ता है, जिसके कई सारे आयाम हैं चाहे मानव अनुभूति के हो, समाज संस्कृति के हों, वह वस्तुपरक नहीं है पर उसकी स्वयं की व्यक्तिनिष्ठ, विषयनिष्ठ पद्धति है, जो पूर्णतः वैचारिक, तार्किक, प्रासंगिक है। साहित्यिक अनुसंधान में आलोचनात्मक दृष्टि तर्क एवं विचार के आधार शोध की सैद्धांतिक पक्ष को प्रामाणिक बनाती है तथा साहित्यिक अनुसंधान की गुणवत्ता एवं नैतिकता के पक्ष को मजबूत करती है।

हिंदी विभाग

डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

संदर्भ :

1. राय, पारसनाथ, अनुसंधान परिचय, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा, 2014, पृ.17
2. वर्मा, हरिश्चंद्र, शोध-प्रविधि, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, 2011, पृ.46
3. जैन, रवींद्र कुमार, साहित्यिक अनुसंधान के आयाम, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, पृ.5
4. वही, पृ.22
5. वही, पृ.50
6. वही, पृ.54
7. भारद्वाज, मैथिली प्रसाद, शोध प्रविधि, आधार प्रकाशन, पंचकूला हरियाणा, 2005, पृ.44
8. वही, पृ.158
9. वही, पृ.51
10. स्नातक, विजयेंद्र एवं सिन्हा, सावित्री, अनुसंधान की प्रक्रिया, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1960, पृ.55
11. वही, पृ.56
12. वही, पृ.

21वीं सदी की स्त्री : स्त्री कविताओं के विशेष संदर्भ में

एस. रजिया बेगम

स्त्री और पुरुष परिवार और समाज के दो आवश्यक स्तम्भ हैं। बाहरी तौर पर भले ही ये दो अलग-अलग धड़े के रूप में दिखलाई पड़ते हैं किन्तु सच्चाई यह है कि ये दोनों एक दुसरे के पूरक हैं। घर और समाज के मुख्य घटक। एक के बिना दुसरे का अस्तित्व संभव नहीं। ऐसे में किसी एक पक्ष का एक दुसरे को कमतर देखने और आंकने की प्रवृत्ति के कोई मायने नहीं हैं। तमाम अंतर्विरोधों के बावजूद यह एक सार्वभौमिक सत्य है कि हम एक दुसरे के बिना नहीं रह सकते। यह जरूरत सिर्फ शारीरिक या संतति के स्तर पर ही नहीं मानसिक और भावनात्मक स्तर पर भी आवश्यक है। किन्तु यह एक कटु सच्चाई है कि हम इस अवधारणा को समझ नहीं पाए और प्रकृति के विपरीत खुद को खुदा मानने की भूल कर बैठे। उसके नियमन को समझने की बजाये खुद को नियामक बना बैठे। सबके स्वतंत्र सहअस्तित्व की जगह वर्जनाओं की दिवार खड़ी करते रहे। वर्जनाओं की इस प्रवृत्ति ने समाज में एक प्रभुसत्ता वर्ग पैदा किया जो अपने श्रेष्ठता के अहम् में अपने ही लोगों के बीच खाई खोदते रहे। इस प्रवृत्ति ने समाज को बहुत दूरगामी क्षति पहुंचाई। वर्ग, जाति, धर्म से लेकर स्त्री और पुरुष तक को विभिन्न वर्जनाओं में समेट दिया। परिणामतः हम समाज के अनेक वर्गों की स्वभाविक क्षमता और प्रतिभा को उचित सम्मान नहीं दे पाए न ही उनका उपयोग कर पायें। और उस से वंचित होते रहे, अपने सर्वशक्तिमान होने का मुगलता पालते रहे और अपनी विध्वंसक शक्ति पर इतराते रहे। लेकिन भूल बैठे कि प्यार और सम्मान की भूख सबको बराबर ही होती है। जब एक अबोला जानवर प्यार के वस में हो जाता है और दुत्कार पर प्रतिक्रिया व्यक्त करता है तो बुद्धि दिमाग वाले मनुष्य के लिए ये सोंच लेना कि वह सदियों से स्थापित गुलामी और दासता के जंजीर को पीढ़ी दर पीढ़ी प्रभुसत्ता वर्ग की घृणा के साथ ढोता रहेगा संभव नहीं था। हम जानते हैं परिवर्तन प्रकृति का नियम है। परिवर्तन के इस घूमते चक्के ने समय के साथ कई वर्जनाओं को तोड़ा, कई जड़ताओं के विरुद्ध आवाज बुलंद की। आज समाज और साहित्य में विद्यमान लगभग सभी विमर्श उसी मुखर होती आवाज और टूटती वर्जनाओं के परिणाम हैं।

आज का स्त्री विमर्श भी एक ऐसा ही विषय है। गौरतलब है कि देश और दुनिया के सभी वर्गों, जाति, धर्म और संप्रदाय, भाषा रहन-सहन में अंतर के बावजूद सभी के अन्दर स्त्रियों की दशा में कोई मुलभूत अंतर नहीं है। दुनिया के किसी कोने से उठती स्त्रियों की आवाज एक जैसी ही है जिसे उनके लेखन में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। लेकिन सवाल यह है कि सभी सभ्यता संस्कृति में स्त्रियों को सैद्धांतिक रूप से ऊंचा, श्रेष्ठ, यहाँ तक की देवी जैसे महत्वपूर्ण दर्जा दिए जाने के बावजूद उन्हें वैसा ही सम्मानीय स्थान क्यों नहीं मिल पाया? ऐसे बहुत से सवाल एक मुद्दे से उठते रहे हैं, जहाँ एक तरफ ये माना जाता है की स्त्री और पुरुष रथ के दो पहियों के सामान हैं फिर इतना मतभेद कैसे और क्यों है? एक देवी कब और कैसे इन धर्मग्रंथों के पन्नों से बाहर आकर महज भोग्य और मादा शरीर में तब्दील हो जाती है? कैसे वे भेड़ बकरियों की तरह राजे महाराजे और शहंशाहों के हरम की

शोभा बन जाती है? कैसे वे इन देवियों से च्युत होकर नगरवधु, वेश्या और तवायफों की संज्ञा से विभूषित हो जाती हैं। इसकी चरम परिणिति देवदासी प्रथा से लगाया जा सकता है। जहाँ एक और तो स्त्रियों को देवी का दर्जा दिया गया वहीं देवदासी के रूप में धर्म के आड़ में उनकी स्थिति वैश्यियों से भी बदतर कर दी गयी। उर्मिला जैन की कविता इसी कुरीतियों को दर्शाती है। “वेंकटेश्वर भगवन की दुल्हन का सुख : ऋतुमती होते ही बालिका/ब्याह दी गई/पत्थर के ग्राम देवता/वेंकटेश्वर भगवन से/परोस दी गई/एक सजी थाली के रूप में/चाचा, बाप, भाइयों के लिए/परिवार के पुरुषों की/अनियंत्रित वासना पूर्ति का/इससे सुलभ साधन का/कहाँ मिलता भला? दुल्हन वेश में/पहुँचा दी गई ‘मंदिर’ में/ मिल गई छुट चल पड़ा सिलसला सामूहिक बलात्कार का/बच गई यदि/इस बर्बरता के बाद भी/तो बैठे कोटे पर/ बन गई श्रोत अच्छी आय का....कितनी बड़ी जालसाजी यह/इश्वर के नाम पर! कलपता होगा बैठा कहीं वह भी/ पुरुषों के इस ‘संविधान’ पर।” गौरतलब है कि कैसे उसे एक पण्य या निर्जीव वस्तु की तरह उनकी इच्छा अनिच्छा के विरुद्ध अपनी जरूरत के अनुसार इस्तेमाल, खरीदा-बेचा या दान दिया जाता था। इस रहस्य को तलाशना इतना सहज तो नहीं है। इसके जवाब के लिए अतीत की अनेक सीढ़ियाँ उतरनी होगी, इतिहास के पन्ने पलटने होंगे। महान कवि तुलसीदास जी की उक्ति “ढोल गंवार शूद्र पशु नारी, सकल ताड़ना के अधिकारी” चाहे जिस सन्दर्भ में कही गयी हो लेकिन यदि साहित्य समाज का आइना होता है - के सन्दर्भ में भी देखें तो यह तत्कालीन समाज में स्त्रियों की दशा का चित्र तो खींचते ही हैं। साहित्य यही तो करता है वह आईने की तरह समय का यथार्थ हमारे सामने इसलिए रखता है कि हम अपनी वास्तविक स्थिति से अवगत हो सकें। इस तरह वह निरंतर हमें हमारी स्थिति का भान कराता साथ ही हमारी चेतना को विकसित कर हमारा मार्गदर्शन भी करता है। यही कारण है कि वर्तमान का स्त्री विमर्श भी साहित्य के रास्ते ही मुखर होकर सामने आ पाई। यदि साहित्य की दृष्टि से स्त्री विमर्श का अवलोकन करें तो वर्तमान स्त्री विमर्श पिछले कुछ दशकों में उभरकर सामने आया है। और उसके सकारात्मक परिणाम भी सामने आये हैं। आज इस विमर्श में उनके सहभागी पुरुषों में उनके प्रति सोच और मानसिकता में बड़ा फर्क आया है। फिर भी कहीं न कहीं बराबरी के सवाल पर कुछ पूर्वाग्रह तो बने हुए हैं ही। यही कारण है कि आज भी स्त्री मन के उस घाव को नहीं छिपा पाती जो उसे कहीं न कहीं पुरुषों द्वारा ही सौगात में मिलते हैं। वर्तमान में भी अधिकतर पुरुष वर्ग स्त्री को उसी रूढ़िवादी जकड़न में बंधा देखना ज्यादा पसंद करते हैं, स्त्री अपने मन का कुछ भी करें उन्हें वह लुभावना नहीं लगता है बल्कि वह उस पर भी अपने सगुप्ते कसने से बाज नहीं आते और ऐसा हर क्षेत्र में देखा जा सकता है। आज भी उनपर रोज नए-नए वर्जनाएँ लगाने से समाज के कई घटक बाज नहीं आते। ऑनर किलिंग जैसी घटनाएँ, पहनावे-पोषक जैसे फतवायें इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। इसका कारण यह है कि वे खुद भी रूढ़िवादी जकड़न से मुक्त नहीं हो पायें हैं। स्त्री को आनंत काल से दास - भोग्या समझने वाला समाज अचानक कैसे अपने आप में परिवर्तन ला सकता है। और स्त्रियाँ भी चुप रह जाती है यह सोंचकर कि रिश्तों में गांठ न पड़ जाये। स्त्रियाँ अभ्यास से अपने दुःख को इस कदर साध चुकी हैं और उनके साथ जीने की ऐसी आदि हो गई हैं। अब उन्हें इसका आभास तक नहीं होता। ताज्जुब की बात तो यह है कि दुःख साधने कि यह तकनीक उन्हें कोई पुरुष नहीं वरन सदियों से स्त्रियों (माँ, दादी, चाची, बुआ, बहन और ताई इत्यादि) द्वारा ही विरासत में घुड़ी की तरह पिलाई जाती रही है। क्योंकि तभी वह स्त्री सुशील और संस्कारी मानी जाती है। तमाम उपेक्षा, अवहेलना से उपजे दुःख को पीती, अपने दुःख को अपने अंतर्मन में आत्मसात करती और बिना किसी प्रतिवाद के परिवार के सुख के लिए न्योछावर होती इस अच्छी स्त्री को आशा पाण्डेय ने अपनी कविता ‘अच्छी स्त्री’ में अच्छी तरह व्यक्त किया है “सुबह उठते ही/उसने खा ली है पति की गाली/अब दिनभर उसे भूख नहीं लगेगी/न होगा मन/एक कौर भी गले से नीचे उतारने का/शिकायत भी नहीं करेगी किसी से/वह अच्छी स्त्री है घूमेगी घर में आज भी/चकरधिन्नी की तरह सुबह से शाम तक/अच्छी स्त्रियाँ.../”⁹ अन्यथा उनपर कई तरह के अवांछित प्रतिबन्ध लगा दिए जाते हैं या उसे रंडी, कुलटा, जैसे ना जाने कितने नामों से विभूषित किया जाता है। इस डर से अधिकतर स्त्रियाँ चुप्पी साधे रखना ही उचित समझती हैं, और समाज द्वारा निर्धारित सारे अच्छे गुणों को अपने में समेटने आत्मसात करते जीवन बिता देती हैं। इन्ही भावों को युवा कवयित्री सुजाता तेवतिया अपनी कविता ‘औरत गढ़ने का सुख’ में अभिव्यक्त करती हैं- “तुम्हे चाहिए एक औसत औरत/न कम न जायदा/तुम्हे एक औसत औरत

में/अपनी औरत गढ़ने का सुख चाहिए/”³ आज जब हर क्षेत्र में स्त्रियाँ घर हो या बाहर पुरुषों के साथ साथ कन्धा मिलाकर चल रही हैं और घर और समाज के विकास में बराबर का योगदान दे रहीं हैं, सदियों से चली आ रही पितृसत्तात्मक समाज में पुरुष मानसिकता में वह बदलाव नहीं आ पाया जो स्त्रियों को उनके आत्मसम्मान के साथ स्वीकार सके। आज भी समाज में शादी-विवाह में न तो दहेज खत्म हुआ न सुन्दर, सुशील गृहकार्य में दक्ष युवती की तलाश। हों एक योग्यता और जुड़ गयी पढ़ी लिखी और नौकरी पेशा वाली लड़की। हों आर्थिक आत्मनिर्भरता ने उनमें थोड़ा आत्मविश्वास और स्वतंत्रता का एहसास जरूर जगाया है पर उनके हालत और उनके प्रति नजरिया बदल गया हो ऐसा नहीं हुआ। आप देखे आज भी छेड़छाड़ की घटना हो या बलात्कार जैसी अमानवीय कृत्य इसका जिम्मेदार लड़कियों को ही माना जाता है। उन पर हजार लांछन और सौ हिदायतें। किसी लड़की का बलत्कार सभी लड़कियों के लिए नयी वर्जनाएं नियत कर देता है। कमाल की बात तो यह है कि नैतिकता और मर्यादा की दुहाई देने वाले जो धर्म अपने श्रेष्ठता के दंभ में एक दुसरे को फूटे आँख नहीं सुहाते यहाँ तक की खून के प्यासे रहते हैं स्त्रियों के मामले में उन सभी में अद्भुत साम्य देखा जा सकता है। और लम्पट लोलुप लोग लगातार इसका फायदा उठाते रहते हैं और चरित्र हनन के भय से वे इस शोषण को सहने के लिए विवश रहती है। इसका सीधा सा तात्पर्य है यह है कि हमारी सामाजिक संरचना प्रगतिशीलता के तमाम दावों के बावजूद उन्ही रूढ़ियों में जकड़ा है। स्त्री विमर्श देवियों का दर्जा प्राप्त इन स्त्रियों का जीवन आज भी अबला जीवन तेरी यही कहानी पर अटका है। स्त्री की यही पीड़ा भावना की कविता-सपनों को मरने मत देना में बिलकुल सही-सही बयाँ होती है, “जब भी आती है यह खबर/फिर किसी का नोचा गया है जिन्दा गोश्त/किसी भेड़िये ने फिर बनाया है/किसी लड़की को शिकार/तो सच पूछिए/स्त्री होने की गलानी मुझे जीने नहीं देती/...लेकिन संशकित है समाज/चिंतको और समाजशास्त्रियों की वाणी मौन है..”⁴

इस स्थिति में स्त्री मुक्ति का सपना जटिल तो है पर उसे कैसे समाप्त किया जाये इस पर गौर करना जरूरी है। गौर करे तो यह पाएंगे कि हर स्त्री की समस्याएँ एक सी नहीं है बल्कि वर्गों और परिस्थितियों के अनुसार उनकी समस्याओं में भी विभिन्नताएँ दिखाई पड़ती है। उदाहरण के तौर पर देखा जा सकता है कि निम्न और कुलीन वर्ग की औरतों के लिए घर की चौखट मध्यवर्गीय औरतों की तरह लक्ष्मण रेखा नहीं होती। जहाँ निम्न वर्ग की औरतों को खेती बाड़ी, मजदूरी तथा काम धंधे के लिए आवश्यक रूप से बाहर निकलना ही होता है वहीं कुलीन स्त्रियों को भी शिक्षा और नौकरी व्यवसाय इत्यादि क्षेत्र में सहज ही देखा ही जा सकता है। वहीं जाहिर है मध्यवर्गीय स्त्रियों को वैसी स्वतंत्रता इन दोनों वर्गों की तरह सहज उपलब्ध नहीं है। आम तौर आज भी मध्यवर्गीय लड़कियाँ खास तौर पर छोटे शहरों में उच्च शिक्षा और नौकरी तो दूर की बात अपने दोस्तों के घर जाने के लिए भी इजाजत लेनी पड़ती है। मुस्लिम समाज में यह स्थिति तो अभी और भी दुरुह है। स्पष्ट है सब के स्वतंत्रता के अपने मायने हैं और अपने मानदंड। लेकिन सच्चाई यह है कि सभी किसी न किसी शोषण चक्र में जकड़ी हैं। और कहीं न कहीं शोषक भी। इसका एक सबसे बड़ा कारण यह भी है कि पितृसत्तात्मक समाज में पुरुष शोषण से गुजरते स्त्रियाँ अपने आहत अहम् की तुष्टि और पुष्टि के लिए अपने अन्दर वही चरित्र विकसित कर लेती हैं। और अपने से कमजोर पर ठीक उसी तरह आजमाती हैं। इसके सबसे बड़े शिकार उच्च घरानों में कम करने वाले घरेलु नौकर होते हैं। जिनमें स्त्रियाँ और पुरुष दोनों ही शामिल हैं। दूसरे होती हैं घर की बहूएँ। अब सास बहू की कहानी किसी से अंजान तो नहीं! मध्यवर्गीय परिवारों में इनकी सबसे बड़ी शिकार अपनी ही बहू बेटियाँ होती हैं। जिन पर ये इन सब वर्जनाओं का प्रयोग करने में बिलकुल भी नहीं संकोचती जो खुद कभी इनको नागवार गुजरा था। इस प्रकार यह भी देखने में आता है कि चाहे उनके अन्दर पुरुषवादी समाज से विरोध हो किन्तु ये उसी का पोषण भी करती हैं। उससे न खुद निकलती है न बाद की पीढ़ी को निकलने देना चाहती है। इस प्रकार वह खुद शोषण का एक बड़ा दायरा विकसित कर लेती है जिसकी शिकार भी औरतें ही होती हैं। डॉ. वंदना मिश्रा की कविता में इसका स्पष्ट झलक दिखाई पड़ता है : “सुखी औरतें : सुखी औरतों का गणित/बड़ा स्पष्ट होता है/वे अच्छी तरह जानती हैं/कि दूसरी शादी कर ली/जिनके पति ने/यह महिला कहाँ दोषी थी/नहीं रह पाई ससुराल में जो लड़की/क्या कमी रह गई थी/उसके आचरण

में/बलात्कार हुआ जिस लड़की का/कैसी जानलेवा थी उसकी अदाएं/बिल्कुल न्यायधीश की भूमिका में कहती है/थोड़ा मेघमन्द्र स्वर में/ऐसा ही न होना बलात्कार का/सुखी औरतें बड़ी पकड़ बनाएं रखती हैं अपने परिवार पर/हिल नहीं सकता उनका पति सचमुच/और देता रहता है/अवसर उन्हें दुसरो पर आरोप मढ़ने का/”⁵

इस प्रकार पितृसत्ता का दमनकारी रूप सदियों से चला आ रहा है। उसी अनुरूप हमारी सामाजिक संरचना में स्त्रियों को गढ़ा जाता रहा है या यों कहें अनुकूलित किया जाता रहा है। तभी तो इतने वर्षों बाद भी दहेज के नाम पर स्त्रियाँ जलायी जाती हैं, लड़कियों को जन्मते ही किसी कूड़े के ढेर में में डाल दिया जाता है, कन्या भ्रूण हत्या होता है, और इससे बड़ी विडम्बना और क्या होगी कि यह सब माँ, बहन, ननद या सास के रूप में एक स्त्री के उस घर में मौजूद होने के बावजूद संभव हो पता है! कौन सा षड्यंत्र है यह? कि इस बात को बड़ी आसानी से मनवा लिया जाता है की ‘स्त्री ही स्त्री की दुश्मन है’। यह एक ऐसी चाल है जो कभी स्त्रियों को समझ ही नहीं आया, इसकी पड़ताल आज भी जरूरी है। क्या वह अपना समय भूल जाती है? या ये रुढ़ियाँ स्त्रियों के रगों में इस कदर बस गया है की उस रुढ़ियों को तोड़ बहार निकल ही नहीं पाती हैं। उसकी आजादी आज भी नपी-तुली ही है, आज भी उसे प्रेम के नाम पर जला दिया जाता है या मार दिया जाता है। उसे पुरुषों की तरह प्रेम के अफसाने गढ़ने का कोई हक नहीं है। वह कभी तो पत्थर से चुनवा दी जाती है या फिर कभी जिन्दा जला दी जाती है, उर्मिला जैन की कविता ‘नूरजहाँ’ ऐसी ही एक घटना का मार्मिक चित्रण करती है। “फिर एक नूरजहाँ/जलाई गई है खम्बों से बांधकर/बांग्लादेश के श्रीपुर गांव में। दो वर्षीया मासूम ताजू/माँ को जलता देखता रहा/सुबकता रहा, चीखता रहा/धर्म के ठेकेदार, गाँव एक अगुआ, धरती को करते रहे पवित्र/”⁶ यह एक विचारणीय विषय है जिस पर अभी भी काम होना बाकी है। इस वीभत्स समय में हर माँ को अपनी बड़ी होती बेटी के प्रति चिंता होना सवभाविक है और उस चिंता का डर में तब्दील हो जाना भी। ये डर यूँ ही नहीं है स्त्रियाँ बड़ी आसानी से नजर-नजर का फेर समझ लेती हैं। पुरुषों की लोलुप नजर हर जगह उनका पीछा करती है। वह चाह कर भी इनसे मुक्त नहीं हो पाती। इस चिंता की सहज स्वाभाविक अभिव्यक्ति रेखा चमोली की कविता ‘बड़ी होती बेटी’ में देखी जा सकती है माँ कहना चाहती है/खूब खेले कूदो/दौड़ो भागो/पर माँ कहती है/गली में मत जाना/रात होने से पहले लौट आना।”⁷

आज चाहे समाज में उनकी सहभागिता बढ़ गयी हो पर इसमें भी पुरुषों का ही स्वार्थ छिपा है। स्त्री को नौकरी में जाने दिया जाना ऐसे ही नहीं है बल्कि आज की जरूरत है और पुरुष इसे भली-भांति भांप गया था; इसलिए उसने उसे स्वीकृति दे दी, लेकिन स्त्री का जीवन जटिल ही बना रहा और उसे अपना आत्मबल को और मजबूत कर सामने लाना पड़ा। जिसे आत्मा रंजन ने अपनी कविता में बखूबी रेखांकित किया है। कंकड़ छांटती - भागते हांफते समय के बीचोंबीच/समय का एक विलक्षण खंड है यह/अति व्यस्त दिन की/सारी भागमभाग को धत्ता बताती/दाल छांटने बैठी है वह/काम से लौटने में विलम्ब के बावजूद/तमाम व्यस्तताओं को/खूंटती पर टाँगें पसार/बैठ गई है गृहस्थ मुद्रा में.../”⁸ गौरतलब है काम से लौटने के विलम्ब के बावजूद उसे वह सब कुछ देखना पड़ता है जो उसने अधूरा छोड़ा हुआ था, उसे पूरा करने वाला कोई नहीं होता है लेकिन इसके बाद भी कोई उससे स्नेह करता नहीं दिखाई पड़ता बल्कि उलट उसको कड़वे शब्द सुनने पड़ ही जाते हैं। इसी भाव भूमि को पद्मजा शर्मा कविता कामकाजी औरत में बयां करती हैं “कामकाजी औरत दिए की तरह/दिन रात जलती है/राख ढके खीरों-सी सुलगती है/हंसने की बात पर भी/कभी-कभी जाने क्यों रो पड़ती है कामकाजी औरत”⁹

इस बात से भी इंकार नहीं किया जा सकता की आज शिक्षा ने स्त्रियों को एक संबल दिया है जिससे आज वह यह समझने लगी है की उसकी लड़ाई पुरुषों से नहीं बल्कि उस तंत्र से है जिन्होंने बड़ी चालाकी से उसे रचा है, जिससे की पुरुष औरत की तुलना में श्रेष्ठ दिखे। इसलिए शिक्षा के बल पर स्त्री लगातार हर क्षेत्र में अपना लोहा मनवा रही है फिर भी कहीं न कहीं वो घुटती है, और सामाजिक संरचना के घुटन उसे अन्दर तक उद्वेलित करते हैं। इसलिए आज उनके अन्दर बदलाव की सुगबुगाहट देखी जा सकती है। आज स्त्रियाँ अपनी उस मानसिकता से बाहर निकलने की निरंतर कोशिश में हैं, और परम्परा के बंधन को नकार कर आगे बढ़ने के लिए निरंतर प्रयासरत

हैं। अब वह किसी के दया पर जीने की उम्मीद लगाये नहीं बैठी हैं बल्कि सब कुछ अपने बूते प्राप्त करने का हौसला उन्हें हर क्षेत्र के साथ-साथ रचनाशीलता में भी कामयाबी दिला रहा है। सृजनलोक के संपादक संतोष श्रेयांस ने वर्तमान समय में स्त्रियों के बात - विचार और मानसिकता में आए परिवर्तन को रेखांकित करने के लिए काव्य-विधा को चुना जो “21वीं सदी की स्त्री कविता” नामक विशेषांक के रूप में प्रकाशित हुआ है। इन कवयित्रियों की कविताओं से गुजरते हुए यह बिलकुल साफ हो जाता है कि आज की नारी की आवाज ‘मैं नीर भरी दुःख की बदरी’ सदृश विविधता की दबी-घुटी भावों की स्वीकारोक्ति तक ही सीमित नहीं रहा ना ही अपने स्वतंत्रता और अधिकार के लिए याचना के स्वर तक। अब इसके भाव-भाषा में काफी आत्म-विश्वास झलकता है। आज इसकी कवितायें सिर्फ स्त्रीवादी नहीं रही अपने समय परिवेश से बावस्ता विभिन्न विषयों का समावेश आज इनकी कविताओं में दिखता है।¹⁰ गौरतलब है कि लेखिकाएं अब अपने वजूद को प्रमुखता से सामने रख रहीं हैं बिना किसी भय संकोच के साथ ही अपने अधिकारों के प्रति उतनी ही सजग भी दिखाई पड़ती हैं। अलका प्रमोद की कविता बहुत हुआ बस में इसे देखा जा सकता है “बहुत हुआ बस/नहीं चाहते देवी बनना/हक समता का पाना है/विश्व बनाएं दिन-दिन बेहतर/ऐसा अलख जगाना है/नहीं पुरुष है दुश्मन मेरा/उसको नहीं हराना है/जीवन में बस आगे-आगे/आगे बढ़ते जाना है।”¹¹ इसी विश्वास के साथ वो निरंतर प्रयासरत है इन दीवारों को ढाहने हेतु। स्त्रियों की मुक्ति पाने की तड़प उन्हें हमेशा बाध्य करती है मुक्ति के प्रयास के लिए और यही प्रयास उसके जीवन को बदलने के स्वप्न को पूरा भी करता है।

हिंदी विभाग

विज्ञान एवं मानविकी संकाय

एस. आर. एम. आई. एस. टी,

कटनकुलथुर, तमिलनाडु - 603 203

संदर्भ -

1. उर्मिला जैन वेंकटेश्वर भगवन की दुल्हन का सुख - 21 वीं सदी की स्त्री कविता सृजनलोक साहित्यिक पत्रिका, पृष्ठ 17
2. आशा पाण्डेय- अच्छी स्त्री - 21वीं सदी की स्त्री कविता - सृजनलोक साहित्यिक पत्रिका, पृष्ठ 15
3. सुजाता तेवतिया- औरत गढ़ने का सुख -21 वीं सदी की स्त्री कविता सृजनलोक साहित्यिक पत्रिका, पृष्ठ 72
4. डॉ. वंदना मिश्र सुखी औरतें - 21 वीं सदी की स्त्री कविता सृजनलोक साहित्यिक पत्रिका, पृष्ठ 59
5. भावना-सपने को मरने मत देना (कविता-पुस्तक) - पृष्ठ 128
6. उर्मिला जैन नूरजहाँओ - 21 वीं सदी की स्त्री कविता,-सृजनलोक साहित्यिक पत्रिका, पृष्ठ 17
7. रेखा चमोली- बड़ी होती बेटी - 21 वीं सदी की स्त्री कविता- सृजनलोक साहित्यिक पत्रिका, पृष्ठ 57
8. आत्मा रंजन- कंकड़ छांटती पगडंडियां गवाह हैं (कविता- पुस्तक) पृष्ठ 9
9. पद्मजा शर्मा, कामकाजी औरत - मैं बोलूंगी (कविता- पुस्तक) पृष्ठ 106
10. संतोष श्रेयांस, संपादक -21 वीं सदी की स्त्री (विशेषांक) 5
11. अलका प्रमोद बहुत हुआ बस - 21 वीं सदी की स्त्री कविता - पृष्ठ 11

उत्तरप्रदेश के बुन्देलखण्ड क्षेत्र में होने वाले प्रवास के प्रवाह-प्रतिरूप का एक भौगोलिक अध्ययन

विनय कुमार, संजय कुमार, राजबहादुर अनुरागी

मानवों में प्रवास कि प्रवृत्ति उसके जन्म के साथ ही विकसित होना प्रारंभ हो गयी थी। तब से मानव विभिन्न प्राकृतिक, आर्थिक व राजनीतिक प्रभावों के वशीभूत होकर चाहे-अनचाहे मन से प्रवास के लिए निरंतर तत्पर रहा है। प्रवास कि घटना एक बहुआयामी घटना पर आधारित प्रक्रिया है जिसका प्रभाव किसी भी क्षेत्र के जनसंख्या नियोजन, मानवीय विकास, सामाजिक विकास तथा नगरीकरण के परिवर्तन पर पड़ता है। लोगों द्वारा प्रवास का यह लक्षण एक गत्यात्मक बल की भूमिका निभाता है जो कि न केवल ग्रामीण क्षेत्रों की गतिकी बल्कि साथ ही साथ शहरी क्षेत्रों की गतिकी को भी प्रभावित करता है (हरप्रीत सिंह, 2016)। गरीब और पिछड़े राज्यों से पुरुषों एवं महिलाओं (मुख्यतः पुरुषों के साथ) का प्रवास अधिक आमदनी वाले राज्यों की ओर होता है (अरूप मित्र और मायुमी मुरायमा, 2009)।

ग्रामीण क्षेत्रों की जनसंख्या को छोटी नगरीय इकाइयों व महानगरों की ओर प्रवासित करने में, नगरीय इकाइयों में सामाजिक, आर्थिक, औद्योगिक तथा तकनीकी विकास आदि ने अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। पिछले 20 सालों में ग्रामीण-नगरीय अन्तर्राज्यीय प्रवास का आकार लगभग दोगुना (2011 में 65.95 लाख) हो गया है जिसका कारण ग्राम्य आर्थिक-संकट और अनियन्त्रित रूप से बढ़ती बेरोजगारी है (आलोक कुमार चौबे और गायत्री राय, 2020)। चूंकि उत्तरप्रदेश की ज्यादातर जनसंख्या कृषि कार्यों में लगी हुई है और किसान इतने महंगे कृषियंत्र, उर्वरक और रासायनिक छिड़काव वाली दवाओं आदि का उपयोग खाद्यान्न फसलों में करने में समर्थ नहीं है इसका मुख्य कारण यह भी है कि यहाँ पर प्रति व्यक्ति कृषि योग्य जमीन का आकार छोटा पाया जाता है जिसके कारण किसान फसलों को परंपरागत तरीके से करने को मजबूर हैं जिसके परिणामस्वरूप कम आय प्राप्त हो पाती है और किसानों को अधिक आय वाले क्षेत्रों की तरफ प्रवास करने को मजबूर होना पड़ता है (के.ब्रार, बी.सिओ, 2021)।

उत्तर प्रदेश में ग्रामीण से ग्रामीण क्षेत्र के लिए होने वाला प्रवास-प्रवाह सबसे अधिक मात्रा में हो रहा है। ग्रामीण से ग्रामीण और नगर से ग्रामीण क्षेत्रों की ओर होने वाला प्रवास मुख्य रूप से महिलाओं द्वारा विवाह के उद्देश्य से शहर से शहर और ग्रामीण से नगरीय क्षेत्रों की ओर होने वाला प्रवास पुरुषों द्वारा मुख्यतः रोजगार के उद्देश्य से किया जाता है (प्रो. जे. एच. खान, शाजिया और डॉ. टी. हसन, 2015)। 2011 की जनगणना के आधार पर उत्तरप्रदेश में जन्मे लगभग 13 मिलियन लोग देश के दूसरे राज्यों में एवं लगभग 2.8 मिलियन दूसरे राज्यों में जन्मे लोग उत्तरप्रदेश में प्रवासी के तौर पर पाए गए। 2011 में की गई जनगणना के अनुसार लगभग 28% उत्तर प्रदेश की जनसंख्या प्रवासी वर्ग में शामिल पाई गई जिनका जन्म स्थान उनके गणना वाले स्थान से भिन्न पाया गया, 2001 में यह 24% था (डी. पी. सिंह, आर. बिरादर और एल. के. द्विवेदी, 2021)।

हाल के वर्षों में भारत में और विशेष रूप से सिन्धु-गंगा मैदानी क्षेत्र में ग्रामीण से नगरीय क्षेत्रों कि ओर प्रवास के रुझानों में बढ़ोत्तरी दर्ज की गयी है। घरों से पुरुषों के प्रवास पर चले जाने के फलस्वरूप महिलाओं में सामाजिक-आर्थिक कार्यों (मुख्यतः घरेलू एवं कृषि सम्बन्धी आदि) को करने की निर्णय क्षमता में सकारात्मक वृद्धि देखने को मिलती है (एन.पी. सिंह; आर.पी. सिंह; रंजीत कुमार; आर. एन. पडारिया; अल्का सिंह और निशा वारधीस, 2011)।

अध्ययन क्षेत्र - बुन्देलखण्ड क्षेत्र, भारत के उन क्षेत्रों के अंतर्गत गिना जाता है जो सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक आदि की दृष्टि में देश के अन्य क्षेत्रों से पिछड़ गया है। यह क्षेत्र भारत के लगभग मध्यवर्ती भूभाग में उत्तरप्रदेश एवं मध्यप्रदेश के बीच फैला हुआ है, जिसके अंतर्गत कुल 13 जिले (उत्तरप्रदेश के 7 और मध्यप्रदेश के 6)। उत्तरप्रदेश में बुन्देलखण्ड क्षेत्र चित्रकूट, बाँदा, महोबा, झाँसी, हमीरपुर, जालौन और ललितपुर जिलों में विस्तृत है। उत्तरप्रदेश के बुन्देलखण्ड क्षेत्र का अक्षांशीय विस्तार $24^{\circ}11'$, उत्तरी से $26^{\circ}26'$, उत्तरी अक्षांश एवं देशांतरीय विस्तार $78^{\circ}10'$, पूर्वी से $81^{\circ}34'$, पूर्वी देशान्तर तक है। यह क्षेत्र लगभग पूरी तरह से विन्ध्य श्रृंखला में विस्तृत है जिसका उत्तरी भाग यमुना नदी तंत्र की नदियों के मैदानी भाग एवं दक्षिणी भाग विन्ध्य पठार के शुष्क पठारी भाग में आता है। इस क्षेत्र के सभी जिलों में कुल 96,81,552 जनसंख्या (2011 की जनगणना) निवास करती है, जो कि उत्तरप्रदेश की कुल जनसंख्या का लगभग 5% ही है। इस क्षेत्र की कुल औसत साक्षरता दर 58.84% (पुरुष साक्षरता दर 68.60% और महिला साक्षरता दर 48.40%) पायी है। इस क्षेत्र में जनसंख्या का औसत घनत्व 329 व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर है जो कि राज्य के औसत जनसंख्या घनत्व 829 व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर से काफी कम है। इस क्षेत्र में निवासित जनसंख्या का मुख्य व्यवसाय कृषि कार्य है। यहाँ खनिज संसाधनों का अभाव पाया जाता है जिससे क्षेत्र का विकास नहीं हो पाया है।

अध्ययन के उद्देश्य - प्रस्तुत अध्ययन में उत्तरप्रदेश के बुन्देलखण्ड क्षेत्र में स्थित गणना (गिनती) वाले जिलों में जिले के अंदर प्रवास (स्थानीय प्रवास), गणना वाले जिले को छोड़कर प्रदेश के अन्य जिलों से होने वाले प्रवास (अन्तर-जिला प्रवास) एवं गणना वाले प्रदेश यानी उत्तरप्रदेश को छोड़कर देश के अन्य राज्यों एवं केंद्र शासित प्रदेशों से (अंतर-राज्यीय प्रवास) आने वाले कुल प्रवासियों एवं केवल पुरुष प्रवासियों की संख्या में 1991, 2001 एवं 2011 के मध्य किस दर से बदलाव आया है, की गणना की गई है। साथ ही साथ बुन्देलखण्ड क्षेत्र (उ. प्र.) में कुल प्रवासियों की संख्या में किस जिले की क्या स्थिति है एवं कैसे-कैसे इसमें बदलाव आ रहे हैं, की व्याख्या भी प्रस्तुत की गयी है। प्रस्तुत शोध पत्र में प्रवासियों के जन्म स्थान को निवास का अंतिम स्थान मानते हुए अध्ययन किया गया है।

आंकड़ों के स्रोत एवं विधितंत्र - प्रस्तुत शोध कार्य में बुन्देलखण्ड क्षेत्र (उत्तरप्रदेश) में प्रवास के अध्ययन के लिए भारतीय जनगणनाओं (1991, 2001 व 2011) से प्राप्त द्वितीयक आँकड़ों का प्रयोग किया गया है। प्रस्तुत अध्ययन में मुख्यतः भारतीय जनगणना की डी - सीरीज की तालिका डी-1 से प्राप्त आंकड़ों का प्रयोग किया गया है। विधितंत्र के रूप में प्रतिशतता, तालिका एवं ग्राफ आदि का प्रयोग किया गया है। सन 1991-2001 के मध्य प्रवासियों की संख्या में बदलाव ज्ञात करने के लिए, तालिका 2, 3 और 4 में सन 2001 में हमीरपुर एवं महोबा और बाँदा एवं चित्रकूट जिलों के आँकड़ों का योग किया गया है। ज्ञातव्य है कि सन 2001 की जनगणना के पहले हमीरपुर एवं महोबा (1995 में बना) और बाँदा एवं चित्रकूट (1997 में बना) को क्रमशः हमीरपुर और बाँदा जिलों के नाम से जाना जाता था।

परिणाम और विमर्श - प्रस्तुत अध्ययन में बुन्देलखण्ड क्षेत्र (उत्तरप्रदेश) के जिलों में होने वाले प्रवास के विभिन्न प्रकारों जैसे - स्थानीय, अन्तर जिला (गणना वाले जिले को छोड़कर), अंतर-राज्यीय (गणना वाले प्रदेश को छोड़कर) एवं अंतर्राष्ट्रीय प्रवास की कालिक प्रवृत्ति की व्याख्या की गयी है, जिसके लिए भारतीय जनगणना (सन् 1991, 2001 एवं 2011) के आँकड़ों को मुख्य आधार बनाया गया है। अध्ययन में लिए गए आँकड़े प्रवासियों के जन्म स्थान को उनके निवास स्थान का अंतिम स्थान के आधार पर प्रदर्शित किए गए हैं अर्थात् प्रवासियों की जिस स्थान

पर गणना की गयी है वह उनके जन्म के स्थान से अलग हैं और प्रवासी जहाँ पर आए हैं वह अपने जन्म स्थान से ही प्रवास करके आए हैं।

1. उत्तरप्रदेश एवं बुंदेलखण्ड क्षेत्र (उ. प्र.) में प्रवास की स्थिति एवं तुलना

1971 से 2001 तक के जनसंख्या आँकड़ों के अनुसार ग्रामीण से ग्रामीण एवं ग्रामीण से नगरीय क्षेत्रों की ओर होने वाला पुरुष प्रवास क्रमशः घटता एवं बढ़ता हुआ पाया गया। शहर से शहर एवं शहर से ग्रामीण क्षेत्रों के लिए होने वाला पुरुष प्रवास क्रमशः बढ़ता एवं घटता हुआ पाया गया। सभी प्रवास धाराओं में पुरुषों में प्रवास रोजगार की तलाश के लिए एवं महिलाओं में शादी मुख्य वजह निकल कर आयी (प्रो. जे. एच. खान, शाजिया और डॉ. टी. हसन, 2015)। जिले के अंदर (स्थानीय) एवं एक जिले से दूसरे जिले में (अंतर जिला प्रवास) होने वाले प्रवास में समय के साथ वृद्धि दर्ज की गई है, इसी प्रकार उत्तरप्रदेश में दूसरे राज्यों से होने वाला प्रवास भी समय के साथ बढ़ता हुआ पाया गया। उत्तरप्रदेश की लगभग 60% प्रवासी जनसंख्या जिले के अंदर (स्थानीय) एवं लगभग 30% प्रवासी अपने जिले से दूसरे जिले में प्रवास करके जाते हैं (डी. पी. सिंह, आर. बिरादर और एल. के. द्विवेदी, 2021)।

तालिका 1- उत्तरप्रदेश एवं बुंदेलखण्ड क्षेत्र में प्रवासियों की संख्या में तुलनात्मक कालिक परिवर्तन

प्रवास प्रकार	1991			2001			2011		
	उत्तरप्रदेश में कुल प्रवास (अ)	बुंदेल. क्षेत्र में कुल प्रवास (ब)	ब/अ* 100	उत्तरप्रदेश में कुल प्रवास (क)	बुंदेल. क्षेत्र में कुल प्रवास (ख)	ख/क* 100	उत्तरप्रदेश में कुल प्रवास (य)	बुंदेल. क्षेत्र में कुल प्रवास (र)	र*य/ 100
स्थानीय	17834885	892301	5.00	25133731	1400956	5.57	33837811	1756423	5.19
अंतरजिला	9417319	339274	3.60	11607904	459791	3.96	17339497	636768	3.67
अंतरराज्यीय	1870226	250971	13.41	2807680	307239	10.9	44018684	425636	10.59
अंतर्राष्ट्रीय	292740	3610	1.23	164431	1539	0.93	261271	2895	1.10

स्रोत- भारतीय जनगणना (1991, 2001 और 2011)

तालिका 1 के अंतर्गत सन् 1991, 2001 और 2011 में बुंदेलखण्ड क्षेत्र (उ. प्र.) में प्रवास की स्थिति को, उत्तर प्रदेश में होने वाले कुल स्थानीय, अंतर जिला, अंतर-राज्यीय एवं अंतर्राष्ट्रीय प्रवासियों के सापेक्ष दर्शाया गया है। तालिका को देखने से पता चलता है कि स्थानीय स्तर पर 1991 में बुंदेलखण्ड में होने वाला कुल प्रवास, उत्तर प्रदेश में होने वाले स्थानीय प्रवास का 5% था, जो 2001 एवं 2011 में क्रमशः 5.57% एवं 5.19% हो गया। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि बुंदेलखण्ड क्षेत्र में स्थानीय स्तर (जिले के अंदर) पर होने वाले प्रवास में 1991 के बाद 2011 तक में वृद्धि हुई है। अंतर जिला स्तर पर बुंदेलखण्ड क्षेत्र में एवं उत्तर प्रदेश के अन्य सभी जिलों से जिले से आने वाले कुल प्रवासियों को शामिल किया गया है, जिसमें भी यह निकल कर सामने आता है कि बुंदेलखण्ड क्षेत्र में होने वाला कुल अंतर्राज्यीय प्रवास, उत्तर प्रदेश में होने वाले कुल अंतर्राज्यीय प्रवास का 1991, 2001 एवं 2011 में क्रमशः 3.62%, 3.96% एवं 3.67% रहा। वही बुंदेलखण्ड क्षेत्र में होने वाला कुल अंतर-राज्यीय प्रवास उत्तर प्रदेश में होने वाले कुल अंतर राज्य प्रवास का 1991, 2001 एवं 2011 में क्रमशः 13.41%, 10.94% एवं 10.59% रहा, जिसे देखकर स्पष्ट तौर पर कहा जा सकता है कि बुंदेलखण्ड क्षेत्र में दूसरे राज्यों (उत्तर प्रदेश को छोड़कर) से आने वाले प्रवासियों की संख्या में निरंतर कमी आ रही है।

2. बुंदेलखण्ड क्षेत्र (उ.प्र.) के जिलों में होने वाले स्थानीय प्रवास (जिले के अंदर) में परिवर्तन की स्थिति प्रस्तुत तालिका यह प्रदर्शित करती हैं कि सन् 1991 से 2001 तक एवं सन् 2001 से 2011 के मध्य प्रवास की मात्रा में

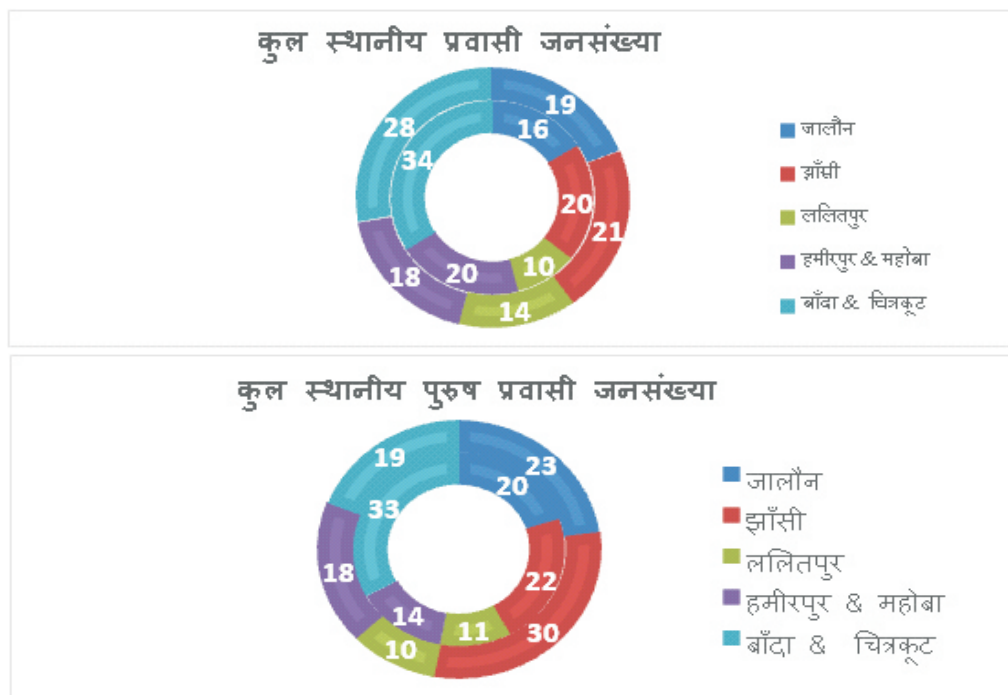
कितने प्रतिशत का बदलाव देखने को मिलता है जिसमें कुल प्रवासी जनसंख्या एवं कुल पुरुष प्रवासी जनसंख्या, जिसके अंतर्गत सन् 1991, 2001 एवं 2011 में पूरे उत्तर प्रदेश में स्थानीय स्तर पर प्रवासियों की कुल संख्या एवं बुंदेलखण्ड क्षेत्र (सभी जिलों के कुल स्थानीय प्रवासियों के साथ-साथ जिलेवार प्रवासियों) की संख्या को शामिल किया गया है। तालिका 2 कि सहायता से जब हम बुंदेलखण्ड क्षेत्र में स्थानीय स्तर पर कुल पुरुष प्रवासी संख्या का, कुल प्रवासी संख्या से प्रतिशत निकालते हैं तो 1991, 2001 एवं 2011 में क्रमशः 13.32%, 14.66% एवं 20% पाया जाता है, जिसे देखकर कहा जा सकता है कि बुंदेलखण्ड क्षेत्र में स्थानीय स्तर पर महिलाओं की तुलना में पुरुषों का प्रवास निरंतर बढ़ रहा है।

तालिका 2- उत्तर प्रदेश के कुल एवं बुंदेलखण्ड क्षेत्र में जिलेवार स्थानीय प्रवास की कालिक स्थिति

	कुल प्रवासी जनसंख्या			प्रवास में बदलाव (% में)		कुल पुरुष प्रवासी जनसंख्या		पुरुष प्रवास में बदलाव (% में)		
जिला	1991 (अ)	2001 (ब)	2011 (स)	1991- 1991 - 2001 - 2001 (ब- अ/अ *100)	2001- 2001 - 2011 - 2011 (स- ब/ब *100)	1991 (क)	2001 (ख)	2011 (ग)	2001 (ख-क/ क*100)	2011 (ग-ख/ ख*100)
भारत	13621 4054	18179 9637	24410 8665	33.46	34.27	2933 6682	4278 1678	7730 6410	45.82	80.69
उत्तरप्रदेश	1783 4885	2,51,3 3,731	3,38,3 7,811	40.92	34.63	1988 373	37,9 2,920	68,39, 291	90.75	80.31
कुल बुन्देल. क्षेत्र (उ.प्र.)	8,92, 301	14,00, 956	17,56, 523	57	25.38	1,18, 905	2,05, 497	3,51, 928	72.82	71.25
जालौन	142 582	267 145	347 200	87.36	29.96	236 58	454 39	810 98	92.06	78.47
झाँसी	1788 59	265 278	362 737	48.31	36.73	265 51	594 49	103 702	123.9	74.43
ललितपुर	931 18	1905 19	244 718	104.5	28.44	12766	18612	34363	45.79	84.62
हमीरपुर	176 532	165 043	180 548	42.73	9.39	16952	20019	34753	71.18	73.60
महोबा		86938	13024		49.80		9000	29964		232.9
बाँदा	3012 10	2908 86	03293 50	41.44	13.22	38978	36634	49118	35.91	34.07
चित्रकूट		1351 47	1616 30		19.59		16344	18930		15.82

स्रोत- भारतीय जनगणना(1991, 2001 और 2011)

तालिका 2 को देखने से पता चलता है कि 1991 में पूरे भारत में स्थानीय स्तर पर प्रवास करने वाले कुल प्रवासियों की संख्या 136214054 थी जो कि 2011 में बढ़कर 244108665 हो गयी। इस आधार पर जब हम प्रवासियों की संख्या में बदलाव ज्ञात करते हैं तो सन् 1991-2001 एवं सन् 2001-2011 के मध्य प्रवासियों की संख्या में क्रमशः 33.46% एवं 34.27% का बदलाव पाया जाता है जिससे पता चलता है कि सन् 2001-2011 के मध्य (1991-2001 की तुलना में) प्रवासियों की संख्या वृद्धि दर में कोई बृहद बदलाव नहीं हुआ है लेकिन इसी बीच पुरुष प्रवासियों की संख्या में तीव्रता के साथ बदलाव में वृद्धि (1991-2001 के मध्य 45.82% एवं 2001-2011 के मध्य 80.69%) देखी गयी जिसे देखकर साफतौर पर कहा जा सकता है कि पूरे देश में स्थानीय स्तर पर होने वाले कुल प्रवास में पुरुष प्रवासियों का अनुपात बढ़ा है। वहीं उत्तर प्रदेश में कुल स्थानीय प्रवासियों की संख्या में लगभग 6% की कमी (1991-2001 की तुलना में) देखने को मिलती है। इसी प्रकार बुंदेलखण्ड क्षेत्र (उ.प्र.) के कुल स्थानीय प्रवासियों की संख्या में सन् 1991-2001 एवं सन् 2001-2011 के मध्य क्रमशः 57% एवं 25.38% का बदलाव देखने को मिलता है जिसे देखकर यह कहा जा सकता है कि सन् 2001-2011 के मध्य (1991-2001 की तुलना में) लगभग 32% की भारी कमी पाई गई। इसी प्रकार जालौन (87.36% से घटकर 29.96%) और ललितपुर (104.5% से घटकर 28.44%) जिलों में प्रवासियों की संख्या में तीव्रता के साथ कमी देखने को मिलती है। हालांकि इस दौरान ललितपुर जिले में पुरुष प्रवासियों की संख्या में तीव्रता के साथ वृद्धि दर्ज की गई। वहीं 2011 में महोबा में भी पुरुष प्रवासियों की संख्या में भी अभूतपूर्व वृद्धि (232.9%) देखने को मिली।



अब अगर हम स्थानीय स्तर पर जिलेवार कुल प्रवासियों के अंश की गणना, बुंदेलखण्ड क्षेत्र (उ.प्र.) के कुल प्रवासी जनसंख्या के आधार पर करते हैं तो (Fig. 1 में) 1991-2011 के मध्य जालौन (16% से 19%), झाँसी (20% से 21%) एवं ललितपुर (10% से 14%) जिलों में कुल प्रवासियों की संख्या में वृद्धि हुई है, जबकि हमीरपुर एवं महोबा (संयुक्त क्षेत्र में 20% से 18%) और बाँदा एवं चित्रकूट (संयुक्त क्षेत्र में 34% से 28%) जिलों में स्थानीय स्तर पर कुल प्रवासियों की संख्या में कमी देखने को मिलती है। वहीं कुल स्थानीय पुरुष प्रवासी

जनसंख्या (Fig. 2) में 1991 से 2011 के मध्य जालौन, झांसी और हमीरपुर एवं महोबा (संयुक्त क्षेत्र) जिलों में तो वृद्धि पाई गई और बांदा एवं चित्रकूट (संयुक्त क्षेत्र में तीव्रता के साथ कमी 33% से 19%) के साथ-2 ललितपुर जिले में भी स्थानीय स्तर पर पुरुष प्रवासियों की संख्या में कमी पाई गई।

3. बुंदेलखण्ड क्षेत्र (उ. प्र.) के जिलों में उत्तर प्रदेश के अन्य जिलों से होने वाले कुल प्रवास में तुलनात्मक कालिक परिवर्तन

प्रस्तुत तालिका-3 में कुल प्रवासी जनसंख्या एवं कुल पुरुष प्रवासी जनसंख्या, जिसके अंतर्गत सन् 1991, 2001 एवं 2011 में पूरे उत्तरप्रदेश में अन्तर जिला स्तर पर प्रवासियों की कुल संख्या एवं बुंदेलखण्ड क्षेत्र (सभी जिलों में होने वाले कुल अन्तर जिला प्रवासियों के साथ-साथ जिलेवार प्रवासियों) की संख्या को शामिल किया गया है। तालिका की सहायता से जब हम बुंदेलखण्ड क्षेत्र में अंतर जिला स्तर पर कुल पुरुष प्रवासी संख्या का, कुल प्रवासी संख्या से प्रतिशत निकालते हैं तो 1991, 2001 एवं 2011 में क्रमशः 19.58%, 17.95% एवं 13.61% पाया जाता है, जिसे देखकर कहा जा सकता है कि बुन्देलखण्ड क्षेत्र में आने वाले अंतर जिला प्रवासियों में पुरुषों का प्रवास निरंतर घट रहा है।

तालिका 3- उत्तर प्रदेश के कुल एवं बुंदेलखण्ड क्षेत्र के जिलों में होने वाले अंतर जिला प्रवास की स्थिति

जिला	कुल प्रवासी जनसंख्या			प्रवास में बदलाव (% में)		कुल पुरुष प्रवासी जनसंख्या			पुरुष प्रवास में बदलाव(% में)	
	1991) (अ)	2001 (ब)	2011 (स)	1991- 2001 (ब-अ/अ *100)	2001- 2011 (स-ब/ब *100)	1991 (क)	2001 (ख)	2011 (ग)	1991- 2001 (ख-क/ क *100)	2001- 2011 (ग-ख/ख *100)
भारत	5910 5249	7684 1466	12122 7280	30.00	57.76	1850 4291	2477 8327	3794 9753	33.90	53.15
उत्तरप्रदेश	9417 319	1,16,0 7,904	1,73,3 9,497	23.30	49.40	1737 013	21,12, 073	29,31, 067	21.50	38.70
कुल बुन्देल. क्षेत्र (उ.प्र.)	33927 4	4597 91	6367 68	38.50	38.50	66452	78886	86709	18.70	9.90
जालौन	97213	96050	144403	-1.20	50.30	15439	10207	15214	-33.80	49.00
झाँसी	94751	95625	123725	0.90	29.40	26172	26301	27418	0.50	4.20
ललितपुर	23322	18870	23403	-19.10	24.00	6981	6794	6283	-2.60	-7.50
हमीरपुर	61791	88341	116652	135.60	32.00	7870	9620	10968	22.20	14.00
महोबा	57216	73763		28.90		8704	9420		9.00	
बाँदा	62197	65776	95030	66.70	44.50	9990	11841	10790	18.50	-8.80
चित्रकूट		37913	59742		57.50		5419	6546		20.70

स्रोत- भारतीय जनगणना(1991, 2001 और 2011)

तालिका-3 को देखने से पता चलता है कि जहाँ 1991 में उत्तर प्रदेश में अंतर जिला स्तर पर कुल प्रवासियों की संख्या 9417319 थी, वह 2011 में बढ़कर 17339497 हो गयी। इस आधार पर जब हम प्रवासियों की संख्या में बदलाव ज्ञात करते हैं तो सन् 2001-2011 के मध्य (1991-2001 की तुलना में) प्रवासियों की संख्या में लगभग

26% की वृद्धि दर्ज की जाती है। इसी प्रकार बुंदेलखण्ड क्षेत्र (उ.प्र.) के कुल अंतर जिला प्रवासियों की संख्या में सन् 1991-2001 एवं सन् 2001-2011 के मध्य बदलाव 38.5% के साथ समान तीव्रता के साथ बढ़ा हुआ पाया गया है। वहीं पूरे भारत देश में अन्तर जिला प्रवास की यह दर 1991-2001 एवं 2001-2011 के मध्य क्रमशः 30% से बढ़कर 57.76% हो गयी।

वही अगर उत्तर प्रदेश के अन्दर होने वाले कुल पुरुष अंतर जिला प्रवासी जनसंख्या को देखें तो सन् 1991-2001 की तुलना में सन् 2001-2011 में 17.20% की वृद्धि आयी एवं बुंदेलखण्ड क्षेत्र में होने वाले अंतर जिला पुरुष प्रवासियों की संख्या में लगभग 9% की कमी पाई गई। वहीं अगर हम बुंदेलखण्ड क्षेत्र के जिलों में कुल प्रवासी जनसंख्या में बदलाव की बात करें तो सबसे ज्यादा बदलाव (कमी) हमीरपुर जिले में देखने को मिलता है (1991-2001 के मध्य 135.60% से 2001-2011 के मध्य मात्र 32%) हालांकि इस दौरान जालौन जिले में पुरुष प्रवासियों की संख्या में तीव्रता के साथ वृद्धि (-33.80% से 49%) दर्ज की गई।

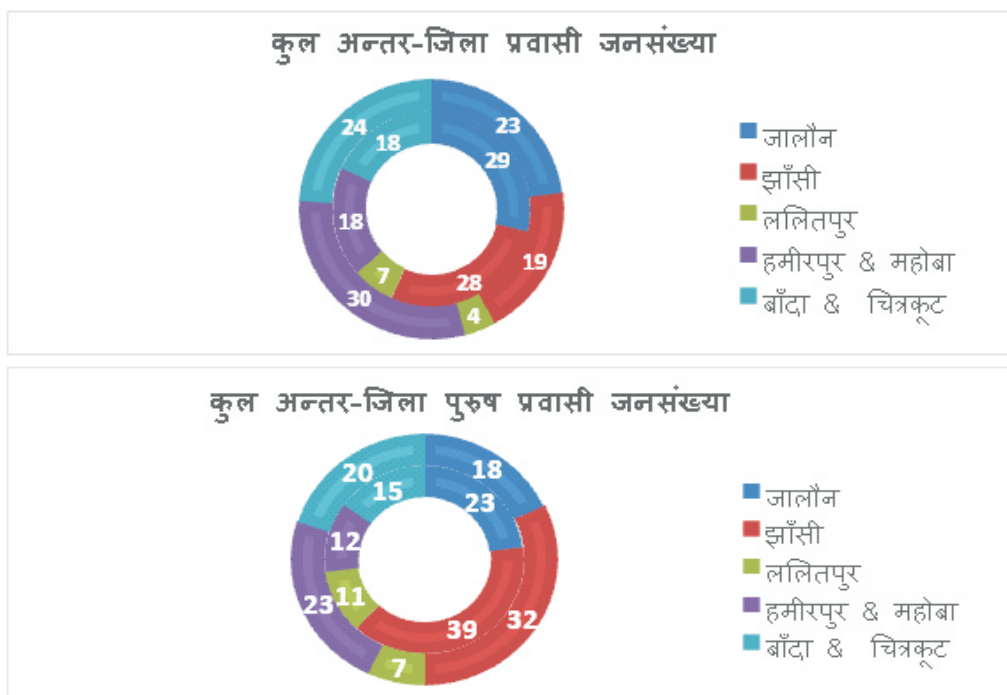


Fig. (4)

अब अगर (Fig. 3-4 में) बुंदेलखण्ड क्षेत्र के जिलेवार अन्तर जिला प्रवासियों की तुलना, बुंदेलखण्ड क्षेत्र के कुल अन्तर जिला प्रवासियों से करते हैं तो 1991 में कुल अंतर जिला प्रवासी जनसंख्या में जालौन जिले में सर्वाधिक 29% प्रवासी प्रवास करके आये, फिर क्रमशः झाँसी (28%), हमीरपुर एवं बाँदा (18%) आदि का स्थान आता है। वहीं 1991 में अन्तर जिला पुरुष प्रवासियों में सर्वाधिक पुरुष क्रमशः झाँसी (39%), जालौन (23%) और बाँदा एवं चित्रकूट (संयुक्त क्षेत्र) आदि में प्रवास करके आये। वहीं अगर हम 1991 की तुलना में 2011 में कुल प्रवासियों की संख्या में बदलाव देखे तो जालौन (23%), झाँसी (19%) एवं ललितपुर (4%) जिलों में अन्तर जिला प्रवासियों की संख्या में कमी देखने को मिली और हमीरपुर - महोबा (संयुक्त क्षेत्र में 30%) एवं बाँदा - चित्रकूट (संयुक्त क्षेत्र में 24%) जिलों में वृद्धि देखने को मिली।

4. बुंदेलखण्ड क्षेत्र (उ.प्र.) के जिलों में होने वाले अंतर-राज्यीय प्रवास की तुलनात्मक कालिक स्थिति तालिका 4 को देखने से पता चलता है कि 1991 में उत्तर प्रदेश के अन्दर अंतर-राज्यीयस्तर पर आने वाले कुल

प्रवासियों की संख्या 1870226 थी, वह 2011 में बढ़कर 4018684 हो गयी। इस आधार पर प्रवासियों की संख्या में बदलाव ज्ञात करते हैं तो पता चलता है कि सन् 2001-2011 के मध्य (1991-2001 की तुलना में) प्रवासियों की संख्या में लगभग 7% की कमी हुई। इसी प्रकार बुंदेलखण्ड क्षेत्र (उ.प्र.) के कुल अंतर-राज्यीय प्रवासियों की संख्या में सन् 2001-2011 के मध्य (1991-2001 की तुलना में) 16.11% की वृद्धि पाई गई। लेकिन जब बुंदेलखण्ड क्षेत्र में अंतर-राज्यीय स्तर पर आने वाले कुल पुरुष प्रवासी संख्या का, कुल प्रवासी संख्या से प्रतिशत निकालते हैं तो 1991, 2001 एवं 2011 में क्रमशः 12.50%, 9.85% एवं 8.74% पाया जाता है, जिसे देखकर कहा जा सकता है कि बुन्देलखण्ड क्षेत्र में अंतर-राज्यीय स्तर पर पुरुषों के प्रवास में निरंतर कमी आई है।

तालिका 4- बुंदेलखण्ड क्षेत्र में होने वाले अंतर-राज्यीय प्रवास की स्थिति

जिला	कुल प्रवासी जनसंख्या			प्रवास में बदलाव (% में)		कुल पुरुष प्रवासी जनसंख्या			पुरुष प्रवास में बदलाव (% में)	
	1991 (अ)	2001 (ब)	2011 (स)	1991- 2001 (ब-अ/अ *100)	2001- 2011 (स-ब/ब *100)	1991 (क)	2001 (ख)	2011 (ग)	1991- 2001 (ख-क/क *100)	2001- 2011 (ग-ख/ ख*100)
भारत	2729 9945	4234 1703	5629 7563	55.10	32.96	1215 8359	1967 5774	2484 7564	61.82	26.28
उत्तर प्रदेश	1870 226	28,07, 680	40,18, 684	50.12	43.13	4932 53	7,88, 995	10,52, 790	59.90	33.43
कुल बुन्देल. क्षेत्र (उ.प्र.)	250971	307239	425636	22.42	38.53	31372	30288	37,221	-3.45	22.89
जालौन	20710	25476	38411	23.01	50.77	2420	1681	2916	-30.50	73.47
झाँसी	114474	117833	159798	2.93	35.61	18696	15797	19491	-15.50	23.38
ललितपुर	39162	58055	86179	48.24	48.44	5040	5547	6219	10.05	12.11
हमीरपुर	35226	11241	12983	50.19	15.50	1896	918	827	58.96	-9.91
महोबा		41665	53789		29.10		2096	2855		36.21
बाँदा	41399	34482	47343	27.94	37.30	3320	2614	3250	27.98	24.33
चित्रकूट		18487	27133		46.76		1635	1663		1.71

स्रोत- भारतीय जनगणना(1991, 2001 और 2011)

वहीं उत्तरप्रदेश में आने वाले कुल पुरुष अंतर-राज्यीय प्रवासी जनसंख्या को देखें तो सन् 1991-2001 की तुलना में, सन् 2001-2011 में 26.48% की कमी आयी एवं बुंदेलखण्ड क्षेत्र में होने वाले कुल पुरुष अंतर-राज्यीय प्रवासियों की संख्या में 26.34% की वृद्धि (-3.45% से बढ़कर 22.89%) पाई गई। वहीं जिलों में कुल प्रवासी जनसंख्या में बदलाव की बात करें तो सबसे ज्यादा बदलाव (वृद्धि) झाँसी जिले में देखने को मिलता है (1991-2001 के मध्य 2.93% से 2001- 2011 के मध्य 35.61%) हालांकि इस दौरान जालौन जिले में पुरुष प्रवासियों की संख्या में तीव्रता के साथ वृद्धि (-30.50% से 73.47%) दर्ज की गई।

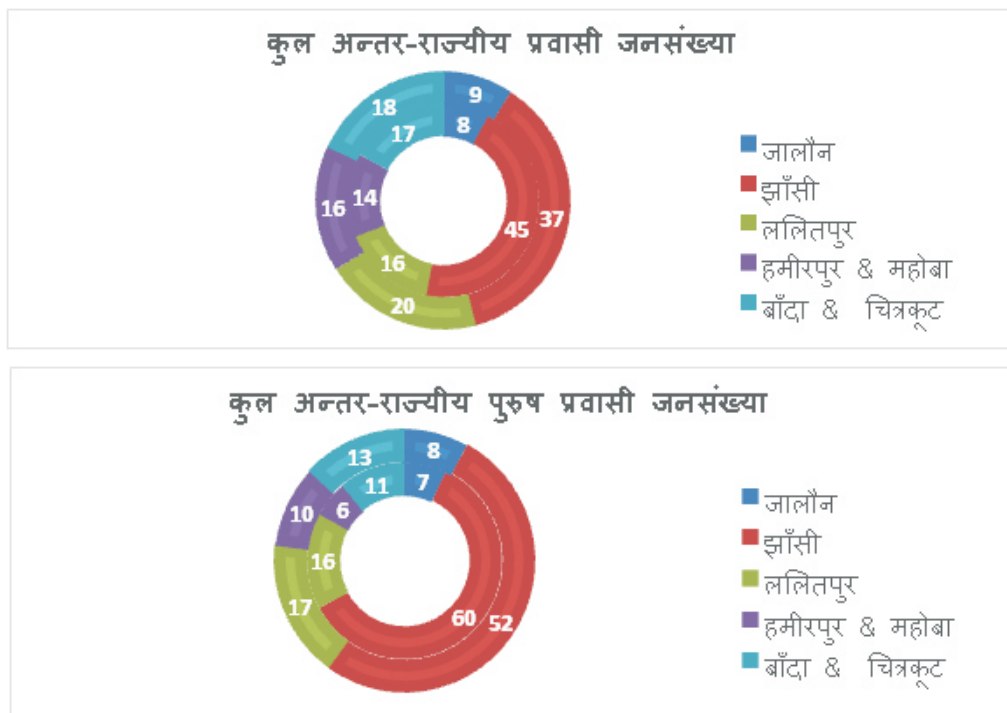


Fig- (6)

अब अगर हम अन्तरराज्यीय स्तर पर जिलेवार कुल प्रवासियों के अंश की गणना, बुंदेलखण्ड क्षेत्र (उ. प्र.) में आने वाली कुल प्रवासी जनसंख्या के आधार पर करते हैं तो (Fig. 5 में) 1991-2011 के मध्य जालौन (8% से 9%), ललितपुर (16% से 20%), हमीरपुर - महोबा (संयुक्त क्षेत्र में 14% से 16%) और बाँदा - चित्रकूट (संयुक्त क्षेत्र में) जिलों में कुल प्रवासियों की संख्या में वृद्धि हुई है जबकि झाँसी जिले में अन्तरराज्यीय स्तर पर कुल प्रवासियों की संख्या में कमी (45% से घटकर 37%) देखने को मिलती है। वहीं कुल अन्तरराज्यीय पुरुष प्रवासी जनसंख्या (Fig. 6) में 1991 से 2011 के मध्य भी झाँसी जिले को छोड़कर (60% से घटकर 52%) बाकी सभी जिलों में प्रवासियों की संख्या में वृद्धि देखने को मिली।

निष्कर्ष- जन्म स्थान के आधार पर, अन्य स्थानों से पिछड़े क्षेत्रों में प्रवास की घटना सामाजिक-आर्थिक कारकों की एक जटिल अंतःक्रिया को दर्शाती है। लोगों द्वारा इस प्रवाह के कारण मूल और गंतव्य क्षेत्रों दोनों में दूरगामी प्रभाव पड़ता है। अविकसित क्षेत्रों में प्रवास के प्रतिकर्ष कारकों में सीमित अवसर, गरीबी और बुनियादी सुविधाओं की कमी आदि शामिल किये जाते हैं। अधिक विकसित क्षेत्रों में खिंचाव कारक अक्सर बेहतर रोजगार की संभावनाओं, बेहतर जीवन स्तर और शिक्षा एवं स्वास्थ्य सेवा तक आसान पहुँच आदि को शामिल करते हैं। प्रवासन की प्रक्रिया में शामिल दोनों क्षेत्रों के जनसांख्यिकीय, सांस्कृतिक और आर्थिक परिदृश्य में महत्वपूर्ण बदलाव लाने की क्षमता है। पिछड़े क्षेत्रों के विकास, रोजगार सृजन, शिक्षा और बुनियादी ढाँचे में निवेश से पलायन के मूल कारणों को दूर करने में मदद मिल सकती है। सन 1991 से 2011 तक में पूरे भारत देश में स्थानीय एवं अंतरजिला प्रवास में वृद्धि देखने को मिलती है जबकि अन्तरराज्यीय स्तर पर कमी देखने को मिलती है। वहीं बुन्देलखण्ड क्षेत्र में स्थानीय स्तर पर महिलाओं की तुलना में पुरुषों का प्रवास निरंतर बढ़ रहा है जबकि अंतरजिला एवं अन्तरराज्यीय स्तर पर बाहर से आने वाले पुरुष प्रवासियों की संख्या में कमी देखने को मिलती है। जिसे देखकर बुन्देलखण्ड क्षेत्र में सामाजिक-आर्थिक स्थिति का आँकलन किया जा सकता है जो अच्छी नहीं है जिससे क्षेत्र के लोगों द्वारा अपने क्षेत्र एवं प्रदेश को छोड़कर दूसरे राज्यों एवं देशों में प्रवास किया जाता है ताकि परिवार का भरण-पोषण हो सके एवं बच्चों को

शिक्षित किया जा सके लेकिन इस प्रवास के कारण प्रवासियों एवं उनके परिवार पर कई मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, आर्थिक एवं शैक्षिक प्रभाव पड़ते हैं जो सकारात्मक के साथ-2 नकारात्मक प्रभाव डालते हैं, जिसका अध्ययन करना बहुत जरूरी हो जाता है और प्रवास के प्रभावों के इन छुपे हुए पहलुओं पर अभी बृहद् स्तर पर गहन अध्ययन किया जाना बाकी है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
भूगोल विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

(एमएमवी भूगोल, अनुभाग),
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005

सामान्य एवं व्यावहारिक भूगोल विभाग,
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, मध्यप्रदेश-470003

सन्दर्भ :

1. Singh, Harpreet, 2016, 'Increasing Rural to Urban Migration in India: A Challenge or an Opportunity, *International Journal of Applied Research* 2, no- 4 (2016): 447-450.
2. Mitra, A. and Murayama, M., 2009, 'Rural to Urban Migration : A District-Level Analysis for India, *International Journal of Migration, Health and Social Care*, Vol- 5 No- 2, pp- 35-52. <https://doi.org/10.1108/17479894200900011>
3. Choubey, Alok - Rai, Gayatri, 2020, 'Regional Patterns of Rural&urban Migration in Uttar Pradesh: Insights from Census 1991-2011,' *Annals of the National Association of Geographers India*. 40-94-109. 10.32381/ATNAGI.2020.40.01.7.
4. Brar, Kirandeep - Seo, Bosu., 2021, 'Migration Pattern across the Indian States—Analysis of Census 2001 and 2011,' *Advances in Politics and Economics*. 4-p20.10.22158/ape.v4n1p20
5. Khan, Prof. J. H., Shazia& Hassan] Dr. T., 2015, 'Migration Streams In Uttar Pradesh: Trends And Reasons', *IJARMSS*, Vol. 4 No. 8, pp. 298-314.
6. Singh, Dharmendra & Biradar, Rajeshwari & Dwivedi, Laxmi., 2021, 'Patterns of Migration in Uttar Pradesh : Evidence from Population Census', *Indian Journal of Population and Development*, Vol. 1(1), pp. 121&136.
7. Singh, N. P., Singh, R- P-, Kumar, R-, Padaria] R- N-, Singh, A-, & Varghese] N-] 2011] *Labour migration in Indo&Gangetic plains: Determinants and impacts on socio&economic welfare Agricultural Economics Research Review*, 24(347-2016-16978), 449-458-
8. Démurger, S-, 2015, *Migration and families left behind- IZA World of Labor*: 144 doi : 10-15185/izawol-144
9. Keshri, Kunal & Bhagat, R.- (2012)- *Temporary and seasonal migration : Regional pattern, characteristics and associated factors. Economic and Political Weekly*. 47- 81&88-

A Study of School Education Among Tribals in Madhya Pradesh

Girish Mohan Dubey, Akash Simoliya

Introduction

One of the main forces driving change in the direction of progress of any person is education. Education is actually a factor in a person's inner power, which enables them in overcoming new problems in life. Education also helps in the economic development of the country. Education is a fundamental human right, a catalyst for growth, and one of the most effective means of eradicating poverty and promoting gender equality, health, peace, and stability. It gives effective, reliable benefits in terms of earnings and is crucial for ensuring equality of opportunity (*The World Bank*, 2022). The final ambition of any education system should be to ensure inclusive and equitable quality education at all levels of school education including access to schooling facilities in order to ensure that no child loses any opportunity to learn and excel because of the circumstances of birth or background. Education plays important role in human development. If India has to develop at greater pace, we cannot ignore education. Education is the pre-condition for socio-economic development (Dubey, 2013).

India from the first education policy (1986) to new education policy (2020) has inclusive and equitable quality education as its foremost goal. Also, Indian Constitution itself affirms education as a fundamental right of the person and provides for free elementary education for children up to the age of 14 through the Right to Education Act. According to census of 2011, Schedule Tribe (As notified by the GoI under article 342 of the Indian Constitution) constitutes 8.6 percent of the total population of the country. A total of 705 Scheduled tribe dwell across the country. The literacy rate among some sections of the society viz. schedule caste and schedule tribes continue to be very lower as comparison to all communities is an issue of concern. According to the 2001 census, the literacy rate of schedule tribes of India is only 58.96 percent against the national literacy rate of 72.99 percent. It is observed that the differential in the literacy rate in case of all communities and schedule tribes was about 14 percent and in case of females, it was still higher. From the table below, It can be observed that year on year the literacy rate among the tribes in India improving but it remains lower than that of All communities in India.

Table 1
Literacy Rates among STs and All Communities in India (in %)

Year	All			Schedule Tribe		
	Person	Male	Female	Person	Male	Female
1961	28.30	40.40	15.35	8.53	13.83	3.16
1971	34.45	45.96	21.97	11.30	17.63	4.85
1981	43.57	56.38	29.76	16.35	24.52	8.04
1991	52.21	64.13	39.29	29.60	40.65	18.19
2001	64.84	75.26	53.67	47.10	59.17	34.76
2011	72.98	80.90	64.60	58.96	68.50	49.40

Source: Office of the Registrar General & Census Commissioner, India (<https://censusindia.gov.in/>)

- From the Table 1, it has been observed that the literacy rate among the scheduled tribes has been improving year on year but the difference between the all-India average and the STs remains almost around fifteen to twenty percent.

- This paper is an effort to analyse the status of education among the scheduled tribes in Madhya Pradesh which is also the largest habitat, in numbers, for the tribal population in India. According to the 2011 census, 21.1 percent of the total population of Madhya Pradesh is schedule tribe. In numbers, it is 1.532 crore, which is highest in the India. The vary purpose of this paper is to evaluate the state of education among the tribals in Madhya Pradesh and analyse the measures taken by the Governments, and evaluates the provision of NEP 2020 with reference to the Education for Tribals.

- **Review of Literature**

- Previously conducted studies through light on the various aspects of education. (Rupavath, 2016) critically examines initiatives for greater participation in education by tribal communities in India, arguing that current policy does not effectively enough facilitate greater participation and may, in fact, go against the avowed principle of ensuring greater equity. The study suggest that there is need to be culturally sensitive in making appropriate provisions for the education of scheduled tribes in India. Das & Das (2021) concluded that the wealthier and the weaker or disadvantaged segments of society experience different rates of educational progress because of the distinct categories like government or local, private aided, private unaided, central, etc. Although the concept of equality and social justice has been written in the Constitution as Fundamental Rights of each kid, it has been noticed that different parts of society receive an education that is of unequal quality due to India's different education programs. Whereas Kumar & Yadav (2021) suggested that the availability of teachers, girls' toilets and electricity needed to be improved in the tribal district of Madhya Pradesh to attract students' interest in the school. Sharma & Pattanayak (2022) also states that the biggest barriers to the scheduled tribe children's educational success include the isolation of their homes, a lack of transport facility, inadequate infrastructure, the illiteracy of their parents, communication issues, and population segregation.

Objectives of the Paper

1. To evaluate the state of Education among the Tribals in Madhya Pradesh.
2. To analyse the measures taken by the Governments.
3. To evaluate the provision of NEP 2020 with reference to the Education for Tribals.

Methodology

This paper is of descriptive and exploratory nature. It is based on secondary data collected from various authentic sources like government websites, newspapers and other important sources. Secondary data is extracted from the Office of the Registrar General, India and the Unified District Information System for Education Plus (UDISE+) Annual Reports.

About Madhya Pradesh

According to the 2011 Census, there are 7.26 Crore people living in Madhya Pradesh and contributing for 6% of India's population with a total of 72,626,809 Persons, out of which 37,612,306 men and 35,014,503 women. Madhya Pradesh spans 308,252 square km in total area and has a population density of 236 people per square km, which is lower than the national average of 382 people per square km. The total Schedule tribe population in Madhya Pradesh is 1,53,16,784. The percentage of the Scheduled Tribe population in MP is 21.1 percent. (Pandya & Pandya, 2016)

Geographical Distribution of Schedule Tribes In Madhya Pradesh

Description of schedule tribes and their habitat areas are as follows:

Table 2
Geographical distribution of schedule tribes in Madhya Pradesh

Area	Districts	Dwelling Tribes
East	Sidhi, Satna, Shahdol and Riwa	Kol and Gond
West	Thar, Jhabua, Badwani, Khandwa, Burhanpur, Khargaon, Ratlam etc.	Bhil (Sub Tribe- Bhilala, Barela, Patliya)
South	Balaghat, Mandala, Dindori, Seoni and Chhindwara	Baiga, Bharia, Gond, Madiya, Halwa etc.
North and North-West	Gwalior, Bhind, Murena, Shivpuri, Tikamgarh, Chhatarpur, Sagar and Damoh	Sahariya and Sor
Central	Narmada Puram, Betul, Narsinghpur, Jabalpur, Harda, Raisen etc.	Gond, Korku, etc.

Source: MP General Knowledge, Madhya Pradesh Hindi Granth Academy, Bhopal

Education among Tribals in Madhya Pradesh

Madhya Pradesh has a lower overall literacy rate than the rest of India (72.98%), which is at 69.32 percent. In Madhya Pradesh, the literacy rates for men and women are 78.73 percent and 59.24 percent respectively. The literacy rate among the scheduled tribes in Madhya Pradesh is 41.22 percent with male literacy rate of 48.39 percent and female literacy of 32.63 percent.

Table 3
Literacy Rates among STs and All Communities
according to Census 2011 (in %)

India/MP	All			ST		
	Total	Male	Female	Total	Male	Female
India	72.98	80.90	64.60	58.96	68.50	49.40
M.P.	69.32	78.73	59.24	41.22	48.39	32.63

Source: Office of the Registrar General & Census Commissioner, India
(<https://censusindia.gov.in/>)

Gross Enrolment Ratio (GER), widely used to show the general level of participation in and capacity of a particular level of education, defined as the total enrolment in a particular level of education, regardless of age, is expressed as a percentage of the Population of the official age group which corresponds to the given level of school education in a given academic year. For example- GER primary = Enrolment in class 1 to 5 ÷ projected population in age group 6- 10 years.

The progress made by tribal students in Madhya Pradesh can be observed in Table 4 and figure 1. Analysis has shown that the status of GER, remains higher at the primary level and the upper primary level. The GER at the secondary level is low and got significantly lower at the higher secondary level. The status of the tribal students in schooling has worsened sometimes over the last five years and did not show any consistent increase in GER in Madhya Pradesh.

The GER has deteriorated among the ST students in MP in the last five years i.e., from 2016-17 to 2020-21 at the primary level, but it is on the higher side and almost the same as the all-community average. The GER of ST students at the upper primary level is also on the higher side almost the same as the all-community average but shows mixed trends, decreasing slowly in the year from 2016-17 to 2018-19 and increasing slowly in the year from 2018-19 to 2020-21, while at the secondary level it shows just opposite trends from upper primary level, it is comparatively low and the difference between ST students and all communities is also significantly more around 10 to 15 percent. GER of ST students at the secondary level increased slowly in the year from 2016-17 to 2018-19 and decreased slowly in the year from 2018-19 to 2020-21. At the higher secondary level, the GER of ST students is significantly low, it is around 25 to 35 percent and the difference between ST students and all communities is also significantly more, around 15 to 20 percent. Although the GER of ST students at higher secondary level showing increasing trends in the last five year from 2016-17 to 2020-21.

Table 4
Comparison of GER status between STs and All Communities in MP (in %)
Panel 4.1: Primary Level (I-V)

Year	All			ST		
	Girls	Boys	Overall	Girls	Boys	Overall
2016-17	99.65	103.63	101.7	96.96	104.73	100.87
2017-18	96.55	98.7	97.66	95.49	101.18	98.36
2018-19	93.29	94.48	93.91	92.34	97.12	94.76
2019-20	92.68	93.16	92.93	90.51	94.28	92.42
2020-21	89.46	89.52	89.49	88.27	91.1	89.71

Panel 4.2: Upper Primary Level (VI-VIII)

Year	All			ST		
	Girls	Boys	Overall	Girls	Boys	Overall
2016-17	90.94	92.81	91.91	86.93	94.66	90.84
2017-18	89.14	91.95	90.6	85.69	95.38	90.58
2018-19	87.42	90.3	88.91	84.48	93.58	89.06
2019-20	90.15	92.47	91.35	87.44	95.81	91.64
2020-21	90.86	93.07	92	89.31	96.72	93.02

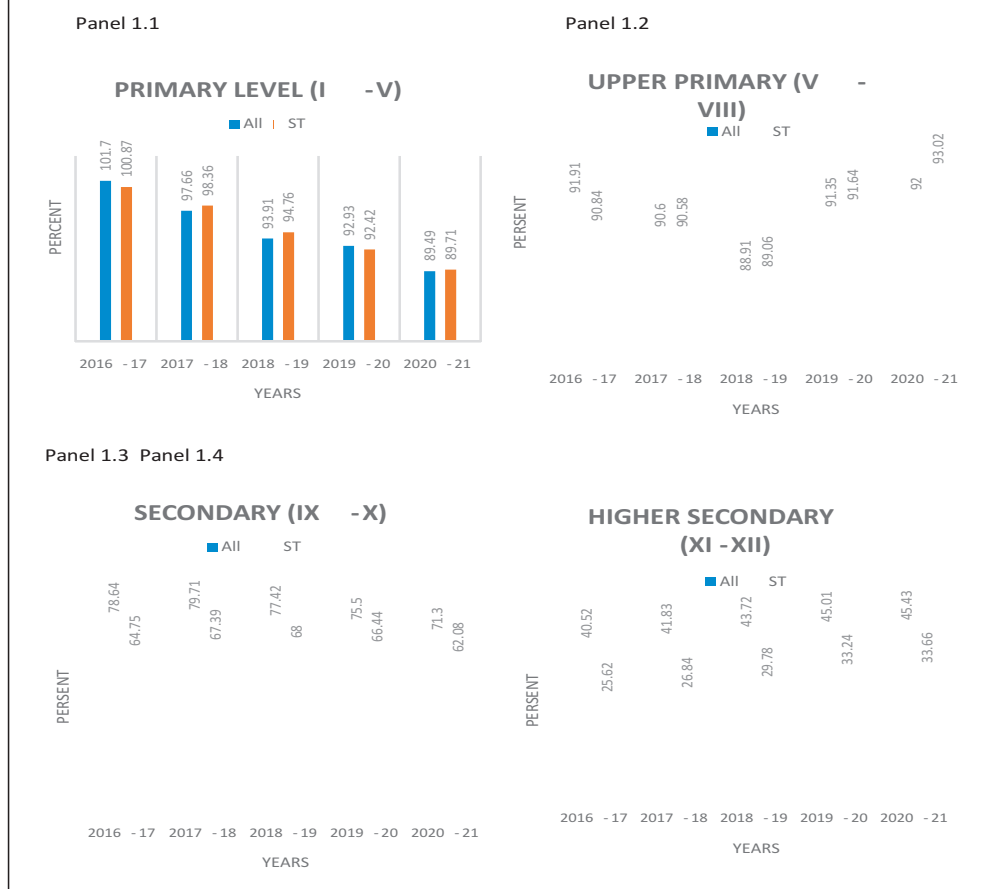
Panel 4.3: Secondary Level (IX-X)

Year	All			ST		
	Girls	Boys	Overall	Girls	Boys	Overall
2016-17	76.05	81.01	78.64	64.58	64.91	64.75
2017-18	76.93	82.28	79.71	66.45	68.29	67.39
2018-19	74.64	79.99	77.42	66.00	69.91	68.00
2019-20	72.5	78.28	75.5	63.62	69.15	66.44
2020-21	69.07	73.37	71.3	60.34	63.75	62.08

Panel 4.4: Higher Secondary Level (XI-XII)

Year	All			ST		
	Girls	Boys	Overall	Girls	Boys	Overall
2016-17	38.88	42.02	40.52	25.41	25.82	25.62
2017-18	40.5	43.04	41.83	27.01	26.68	26.84
2018-19	42.67	44.69	43.72	29.98	29.58	29.78
2019-20	44.77	45.23	45.01	33.82	32.67	33.24
2020-21	45.52	45.36	45.43	34.64	32.69	33.66

*Source: Annual Reports, Unified District Information System
for Education Plus (UDISE+)*

Figure 1**Comparison of GER status between STs and All Communities in MP**

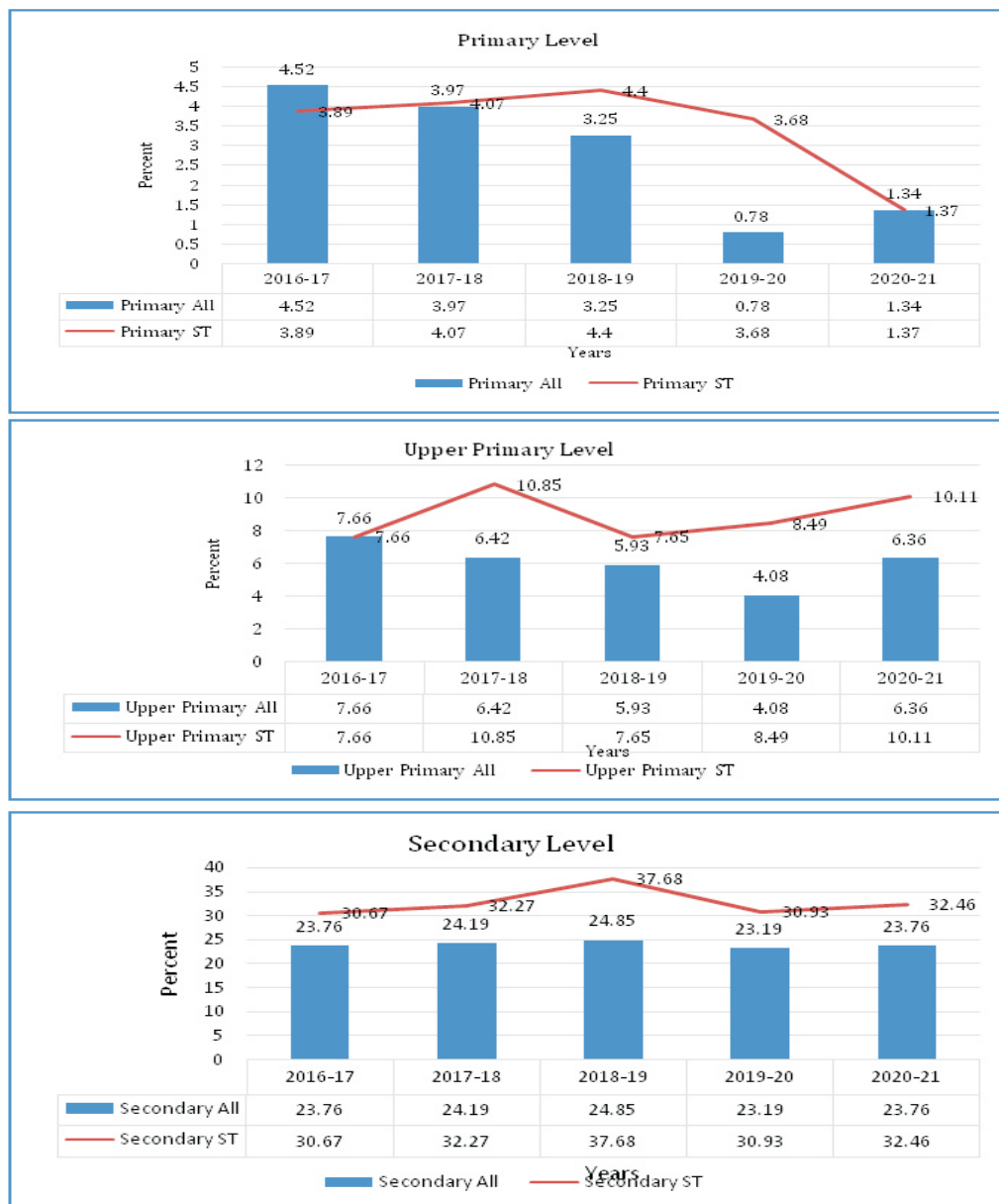
Source: Annual Reports, Unified District Information System for Education Plus (UDISE+), Authors self-presentation of the report's data.

Another significant point of concern is dropout ratio among the scheduled tribe student of Madhya Pradesh is also alarming. At primary level, it remained around 1 to 3 percent in the last five years from 2016-17 to 2020-21. The difference of dropout ratio between the ST student and all community average at primary level showed mixed trends during the last 5 years. Dropout ratio in the year 2016-17 of ST students was less than the all-community average which got worsened in the next three years and again almost matched the all community average in the year 2020-21.

At the upper primary level, the dropout ratio among the scheduled tribe student of Madhya Pradesh remained around 7 to 10 percent in the last five years from 2016-17 to 2020-21. The difference of dropout ratio between the ST student and all community average at the upper primary level remained around 1 to 4 percent during the last 4 years. The dropout ratio in 2016-17 of ST students was almost equal to the all-community average which worsened in the next four years.

At the secondary level, the dropout ratio among the scheduled tribe student of Madhya Pradesh remained around 32 to 38 percent in the last five years from 2016-17 to 2020-21. The difference in dropout ratio between the ST student and all community average at the secondary level significantly widened from around 7 to 13 percent during the last five years.

Figure 2
Comparison of Dropout Ratio between the Schedule
Tribe student and All Communities in MP



Source: Annual Reports, (UDISE+), Authors self-presentation of the report's data.

Government Initiatives for Education Among Tribals

The year 2002 marked a path-breaking initiative with the passing of the 86th amendment in the constitution of India wherein article 21(a) was inserted to ensure that every child between the ages of 6 to 14 years has the right to free and compulsory education. The Right to Education Act, which came into effect on 1 April 2010, seeks to give effect to this amendment. The government schools shall provide free education to all the children and the schools will be managed by School Management Committees (SMC). Private schools shall admit at least 25% of the children in their schools without any fee. The National Commission for Elementary Education shall be constituted to monitor all aspects of elementary education including quality. (Vikaspedia.com, nd)

The Union Budget, 2018-19, has recommended to treat school education holistically without segmentation from pre-nursery to Class XII. Samagra Shiksha, an overarching program for the school education sector extending from pre-school to class XII has been, therefore, prepared with the broader goal of improving school effectiveness measured in terms of equal opportunities for schooling and equitable learning outcomes. It subsumes the three erstwhile Schemes of Sarva Shiksha Abhiyan (SSA), Rashtriya Madhyamik Shiksha Abhiyan (RMSA) and Teacher Education (TE).

Other schemes specifically running for the betterment of the Scheduled Tribes students are as follows:

- Eklavya Model Residential School (EMRS): EMRS started in the year 1997-98 to impart quality education to ST children in remote areas in order to enable them to avail of opportunities in high and professional education courses and get employment in various sectors. The schools focus not only on academic education but on the all-round development of the students. Each school has a capacity of 480 students, catering to students from Class VI to XII. In order to give further impetus to EMRS, it has been decided by Govt. of India that by the year 2022, every block with more than 50% ST population and at least 20,000 tribal persons, will have an EMRS.
- Pre-Matric Scholarship: Pre-Matric Scholarship is a centrally sponsored scheme under which financial assistance is proved to ST students studying in class IX-X
- Post-Matric Scholarship: Post-Matric Scholarship is a centrally sponsored scheme under which financial assistance is proved to ST students studying beyond class X
- National Fellowship and Scholarship for Higher Education of ST Student: The scheme provides financial assistance for pursuing MPhil and Ph.D. in university and for pursuing graduate and post-graduate courses in the top 246 institutes like IIT/AIIMS etc.
- National Overseas Scholarship (NOS) to the ST students for Studies Abroad: Under the scheme, financial assistance is provided to 20 ST students every year for pursuing higher studies abroad.

Challenges

In recent times, COVID-19 has created an inequality catastrophe. Almost all countries provided some form of remote education during school closures, but there was high inequality in access and uptake between and within countries. Children from disadvantaged households were less likely to benefit from remote learning than their peers, often due to a lack of electricity, connectivity, devices, and caregiver support. (The World Bank, 2022)

The biggest barriers to scheduled tribes' children's educational success includes the isolation of their homes, a lack of transportation options, inadequate infrastructure, the illiteracy of their parents, communication issues, and racial segregation.(Sharma & Pattanayak, 2022).

These challenges can be categorised as follows :-

1. **Lack of Adequate Infrastructure in Schools:** The main requirements for keeping a child in school are adequate infrastructure, which includes sexual preference functional restrooms, pucca school buildings, electricity, water, play areas, libraries, sports facilities, and a safe and conducive environment for learning. Since tribal areas are typically isolated, rugged, and surrounded by deep forests, schools there won't have access to the facilities mentioned above. and this would not allow them to function as urban area schools and be treated on par with urban area school. Tribal Children, because of these problems, eventually stop attending school.
2. **It is a well-known truth that receiving a basic education in your mother tongue has several advantages.** One language dominating learning and education as a medium of instruction might leave many people illiterate and create unproductive learning in a country like India with various cultures and languages. Aspiring students from the Scheduled Tribes fall behind in their learning due to the conflict between their mother tongue and the dominant language in the classroom.
3. **Lack of Teachers and Appropriate Pedagogy:** Due to the uneven distribution of teachers, there is teacher shortage in schools in remote locations with rough terrain. Many primary schools only employ one teacher, who is sometimes unaware of the interests of tribal pupils due to a lack of communication. Teachers are also given the other responsibility of conducting elections of centre, state and local bodies in the area. It is a myth that students from indigenous groups are slow learners. Additionally, teachers should use play- and activity-based pedagogy to make learning engaging for children so that they do not view education as being futile. Application of knowledge in the real world and respect for tribal knowledge education may have a significant impact on students' academic results.
4. **Socio-Economic Constraints:** Socio-economic and cultural factors such as poor economic conditions, social customs, cultural ethos, lack of awareness and understanding of the value of formal education, conflict and distance between the home and school, etc (Sujatha, N.D.). are among the other such challenge which reduces the enrollments of tribal students in formal education.

above list of challenges is not inclusive, it only point-outs to the core issues of which solutions are required on urgent basis.

Way Forward: NEP 2020 -The national education strategy 2020 reiterates that one of the main objectives of all education sector development projects will continue to be bridging social gaps in access, participation, and learning outcomes in both school and higher education. The NEP 2020 places a high emphasis on promoting equity and inclusion and has given the education of tribal people a national perspective. It depicts how difficult it is for tribes to succeed academically and culturally because of several historical and geographic factors. As a result, the NEP 2020 advocated a policy plan to create Special Education Zones (SEZs) in order to ensure that the excluded group will be

included in India's high-quality educational system. The SEZs will be the designated area where a sizeable proportion of people from socio-economically and educationally disadvantaged groups reside.

The subsequent phase might be to safeguard and incorporate tribal knowledge within the framework of the curriculum in order to guarantee that high-quality education is not only accessible to all different groups but also pertinent and linked to their customs, aspirations, and needs. The Indian knowledge system, which includes tribal knowledge and indigenous and traditional modes of learning, is given particular attention in NEP 2020. Additionally, it offers specialised courses in tribal ethnomedicine, forest management, conventional (organic) crop development, and other fields. The inclusion of tribal knowledge in textbooks and curricula would make it possible for tribal students to achieve better learning results.

Additionally, it is essential to vigorously encourage multilingual education and instruction in the mother tongue, as provided for in Article 350A (Facilities for instruction in mother-tongue at primary stage) of the Indian Constitution, which outlines provisions for such instruction. NEP 2020 promotes the mother tongue as the medium of instruction at the initial level of schooling.

According to NEP 2020, hiring local teachers or those who are familiar with the local tongue may be given special priority. At each level of schooling, a pupil-teacher ratio (PTR) of under 30:1 may be maintained. An area having large number of socio-economically disadvantaged students will aim for a PTR of less than 25:1. The availability of local teachers will address both the problem hand in hand, the teacher shortage and the communication gap between students and teachers.

Any educational system's ultimate goal is to guarantee inclusive and equitable quality education at all levels of instruction, including access to educational resources, in order to guarantee that no student is denied the opportunity to acquire knowledge and succeed due to their circumstances of birth or background. The key to India's continued rise and leadership at the international level in terms of economic growth, social justice and equality, scientific advancement, national integration, and cultural preservation is universal access to high-quality education for all children, as is rightly envisioned in NEP 2020.

Conclusion

The state of education among tribal students of Madhya Pradesh inevitably low. Above analysis is evident that education among tribal students of Madhya Pradesh is at a good stage and somewhat similar with the all-community average at primary and upper primary level. At the secondary and the higher secondary level, the situation become worse in both relative and absolute term. The GER of ST student shows declining trends from primary to higher secondary level and the difference between the GER of ST students and all-community average also got widen from the primary to the higher secondary level. Dropout ratio in Madhya Pradesh among the tribals is also threatening. Dropout ration increases among ST students in Madhya Pradesh from the primary level to the secondary level. The difference between the dropout ratio of ST students and all-community average also got widen from the primary to the secondary level is also a point of concern. The challenge confronted by the tribal in attaining good education shall be try to address by the government through implementation of various programs and strategy. New Education Policy 2020 may provide a greater boost to enhance the prevalence of

education to the disadvantaged section of the society. The effective implementation will be the first condition for making any change in the situation because the policy in itself will not suffice to fulfil the goals.

Department of Economics,
Dr. Harisingh Gour Vishwavidyalaya, Sagar (M.P.)

Department of Economics,
Dr. Harisingh Gour Vishwavidyalaya, Sagar (M.P.)

References :

- Das, S., & Das, R. (2021). Educational Status And Opportunities Among Scheduled Tribe In Malwa Plateau Region Of Madhya Pradesh. *Ilkogretim Online -Elementary Education Online*, 20(3), 2737–2749. <https://doi.org/10.17051/ilkonline.2021.03.304>
- Dubey, G. M. (2013). भारत में मानवविकास एवं शिक्षा. *मध्यभारती शोध पत्रिका (मानविकी)*, 55, 38–45.
- Kumar, S., & Yadav, S. (2021). Assessing Elementary Education in Madhya Pradesh: A State Level Analysis. *Madhya Pradesh Journal of Social Sciences*, 26(1), 56–68. https://mpissr.org/wp-content/uploads/2022/03/MPJSS_261.pdf#page=62
- Pandya, A. K., & Pandya, A. (2016). मध्यप्रदेश सामान्य ज्ञान संदर्भ (2nd ed.). Madhya Pradesh Hindi Granth Academy.
- Rupavath, R. (2016). Tribal Education: A Perspective From Below. *South Asia Research*, 36(2), 206–228. <https://doi.org/10.1177/0262728016638718>
- Sharma, R., & Pattanayak, P. (2022). Education for Tribals. *Kurukshetra*, 70(11), 34–40.
- Sujatha, K. (n.d.). Education Among Scheduled Tribes. Retrieved October 8, 2022, from https://d1wqtxts1xzle7.cloudfront.net/53945926/analysis_Tribals-with-cover-page-v2.pdf?Expires=1665255299&Signature=WjBR~47W2LOoK3u5-ztOgEUwPCyHSrn3nrWd0FI9--1Tj38rKacpSzXNG6-ho5UFFZ0H~MStK~Z9wmXmllNQf0zb7vxcSWeNVWWUzgoEPCVshZLxbuWpKRI9m9kOITHo0SPaVVnxmU7Uqll4OiZv6Uc9A4yocKlrnBT2uAAZQfDt9NWlVqKbpD3S-XgY6g-OZl616~ODksjufMLNXv2Ss9P8AVjt0Nu~3YFlMHCBppVscyd~cpQ8n3tjaBvm-hDA3jqqaMxw3TpqBGJgZVkb5kKl1Tkzx3nWYEEhcvt4jcCKwh~zaKdvA3Vi-hzJ5d7MFA9xPtBAXxZdgImD-UkA__&Key-Pair-Id=APKAJLOHF5GGSLRBV4ZA The World Bank. (2022). The World Bank. <https://www.worldbank.org/en/topic/education/overviewhttps://www.vikaspedia.in/indg>

Contemporaneity of the Indian Tradition and Postcolonial Modernity : A Study with Reference to Geeta Mehta's "Snakes and Ladders"

Vandana Rajoriya

The contemporaneity of the great tradition of the '*wonder that was India*' and the postcolonial modernity in the wonder that India has now become - postcolonial India with all its complexities in different spheres of life, be it the Indian culture or religion, philosophy or mythology, politics or society, and so on; the offspring of the concoction of the east and the west; forms the core of almost all the writings of Geeta Mehta; the celebrated essayist, journalist, and documentary filmmaker famous for her fictional pieces like *A River Sutra*, *Raj*, *Eternal Ganesha* and non-fiction pieces like *Karma Cola: Marketing the Mystic East* and *Snakes and Ladders: Glimpses of Modern India*. A writer par excellence Geeta Mehta by her sheer merit has found a place in the list of the eminent Indo-English postcolonial writers like Salman Rushdie, Amit Choudhary, Amitav Ghosh, Anita Desai, Hanif Kureishi, Meena Alexander, Arundhati Roy and the like. Mehta like all the Novelists of her genre through her works seeks to answer the elemental questions related to the aftermath of western colonialism concerning almost all the postcolonial nations of the world. The questions Geeta Mehta seeks to explore and answer are: What are we headed towards? What is the fate of this pluralistic postcolonial India? What would be the ultimate end of this complex nexus of the classical and the modern governing the lives of us all? Her fiction and non-fiction pieces constitute the bulk of her response to these questions. With a lucid immediacy and intimacy of style, a meticulously even-handed presentation of the complex state of affairs of contemporary existence, complemented by a lively parody of the forgotten promises and agendas of the past, in a deep conversational tone, *Snakes and Ladders* comes out as a sympathetic picture tale of this metaphorically larger-than-life but humane *Continent of Circe* known as India. The present paper is an attempt to study the crafts, concerns and charisma of Geeta Mehta in *Snakes and Ladders: Glimpses of Modern India*.

I

Geeta Mehta is one of those writers whose writings have a unique charm, refreshing originality and freshness. With her deep penetrating eyes and a keen sense of observation, her *Snakes and Ladders* very meticulously unveils the various self-

contradictory seeming realities of our life and existence and the matters that are of immediate concern to all of us in an attempt to reclaim the past, rethink the history and illumine the future course of action. *Snakes and Ladders* elucidates the evolution of India as a nation, as the largest democracy of the world, from its colonial days to the contemporary present attempting to contextualise and illustrate the upsurge of Modern India with its current state of affairs. With a sense of love, longing and pride, she endeavours to present a realistic, unaffected and unbiased account of post-colonial India with all its ups and downs, good and bad things, achievements and shortcomings, as is evident from the following observations given in an interview in which she was talking about the reasons for writing it:

One obvious reason was that we are now half-a-century-old as a modern country and I wanted to write a post-colonial book because ... I wanted to write a post-colonial overview and my definition of post-colonial is.. you say this is what we are and any faults that exist in India today we can no longer make any excuses for the historical reasons, they are of our own making, so I wanted to give a picture of modern India with its faults to remind Indians what we can do ourselves but also what great successes we can make and hence *Snakes and Ladders* where we have fallen down and where we have achieved. (Mehta, 0:9-0:57)

The need for reclaiming the past forms an important part or agenda of any postcolonial discourse, but the reality of the present is that the youth of our country is not even familiar with what happened 50 years back in India. 'Snakes and Ladders' seeks to bridge this gap by covering history of the nation from independence till its conception in the late nineties. In an interview with Wendy Smith, she explains: 'I wanted to make modern India accessible to Westerners and to a whole generation of Indians who have no idea what happened 25 years before they were born. (Mehta)'. According to her *Snakes and Ladders* happens to be the Snapshots of our nation covering all its major complexities and characteristics:

India is a place where worlds and times are colliding with huge velocity: we're putting satellites into space, and we have bullock carts; there's that constant tension and contradiction of immense sophistication and an almost pre-medieval way of life. I thought the only way I could describe that collision was anecdotally, by taking snapshots, as it were. (Mehta, Interview by Wendy Smith)

India's multi-hued mosaic, its folk narratives and myths, its culture and politics, its ancient tradition and its present-day concerns all find a place in this book. The problems she speaks about and the evils she exposes are prevalent even today, and now more than ever is a need for addressing them. Acceptance and acknowledgement of reality is the first step to reform, and therefore, Geeta Mehta, as all her likes, suggests that we accept everything about India and correct ourselves, and reform ourselves in time if we are to save the glorious name and heritage of our past. People often confuse custom and hackneyed practices for tradition. Therefore, it is worth our while to discuss the idea of the continuity of tradition at length.

"Tradition is not the worship of ashes, but the preservation of fire."

Gustav Mahler

PelikanJaroslav once observed, 'Tradition is the living faith of the dead.' (quoted

in Muse) Thus it is something present in all facets of life. According to Dr Rajendra Mohan Bhatnagar, the famous Indian Novelist, tradition is never stagnant. It is ever-evolving. It never gets stereotyped. It is that which is continuous in our civilisation. According to him, stereotyped tradition can best be practice or custom but not tradition. Hackneyed practices can be anything but traditional. Tradition is dynamic in nature. It gets continuously modernised, and it is for this reason that when we look around, we find the presence of tradition in the most modern and contemporary settings. No interior décor of an Indian house or office is complete without certain traditional classical artefacts, not even the most modern ones. No ceremony is complete without some traditional rituals, not even the hard-core scientific or academic ones. Side by side mighty skyscrapers, metro stations, airports, pubs and hotels every city houses hundreds of monuments of tradition like temples, mosques, and the like. The "twin factors of tradition and modernity are not antithetical to each other, ...they always co-exist, drawing regularly from each other and work together for the progression of society". (Mamta and Kadyan 92) But, thanks to the Philosophy of binary opposition, one of the postcolonial myths we have chosen to believe in is that it is always tradition versus modernity, that it can either be tradition or modernity. We willingly ignore that India is a place where both coexist and manifest themselves everywhere and in everything. Geeta Mehta's *Snakes and Ladders* not only gives a pragmatically objective picture of contemporary India's diversity, its plurality, and its complexities but also throws significant light on how tradition and modernity coexist. As Mamta and Kadyan put it "The complex nexus between the traditional and the modern currents of Indian culture is one of her dominant themes... in ...*Snakes and Ladders*." [Mamta and Kadyan 92]

Indian culture has been dynamic since antiquity accepting and accommodating every newcomer or novelty with open hands for the fabric of the pluralistic Indian culture is such that it promotes accommodation of new with all its richness and variety while preserving its conventions and identities. Mehta relates the idea to W. H. Auden's definition of civilisation, "the degree to which diversity is attained, unity retained" to it and gives an example of a real-life setting in India of a tree with a 'white plaster Christian cross' on one side, a 'small image of the elephant-headed Ganesha, the Hindu god of protection' on another and a small concrete altar on the third side on which 'worshippers place the Koran when they pray to Allah' in the middle of one of the most thriving metropolitan cities of India, Bombay. Away from the hype created by media, if we move to the cities, we can still find such sites and occasions of mutual existence and tolerance and therefore, her observations in this regard are worth our while:

At our best, we still have a civilised tolerance that can accommodate three faiths in one tree trunk because at its best the culture of India is like a massive sponge, absorbing everything while purists shake their heads in despair. Other cultures have sought to expel all foreign devil influences from their shores, but India has always shown an appetite for foreign devils matched only by her capacity to make them go native. (*Snakes and Ladders*, 31-32)

Since our gates have remained open for everyone all the time our culture is having unique stamina of upholding itself. It is for this reason that much of the original culture is lost in the impenetrable civilisations of the world like China and Japan but we

still find it in India. She asserts that you hardly find anyone wearing kimonos in Japan but in India, we still wear saris and dhotis “not in defiant chauvinism but because quite simply that is how we dress. (32)” Mehta also expresses her concerns on how our younger generation has started understanding modernism as the west and has started imitating the west in everything which might prove fatal if not addressed in time.

Modernity cannot be limited to space, time or geographical location. Both tradition and modernity are relative to time, place and position. Hazari Prasad Dwivedi explains the idea with a beautiful metaphor of a wise man walking. A wise man stands with one foot and walks with the other. In a social context, the standing foot is tradition, and the walking leg is modernity. Without both working hands in hand, we cannot walk. (Dwivedi, 359). Thus, tradition and modernity are dynamic in nature.

II

Although it is a non-fiction piece as in fictional works of Geeta Mehta like *A River Sutra*, *Raj* so in this also; which at times feels like 'dispersed meditations' while reading, we do find what Gustav Freytag popularised as the five parts of a proper plot including the exposition, rising action (complication), climax, falling action (resolution) and denouement (resolution of crisis) highlighting what can best be the socio-political, religio-cultural ideology of the nation. Beginning with her childlike nostalgic remembrances of the dawn of freedom and the days which brought it having the child at the centre, she gradually develops the piece into what appears to be reportage and comes full circle in the end again using a child to mouth a longing, a hope, a way upwards for seeing India come up as the '*Vishwa Guru*'.

In the very beginning the dedication piece taken from Mark Twain i.e. “The sole country under the sun that is endowed with imperishable interest for alien prince and alien peasant, for lettered and ignorant, wise and fool, rich and poor, bond and free, the one land that all men desire to see, and having seen once, by even a glimpse, would not give that glimpse for the shows of all the rest of the globe combined.” (1897) sets the tone of the piece; establishing with conviction that, what is to follow is a labour of love and experience. The foreword establishes a kind of connection with the flow of the narrative establishing the metaphor of *Snakes and Ladders* highlighting the roller coaster ride of India towards progress and modernity with all its various struggles for stability and order:

India became self-governing in 1947. Living through our first half-century of nationhood has been a roller-coaster ride, the highs so sudden we have become light-headed with exhilaration, the lows too deep to even contemplate solution, as if the game of *Snakes and Ladders* had been invented to illustrate our attempts to move an ancient land toward modern enlightenment without jettisoning from our past that which is valuable or unique. (Mehta, xv)

The book opens with the dawn of freedom of India and travels in time recounting all important socio-political developments in the history of the making of India till 90s. The title of chapter two, 'Who's afraid of Being Indian', of the book divided in 35 chapters, in the very beginning prepares the ground for what is to follow by alluding to Albert Albee's *Who's afraid of Virginia Woolf* as if cautioning the readers to be prepared to face the bitter truths, as if what the succeeding pages would mirror would be real and this real would not be very appetising. It is as if she is asking; can we face the real?

Saying 'Who's afraid of Being Indian' becomes synonymous with the question 'who's afraid of living in reality'? Or for that matter, who's afraid of acknowledging reality? What is open to scrutiny is whether she's giving a realistic unbiased picture of India or is just trying to sell the poverty, corruption and problems of India, using grotesque to the effect, for she claims that this work is postcolonial in presentation but what comes off is one sided sing song of India struggling at every front and surviving not on account of its own efforts but on account of chance; some divine charisma - a work of its age old cultural construct. Brushing through the pages of the book one does feel, if this is all, then isn't it a wonder that India is not dead; it is a wonder that India still breathes. India since 1947 has come a long way, its economy has developed, its infrastructure, man force has shown promise and proven its metal at every front. But Geeta Mehta's account seems to paint it as if it is a nation in the clutches of some hooligan politician, staggering to hold, hollow, empty, heading towards a collapse which may come any moment.

Organised in four parts the chapters give a feeling of being dispersed meditations of the author, we don't wonder when we find that many of the pieces of the work were published as individual articles in different papers and magazines. What is remarkable in this regard is the fact that despite it being so the pieces do merge well to give a beginning, middle and an end to the work endowing a unique narrative unity of thought and presentation to this collection of essays. Part first begins with the exposition of the story of modern India, beginning with independence and the struggle for it Geeta Mehta successfully establishes one of the thematic assertions of the piece, i.e. the meaninglessness of all attempts at defining the Wonder that India is in terms of the western conception of the nation. The rising action constitutes the exhibition of the stark naked truth of contemporary revealing itself gradually as she starts peeling layers by layers of the nation that India has become, with all its power politics, corruption, and the staggering Indian Culture chapter after chapter.

As discussed earlier, part two takes action further exposing the grim realities of our existence and the various problems of India since independence like partition, poverty, child labour, bonded labour, caste system, corruption, nepotism, pomp and a parade of the so-called modernism. Her encounter with the ragpickers, bonded labourers, the upcoming challenges and the attempts at self-reliance of self-help organisations like SEWA (Self Employed Women's Association) and Dustkar, the vain snobbery of Government machinery and politicians in attempting to woo the cold and shrewd foreign investors make very poignant reading. The swift but turbulent flow of rising action gradually takes us to the climax in the third part, dwelling and elaborating upon the misdemeanours of Mrs Gandhi in her vain attempts to tame Assam first and Punjab and Kashmir later on and, in turn, opening the darkest chapter in the history of independent India the Emergency. One can hardly resist the biting satire in the mimicry of the famous speech on freedom of Pandit Nehru – “One summer night in 1975 while the nation slept the Prime Minister ended democracy in India”. (166). We feel the pang of satire remembering the famous speech of Nehru when gloriously on the eve of freedom in 1945, he said, “At the stroke of the midnight hour, when the world sleeps, India will awaken to life and freedom” which contrasted his efforts to attain absolute power over the nation by practising violence, mastering Kerela being its bitterest example. The horrors of emergency that gradually unfold are too much for the people of our generation,

who have not known much of it except a few stories about massive sterilisation operations. The retelling of the Myth of Lakshman Rekha and Sita and quoting Jayaprakash Narayan reciting Sanskrit verses very well mark what follows: the ruined destiny of our country “No one sees a golden deer, /No one hears a golden deer, /until the times are bad and the mind is disordered”(179)The biting satire against the pseudo modernism of Indians as highlighted in Rajiv Gandhi with all his fondness of 'the American', 'the west' with a pang of humour is worth our observation.

American Presidents jog. So the Prime Minister of India instructs his cabinet to get into jogging suits. Comprised mostly of fat middle-aged party bosses, the Indian cabinet is no ideal for physical beauty. But at least their traditional garments, evolved over centuries to accentuate the positive, disguise their more unaesthetic contours. Now they are to put on grey jogging suits, and led by their Prime Minister to the theme song from Chariots of Fire blaring over loudspeakers wired to lampposts, they unhappily run around the main streets of the capital – their exertions beamed by television across the nation. (199)

She rightly calls what comes off as disco democracy. Part four of the book highlights how, to the incomprehension of the whole world, India still survives as a progressive democracy. Throughout the narrative, by weaving many old myths and anecdotes from the past with absolute conviction, she asserts that India is Karma Bhoomi – the Land of Experience- while other countries are the lands of the consumers. She particularly has the West in mind when she says so – “It is true that from the folktales of her tribals to the monumental works that are the pillars of Indian civilisation, India has no shortage of experience to help the world find a balance between man's technology and the earth on which he wields it.” (262) The metaphor of the Love Song of India Jayadeva's Geeta Govinda highlights that we have taken the wrong way in turning to the West and that downward could be the only way upward for us. Any significant success can come to us only when we remain connected to our roots. It is not too much to assert here that uprooted from the tradition and the past, we will but fall.

III

The journey through the piece feels like a process of growing and maturing. It begins with a style which abounds in paradoxes, is flamboyant with foreign words and phrases and has a childlike agility. She artistically raises our curiosity by building upon paradoxes and anecdotes and then chuckles by pacifying us with the expected and the obvious. For instance, when the piece opens, we see that the chosen name for Geeta is Joan of Arc, and the freedom fighters are dancing the rumba, the tango and the foxtrot, but on the next page, we find that she is finally named Geeta meaningfully symbolising the Song of Freedom carry an Indian resonance in it. Page by page, the arguments gain weight, the language becomes sober and simpler and as she elaborates upon the various problems eating us all, we are charmed by the ruthless power and truth of her assertions. Finally, proposing the solution in the form of turning inwards and searching in our history what would work for us, her style comes full circle when she ends the piece with the myth of the goddess longing for love which led to the creation of the subcontinent; putting it in the mouth of the child only to reflect on the cyclic nature of time and thus hoping for a revival, a rebirth a re-enlightenment for India:

Shiva is deep in meditation in an ice-locked cave in the Himalayas. The goddess who loves him has been banished from his sight, lest she disturb his meditation. She wanders the world, trying to forget the great ascetic, determined not even to turn and look in his direction. But she cannot help herself, and standing on a wave in the Indian Ocean, she turns and stretches her arms toward the mountains, beseeching the ascetic god to enter her embrace. Into the space between her arms explode rice fields and deserts and rivers and stone fortresses and elephants and glaciers and coconut palms and temples – in short the continent of India. “That is why,” my son informed me, stretching his arms toward me in a semaphore of embrace, “India is this shape.” (284-285)

And when she adds further that “Perhaps it needs a child to recognize there is a force pulling into itself every tragic disparity, every dispersion of race and language and religion, every confusion that is India, inspiring in its peoples a feeling larger than patriotism, what they stretch out their arms to reach”.(285) expressing her longing for 'the land shaped by longing', we realise that more than being a work of uncompromising scholarship it happens to be a labour of love.

Making familiar and unfamiliar, mixing memories and desires, building upon the myths and realities Geeta Mehta in *Snakes and Ladders* rebuilds for us the complex ethos of India with all its spiritualism, manifesting in great details the east-west cultural cross-currents, the renunciation mythology, the deep rootedness of the Indian values colliding with the acceptance of the modern means of living, the transformation of the folk traditions and the like. Her talent for satire and a sharp eye for detail finds manifestation everywhere. Like her other works here, she digs, erodes and disjoints proverbs, stories, myths and beliefs of the past to understand the present best summed up as the order of chaos and disorder. She expresses her anger through the mode of satire, irony and sarcasm.

Although moving roughly in broader linear motion, she scrambles the chronology of her narrative, making leaps back and forward in time and space as the piece progresses to create a unique impact aided by a highly evocative language and unique ability of juxtaposition of the past and the present as is evident from the description of the plight of the ragpickers by the side of Yamuna River. First, she nostalgically recounts the glorious remarks of the Mughal emperor Jehangir on this beautiful land:

Beyond the dump flowed the holy Jumna River. On the far bank I could see the stone battlements of the Red Fort, where languid Moghul Emperors had once enjoyed the evening breeze in their marbled wind pavilions while their subjects promenaded on the riverbanks below. One Emperor had even famously sighed, If there is a paradise on earth, it is this, it is this.”

And then juxtaposes it with the striking realities of the present to contrast the present even more shockingly:

Today, to the left of the battlements a power station belched grey smoke into the air, coloring the mile of garbage a uniform grey, like filthy flannel. Sunk to my knees in spongy refuse, not daring to look down to see what might be clinging to my legs, I plowed my way toward a thin woman wearing a short peasant skirt and a torn jacket. She looked middle-aged but could as easily have been in her twenties. In one hand she carried a long iron spike, hooked at the bottom, which she plunged into the waste. (47)

Picturesque style and condensed and sharp images mark the presence of a skilful artist in her. The work comes closer to that of a painter or a cinematographer. No wonder she asserts, "I am a camera and the reader can see through my eyes" (Mehta, Interview by Wendy Smith). Her keen sense of observation and deep insight into the minute details of life and events and all their richness and complexity arrest our attention and force us to think twice about the various seeming realities of our life and existence. Geeta makes judicious use of Paradox, antithesis, juxtaposition and verisimilitude which makes her style seem charismatic.

To conclude, we can say that Geeta Mehta's *Snakes and Ladders* asserts with conviction that it is high time for us to acknowledge the truth of our existence and appreciate both the tradition and the newfound modernity, the colonial and the indigenous. With its powerful thematic concerns and realistic and objective picture of reality, it is a powerful work of art. Placed within multiple frames of society, politics, history, mythology and aesthetics, while addressing all the problems of our contemporary existence like the problem of power politics, the question of female confinement and isolation, the theme of complete surrender and compromise, synthesis of traditional versus modern values and so on it offers us an insight into how to arrive at a perfect harmony in the present condition by the harmonious blend of the two. This epoch-making work takes and proves to her point the age-long debate of tradition versus modernity that has resulted in much hatred, struggle and chaos in the past and the simplicity, the love, the warmth, the soundness of mind with which she accomplishes the same makes as wonder at her skill and art.

Department of English

Dr. Harisingh Gour Vishwavidyalaya, Sagar (MP)

References :

- Bhatnagar, Mamta, and Kadyan Asha, "Gita Mehta's *Snakes and Ladders: A Study of Tradition and Modernity*." *International Journal on Studies in English Language and Literature (IJSELL)*, Volume 2, Issue 9, September 2014, PP 92-99, ISSN 2347-3126 (Print) & ISSN 2347-3134 (Online), www.arcjournals.org URL <https://www.arcjournals.org/pdfs/ijSELL/v2-i9/12.pdf> Accessed 20 March 2021.
- Bhatnagar, Rajendra Mohan. "Parampara, Adhuniktaaur Sahitya." *Rajasthan Sahitya Academy* (Online) https://rsaudr.org/show_article.php?id=263 Accessed 30 March 2021.
- Dwivedi, Hazari Prasad. *Tradition and Modernity (Essay)*, Hazari Prasad Dwivedi Granthavali-09, ed. Mukund Dwivedi, Third Revised Enhanced Edition, 2007, Rajkamal Publications, New Delhi. 2007.
- Mehta, Geeta. "Author Gita Mehta releases her book 'Snakes and Ladders'". YouTube, uploaded by WildFilmsIndia Channel, 2018, <https://www.youtube.com/watch?v=PhmmJOWGDUE&t=21s> Accessed 10 March 2021.
- Mehta, Geeta. "Gita Mehta: Making India Accessible." Interview by Wendy Smith. *Publishers Weekly*, p.53-54. 12 May 1997 www.people.virginia.edu/~pm9k/59/tales/gitapub.html Accessed 20 March 2021.
- Mehta, Geeta. *Snakes and Ladders: Glimpses of Modern India*, Anchor Books Doubleday, New York, 1997
- Muse, Stephen. "Straight Ahead With the Fathers!" *Holy Transfiguration- Greek Orthodox Church*. 20 January 2017. <https://orthodoxcolumbus.org/straight-ahead-with-the-fathers/> Accessed 10 March 2021.
- Pelikan, Jaroslav. *The Vindication of Tradition: The 1983 Jefferson Lecture in the Humanities*. Yale University Press, 1984. JSTOR, www.jstor.org/stable/j.ctt5hk0sg. Accessed 29 Mar. 2021.

Development Communication: Empowerment and Social Change

Anuj Kumar Singh, Vivek Jaiswal, Vaibhav Upadhyay

Introduction:

Development communication is a technique of communication that tries to promote social and economic development in a community. It is a tool that may be utilized to enable people and communities to take charge of their lives and effect social change. Development communication is an interdisciplinary field that draws on communication theory, social psychology, anthropology, sociology, and other related disciplines. Its objective is to promote the interchange of knowledge, information, and concepts that can assist people and communities in making informed decisions and taking proactive steps toward their own growth.

Development communication is a critical component of social change efforts, as it involves the use of communication strategies and techniques to promote development goals and facilitate positive change. The field of development communication has evolved significantly over the past few decades, reflecting changing approaches to development and the increasing recognition of the importance of communication in achieving development outcomes. Development communication encompasses a range of activities, including advocacy, community engagement, social marketing, media campaigns, and capacity building. These activities are designed to facilitate the transfer of information, knowledge, and skills, and to promote behavioural change among target audiences.

This research paper explores the impact of development communication on empowerment and social change. The paper draws on existing literature on development communication and empowerment and social change, as well as case studies and examples from around the world, to explore the ways in which development communication can influence empower and social change. The research examines the following questions:

- What is the function of development communication in social change efforts?
- How can development communication be utilized to promote for empowerment and social change?
- Landscape of development communication, and what implications does this have for empowerment and social change efforts?

Literature Review:

Development communication has been identified as an essential component of social change attempts, with a growing body of research studying its impact on a variety of development issues. Development communication, according to Obregon and Waisbord (2018), is the use of communication strategies and techniques to promote development goals and facilitate positive change and can include a variety of activities such as media campaigns, community radio programs, social marketing, and advocacy efforts. The authors contend that development communication can aid in the resolution of a variety of social and development issues, such as poverty, health, education, gender equality, environmental sustainability, and governance.

Raising awareness and understanding is an important function of development communication because it can play a crucial role in developing a shared understanding of development issues and opportunities among the target audiences. According to Servaes (2019), development communication can provide vital information, knowledge, and statistics that can aid in the promotion of informed decision-making among stakeholders. Similarly, Singhal and Rogers (2003) suggest that development communication can help to build a "knowledge bridge" between experts and non-experts and promote the flow of knowledge and ideas across the sectors and disciplines.

Another key function of development communication is capacity building, which can assist in empowering individuals, communities, and organizations to take action and gain the knowledge and tools required to promote good change. Development communication, according to Melkote and Steeves (2001), can give stakeholders with training, skill development, and technical assistance to help them effectively implement development initiatives and programs. Similarly, Moemeka (2000) emphasizes the need of communication capacity-building in fostering sustainable development, arguing that development communication can aid in the creation of an enabling environment for communication and involvement among stakeholders.

Fostering cooperation and partnership is another important role of development communication since it may facilitate discourse and participation among stakeholders, as well as serve to create trust, promote ownership, and cultivate a feeling of shared responsibility for development outcomes. Development communication, according to Jacobson (2003), can help to generate social capital and networks of players devoted to social change. Similarly, Moemeka (2000) contends that development communication can aid in the facilitation of multi-stakeholder partnerships and collaborations as well as the exchange of ideas and best practices across sectors and disciplines.

However, encouraging individuals and groups to embrace new behaviours, attitudes, and values that promote development goals is an important function of development communication. Development communication, according to Singhal and Rogers (2003), can serve to construct social norms and give incentives that encourage good behaviour change. Similarly, Obregon and Waisbord (2018) emphasize the role of communication in promoting health and disease prevention, arguing that development communication can help to increase demand for health services and goods among target audiences.

Finally, the impact of development communication on social change is determined by a variety of elements such as the context in which it is implemented, the target audience, the message and delivery channels, and the degree to which it is connected with broader development goals. Cultural sensitivity and context specificity, according to Chagutah (2009), are critical aspects in influencing the effectiveness of development communication interventions and propose that communication techniques must be adjusted to the specific needs and values of the target community or society. Similarly, Servaes (2019) highlights the need of participatory and community-based methods to development communication, arguing that communication interventions must be grounded on a thorough grasp of the target community's or society's social, economic, and political dynamics.

Methodology:

This research work used a secondary data technique to investigate the impact of development communication on societal change. The study is based on current sources such as scholarly literature and reports. The first step in the research methodology was a thorough evaluation of current literature on the impact of development communication on social change. Google Scholar, JSTOR, academic databases were used to find relevant sources such as books, journal articles, and reports.

Second, secondary data will be analysed to provide insight into the role of development communication in empowerment and the impact of development communication on social transformation. Thematic analysis was used to assess the data gathered from the literature review. The analysis of findings are combined to provide a thorough knowledge of the impact of development communication on societal change. Furthermore, due to time and resource constraints, the study may not be able to cover all elements of the topic completely.

The Concept of Development Communication:

The concept of development communication arose when many developing countries gained independence from colonial rule in the 1950s and 1960s. Communication was seen as playing an important role in these countries' social and economic growth. Development communication has since become a specialized topic of study and practice.

The concept of development communication is that communication is a two-way process that includes not only information transmission but also information reception and interpretation by the receiver. It recognizes that cultural, social, and economic factors influence communication and that comprehending these elements is required for good communication. In development communication, participation and empowerment in the development process are also important. It emphasizes the importance of including individuals and communities in the planning, implementation, and evaluation of development programs and projects.

Development communication is a complicated notion that has been described and debated by a number of academics and specialists in the subject. Everett Rogers, a prominent communication scholar, defines development communication as “the art and science of human communication applied to the rapid transformation of a country and the majority of its people from poverty to a dynamic state of economic growth that allows

for greater social equality and greater fulfilment of human potential” (Rogers, 1976, p. 11).

According to Melkote and Steeves (2001), development communication is "a process of planned social change that involves the use of communication to foster individual, group, and societal change and development" (p.5). They stress the significance of communication in encouraging participatory development, empowering individuals and communities, and creating a more fair and sustainable future.

Another academic, Srinivas Melkote, emphasizes the importance of culturally sensitive and context-specific development communication. (Melkote, 2001, p.1) contends that “development communication must be culturally sensitive and responsive to local needs, values, and beliefs” He also emphasizes the necessity of forming partnerships and collaborations among many stakeholders, such as local communities, governments, non-governmental organizations, and international organizations, in order to achieve sustainable development goals.

On the whole, development communication is a fluid and ever-changing notion that recognizes the need of employing communication methods and technologies to promote social and economic development. It highlights the importance of tailoring communication to the individual needs and settings of diverse communities, as well as involving local communities in the development process.

The Broader Goals of Development Communication:

Development communication is a powerful force in influencing societal growth and positive transformation. This multidisciplinary discipline employs numerous communication tactics to enhance empowerment, raise awareness, and assist sustainable development in diverse communities. While the exact aims of development communication vary depending on the setting, some overall goals are routinely sought.

Empowerment of Marginalized Communities:

The persistent goal of strengthening underrepresented and underprivileged populations is at the heart of development communication. Development communication strives to provide these communities agency and enable active involvement in decision-making processes by providing them with necessary information, resources, and skills. This empowerment includes aspects such as education, healthcare, economic possibilities, and political participation. Development communication assists marginalized communities in breaking free from cycles of vulnerability and marginalization by bridging knowledge gaps and offering skills for self-determination.

Behaviour Change and Social Awareness:

Another important purpose of development communication is to encourage behavioral change and raise social awareness. It aims to raise awareness of urgent social issues such as public health, education, gender justice, and environmental sustainability through strategic communication efforts. These campaigns use persuasive messaging to persuade people to adopt healthier behaviors, respect human rights, and contribute to society's long-term progress (Servaes, 2022).

Capacity Building:

Development communication aims to increase the capacity of local

organizations, community leaders, and individuals to successfully solve their own development concerns. Workshops, training programs, and information distribution campaigns are critical in educating communities with the skills needed for resource management, conflict resolution, and problem solving. This capacity building fosters a sense of self-sufficiency, allowing communities to proactively confront challenges and grab opportunities (Ekwelie, 1999).

Information Dissemination:

The responsible and focused transmission of vital information is central to development communication. This material includes anything from healthcare recommendations and agricultural best practices to catastrophe preparedness and legal rights. Development communication overcomes information access gaps and supports informed decision-making by ensuring that critical knowledge reaches those who need it the most (Vincent, 2016).

Participatory Development:

Participatory development is a foundational principle of development communication. This is accomplished by including communities in the decision-making processes that impact their lives. Development communication ensures that development activities match with local needs and ambitions by allowing open discourse and fostering collaboration. Communities become active co-creators of their own developmental pathways, which increases the durability and effectiveness of programs (Morris, 2003).

Cultural Sensitivity and Diversity:

Accepting cultural sensitivity and diversity demands being open-minded and actively learning about practices, traditions, and histories that differ from our own. This technique promotes empathy, decreases bias, and breaks down preconceptions. It is important in educational, professional, and societal situations because it contributes to the equitable treatment of all people, regardless of their origin or history. In the end, pursuing cultural sensitivity and diversity is a path toward togetherness, acceptance, and a celebration of human richness. We may weave a worldwide tapestry of understanding, compassion, and shared experiences by valuing and integrating varied perspectives (Mahoney, & Schamber, 2004).

Advocacy for Policy Change:

Development communication is not limited to grassroots activities; it also includes policy reform advocacy at various levels. Development communication aims to create an enabling environment for sustainable development by raising awareness of systemic concerns and pushing for policy improvements. It aims to persuade institutions and policymakers to make changes that are in line with the needs and aspirations of marginalized communities (WHO, 1992).

Therefore, development communication pursues a multifaceted agenda that includes empowering marginalized communities, catalysing behaviour change and social awareness, strengthening local capacities, disseminating critical information, fostering participatory development, embracing cultural diversity, and advocating for policy changes. These overall goals, supported by numerous theoretical frameworks and empirical studies, help society progress toward a more equal and sustainable future.

Role of Development Communication in Empowerment:

Development communication has the potential to empower individuals and communities. It provides a forum for people to share their issues, views, and ideas. It gives people access to information and knowledge that can help them make informed decisions. It also helps to build social networks and collaborations that can aid in the development process.

Promoting literacy and education is one of the major ways in which development communication can empower individuals and communities. Literacy is a necessary precondition for development, and development communication can play an important role in increasing literacy and education. It can serve to raise education awareness and provide information about educational options (Cadiz, 2005).

Individuals and communities can also be empowered by encouraging them to engage in the development process through development communication. It can provide a place for people to express their issues and thoughts while also contributing to the design, implementation, and evaluation of development programs and projects. This can contribute to ensuring that development programs are responsive to the needs and aspirations of individuals who will benefit from them (Xiaoge, 2009).

Development communication can empower individuals and communities also through promoting gender equality and women's empowerment. Gender inequality is a fundamental hindrance to development, and development communication can help to promote gender equality and women's empowerment. It can help to raise gender awareness and provide information about women's rights and opportunities.

The significance of development communication in empowerment is multifaceted. For starters, it provides people with the knowledge and skills they need to make informed life decisions. People can have access to information regarding health, education, employment, and other social and economic opportunities through development communication. This information can assist individuals in making better life decisions and increasing their chances of success (Mefalopulos, 2008).

Secondly, development communication empowers individuals by providing them with a voice. It provides a forum for individuals and groups to voice their views, discuss their experiences, and participate in decision-making processes. Development communication may enable discourse and inspire involvement, which is essential for establishing more democratic and participatory societies.

Third, development communication may empower people by supporting social and economic change. It can assist raise awareness about social and economic issues, promote social fairness, and advocate for legislative change. Development communication can also assist mobilize resources and open opportunities for marginalized groups.

Finally, development communication can help people become more self-sufficient and sustainable. Development communication may help individuals and communities become self-sufficient and sustainable by providing them with the necessary information and skills. It can also encourage the use of local resources and traditional knowledge, which can help to build more resilient and sustainable communities. Finally, development communication is crucial for empowerment. It

provides people with the information and skills they need to make educated life decisions, offers them a voice, promotes social and economic change, and fosters self-sufficiency and sustainability. Communication for development is critical for fostering more democratic, participatory, and sustainable societies.

Role of Development Communication in Social Change:

Despite its numerous achievements, development communication confronts a number of obstacles in today's complicated and fast changing world. The quick pace of technological change is one of the most significant issues. The growth of social media and the proliferation of digital communication platforms have revolutionized the way people communicate, opening up new avenues for development communication while also posing new obstacles (Pfeffer, & Carley, 2014).

The rising complexity and diversity of communities and societies is another key concern. Practitioners of development communication must be able to navigate the cultural, linguistic, and socioeconomic variety of the people they serve. They must be able to adjust their communication tactics to varied circumstances and effectively communicate with a variety of audiences.

There are many opportunities for communication in today's globe. The rapid speed of technological change has created new options for development communication, such as the use of digital communication platforms, social media, and mobile technology. These new tools can help to reach a larger audience and promote contacts between communities and development practitioners.

Development communication has a huge impact on societal change. It is crucial in supporting democracy, human rights, and social fairness. Individuals and communities can acquire information about their rights and engage in decision-making processes that influence their lives through development communication (Habermas, 2006).

One of the most significant effects of development communication on social transformation is in the field of health. Development communication campaigns have aided in raising knowledge about health issues, promoting healthy behaviours, and expanding access to health care services. For example, immunization and family planning efforts have resulted in major gains in mother and child health.

Another area where development communication has a considerable impact is education. Development communication has aided in the promotion of literacy, the expansion of educational possibilities, and the improvement of educational quality. Development communication initiatives have also been helpful in raising awareness about the value of education, particularly for girls and vulnerable communities.

Women's empowerment and gender equality have also benefited immensely from development communication. Through development communication projects, women's rights have been promoted, and women's participation in decision-making processes has been encouraged. Women's position in many nations has improved as a result, as has their participation in social, economic, and political life (Obayelu, & Ogunlade, 2006).

Environmental sustainability has also benefited from development communication, which has raised knowledge about environmental challenges, promoted

sustainable behaviours, and advocated for policy reform. Climate change awareness and renewable energy promotion have benefited greatly from development communication efforts. Finally, development communication has a big influence on societal change. It has aided in the advancement of health, education, gender equality, and environmental sustainability. Development communication campaigns have been crucial in advancing democracy, human rights, and social justice, as well as in making society more inclusive and participative.

Conclusion:

Development communication is a potent instrument for empowering people and effective social change. It has been crucial in encouraging social and economic development, alleviating poverty, and enhancing health and educational outcomes. By promoting democracy, human rights, and social justice, development communication has also contributed to social and political change. Development communication is an important component of social change activities since it entails using communication tactics and techniques to support development goals and facilitate positive change. According to the findings of the study, development communication can have a substantial impact on social change activities by boosting awareness, enhancing understanding, building capacity, and creating collaboration among stakeholders. The success of development communication initiatives, on the other hand, is reliant on a number of factors, including the environment in which they are implemented, the target audience, the message and delivery channels, and the degree to which they are linked to broader development goals. To maximize development communication's impact on social change, it is vital to ensure that communication initiatives are culturally and contextually relevant, and that they are predicated on a full understanding of the target community's or society's social, economic, and political dynamics.

*Department of Journalism and Mass Communication
IIMT College of Management, Greater Noida, 201310*

*Department of Communication and Journalism
Dr. Harisingh Gour Vishwavidyalaya, Sagar, 470003*

*Department of Journalism and Mass Communication
IIMT College of Management, Greater Noida, 201310*

Reference :

1. Obregon, R., & Waisbord, S. (2018). *The Handbook of Global Health Communication*. John Wiley & Sons.
2. Servaes, J. (Ed.). (2007). *Communication for development and social change*. SAGE Publications India.
3. Singhal, A., & Rogers, E. M. (2003). *The status of entertainment-education worldwide*. In *Entertainment-education and social change* (pp. 25-42). Routledge.
4. Melkote, S. R., & Steeves, H. L. (2001). *Communication for development in the Third World: Theory and practice for empowerment*. Sage Publications.
5. Moemeka, A. A. (2000). *Development Communication in Action: Building Understanding and*

- Creating Participation. The Rowman & Littlefield Publishing Group (formerly known as University Press of America), 15200 NBN Way, Blue Ridge Summit, PA 17214-0191 (paper: ISBN-0-7618-1572-4, \$37.50; cloth: ISBN-0-7618-1571-6, \$57).*
6. Jacobson, T. L. (2003). *Participatory communication for social change: The relevance of the theory of communicative action. Annals of the International Communication Association*, 27(1), 87-123.
 7. Chagutah, T. (2009). *Towards improved public awareness for climate related disaster risk reduction in South Africa: A Participatory Development Communication perspective. Jambá: Journal of Disaster Risk Studies*, 2(2), 113-126.
 8. Rogers, E. M. (1976). *Communication and development: The passing of the dominant paradigm. Communication research*, 3(2), 213-240.
 9. Servaes, J. (2022). *Communication for development and social change. In The Routledge Handbook of Nonprofit Communication (pp. 23-31). Routledge.*
 10. Ekwelie, S. A. (1999, March). *Development communication: Capacity building. In a seminar on Development Communication in Nigeria: Challenges of the Millennium, organised by PTF Zone II, in Enugu.*
 11. Vincent, R. C. (2016). *The internet and sustainable development: Communication dissemination and the digital divide. Perspectives on Global Development and Technology*, 15(6), 605-637.
 12. Morris, N. (2003). *A comparative analysis of the diffusion and participatory models in development communication. Communication Theory*, 13(2), 225-248.
 13. Mahoney, S. L., & Schamber, J. F. (2004). *Exploring the application of a developmental model of intercultural sensitivity to a general education curriculum on diversity. The Journal of General Education*, 311-334.
 14. World Health Organization. (1992). *Advocacy strategies for health and development: development communication in action (No. HED/92.4). World Health Organization.*
 15. Cadiz, M. C. H. (2005). *Communication for empowerment. The practice of participatory communication in development. Buenos Aires: CLACSO.*
 16. Xiaoge, X. (2009). *Development journalism. In The handbook of journalism studies (pp. 377-390). Routledge.*
 17. Mefalopulos, P. (2008). *Development communication sourcebook: Broadening the boundaries of communication. World Bank Publications.*
 18. Pfeffer, J., Zorbach, T., & Carley, K. M. (2014). *Understanding online firestorms: Negative word-of-mouth dynamics in social media networks. Journal of marketing communications*, 20(1-2), 117-128.
 19. Obayelu, A., & Ogunlade, I. (2006). *Analysis of the uses of information communication technology (ICT) for gender empowerment and sustainable poverty alleviation in Nigeria. International Journal of Education and Development using ICT*, 2(3), 45-69.

English Language in India : Historical, Social and Educational Perspectives

Vijay Kumar Roy

Introduction: Historical Perspective

Global presence of the English language has great impact on almost all areas of life, including communication, education, politics, trade and commerce, science and technology, hotel and hospitality industries, etc. They are responsible for making English an important part of Indian society. It has entered into every part and parcel of Indian culture that is a result of “pioneering voyages”, colonial development and influence of about two centuries. So, it is worth while to go to its historical background to find its roots and understand English first with the help of historical linguistics.

The “common origin” of Indian and European languages has been “agreed” by the scholars that paved the way to further research. Frederick T. Wood, in his popular book, *An Outline History of the English Language*, writes about the parent group:

This parent language has been variously named Aryan, Indo-Germanic and Indo-European. The first has been abandoned for some time and is now applied rather to a later sub-division of the parent tongue, which gave rise to Sanskrit and the Indian group of languages, as well as Persian. Indo-Germanic, though favoured by a number of present-day philologists, is also open to objection So the best designation would seem to be Indo-European(10-11).

Wood further explains that the ancient “nomadic tribes used the parent language about 3000-3500 B.C.” and gradually they travelled to different parts of Asia and Europe and got separated from their groups giving scope for formation of several “different dialects of the one original language.” (11) It is also established by the linguists and philologists that the origin of Indo-European languages is the east, perhaps the north of the Black and Caspian seas. Due to immigration and invasion, changes took place in them but the fact remains the same that several languages in Asia and Europe have a kind of similarity between them.

The very old connections found between the languages came to light after the scholars carried out research on them and categorized them for better understanding. Though there are also other families of languages discovered and classified by the scholars such as AmeberPariona who has identified Sino-Tibetan or Trans-Himalayan (originated in Asia); Niger-Congo (originated in Africa); Austronesian (originated in

Asia and Oceania); Afro-Asiatic or Afrasian(originated inAfrica and Asia); Dravidian (originated in Asia); Turkic (originated in Asia and Europe);Japonic(originated in Asia); Austroasiatic (originated in Asia); Kra-Dai (originated in Asia); but the Indo-European family of languages (originated in Asia and Europe, and the largest among all)to which English belongs. (Pariona, Web.)

It is the historical analysis that helps us in understanding relationship between English and Indian languages that is evident through research findings. Language was a means of oral communication only; writing came very late as a result of evolution. Therefore, we talk about Shruti (“that which has been heard”) and Smriti (“that which has been remembered”). The Vedas, Upanishads, the Ramayana, and the Mahabharata are the best examples of the same that were heard and remembered from generation to generation and then they are preserved in written form today due to evolution of language/writing technology.

The relation between English and Indian languages became a subject of studies during colonial period. It was Sir William Jones, a British Orientalist and jurist, who in his presidential address to Bengal Asiatic Society on February 2, 1786 explained that Sanskrit bore to both Greek and Latin:

The Sanskrit language, whatever be its antiquity, is of a wonderful structure; more perfect than the Greek, more copious than the Latin, and more exquisitely refined than either, yet bearing to both of them a stronger affinity, both in the roots of verbs and the forms of grammar, ... (Fortson 9).

Albert C. Baugh and Thomas Cable in their famous book, A History of the English Language (1951), compare the following forms of the verb to be:

Old English	Gothic	Latin	Greek	Sanskrit
eom(am)	im	sum	eimi	asmi
eart(art)	is	es	ei	asi
is(is)	ist	est	esti	asti
sindon(are)	sijum	sumus	esmen	smas
sindon(are)	sijub	estis	este	stha
sindon(are)	sind	sunt	eisi	santi

In the same book, they write that the Sanskrit forms particularly permit us to see that at one time this verb had the same endings (mi, si, ti, mas, tha, nti) as were employed in the present tense of other verbs, for example:

Sanskrit	Greek
dádāmi	dídōmi(I give)
dádāsi	dídōs
dádāti	dídōsi
dadmás	dídomen (dial. didomes)
datthá	dídote
dáda(n)ti	didōāsi (dial. dídonti)

(Baugh and Cable 18)

Thus Sanskrit, Latin and Greek, the oldest languages of the world, have similarity in their vocabulary. Coming to English, we find various words pronounced

similar to initial sounds of Hindi words. Such similarity has been a subject of comparative linguistics after Sir William Jones introduced it in his discussion. It attracted many European scholars to learn Sanskrit. German philologist Friedrich Max Muller is one of them who worked on Indology and translated many religious books from Sanskrit to English.

Vina: Vaishnav Internet News Agency provides us with a long “List of English Words Derived from Sanskrit via Latin, Greek, Persian” that shows us similarity between Sanskrit/Hindi, Latin/Greek and English. Some of them are listed here:

Sanskrit/Hindi	Latin/Greek	English
Prati Shat	Percent (L)	Percent
Matri	Mater (L)	Mother
Aksha	Axon (G)	Axis
Sarpa	Serpentem (G)	Serpent
Dant	Dentis (L)	Dental

David Crystal and Simeon Potter write that “During the course of thousands of years, English words have been slowly simplified from the inflected variable forms found in Sanskrit, Greek, Latin, Russian, and German” (Encyclopaedia Britannica). There are various examples of it provided by Jay H. Jasanoff and Warren Cowgill in the Encyclopaedia Britannica.

The historical analysis helps us in understanding the journey of Indo-European languages, and development of English from a language of imperialism to a democratic one in nature that led it to become a global language. David Crystal in his famous book, *English as a Global Language* (2004), gives examples of Hebrew, Greek, Latin, French, Arabic and some other languages and discusses about more reasons for global presence of English. One of the reasons is that structurally English is 'more democratic'. He writes that only “intrinsic structural properties”, “the size of its vocabulary”, “a vehicle of a great literature in the past”, or for being “once associated with a great culture”, or “religion” a language does not become a global language. (9) Giving an example of Greek as “traditionally a language of international communication in the Middle East over 2,000 years ago”, Crystal writes that “one chief reason was the power of its people – especially their political and military power – the swords and spears wielded by the armies of Alexander the Great. Not because of the intellects of Plato and Aristotle.” (2004:9) Describing the history, Crystal writes that “The history of a global language can be traced through the successful expeditions of its soldier/sailor speakers. And English ... has been no exception.” (2004: 9) At the same time, Crystal writes that “a militarily powerful nation” can establish a language as international “but it takes an economically powerful one to maintain and expand it.” (2004:10) As “British political imperialism had sent English around the globe” (Crystal 2004:10), it was India where they lived for about two hundred years. Those days Britain was the most powerful nation and played very important roles in international affairs. As time kept on changing, English used to be at the centre of all languages.

“New communication technologies”, “multinational organisations”, “international marketing and advertising”, “the press”, “the broadcasting media”,

“entertainment industries”, “an international intellectual and research environment”, and “an explosion of international activities” all worked as agents in making English an international language. (Crystal 2004:10)

In India, English has become a lingua franca for both national and international communication and its need is inevitable if India wants to be a leader of the world in certain fields.

Rise of the English Language in India and Its Social Impact

During colonial period English was the language of administration. The British officers in different sectors needed people who knew English in order to carry out official work. Gradually they thought to change the educational system of India to overcome their language and cultural problems. Thomas Babington Macaulay wrote a “Minute on Education” on 2nd February 1835 for introduction of English as a medium of instruction along with introduction of Western subjects in India and it was accepted by Lord William Cavendish Bentinck, the Governor-General. Later Bombay, Calcutta and Madras universities were established in 1857. All initiatives were taken to establish English educational system in India to prepare “a class of persons Indian in blood and colour, but English in tastes” in order to rule the country easily. The 13th point of that “Minute” is very important:

We must at present do our best to form a class who may be interpreters between us and the millions whom we govern, – a class of persons Indian in blood and colour, but English in tastes, in opinions, in morals and in intellect. To that class we may leave it to refine the vernacular dialects of the country, to enrich those dialects with terms of science borrowed from the Western nomenclature, and to render them by degrees fit vehicles for conveying knowledge to the great mass of the population (Macaulay 107-17).

English started spreading its roots deeply in the country and gradually Sanskrit and Persian started losing their status. The new educational system tried to overpower the traditional Indian educational system on the name of so called refinement and reformation. After India got Independence in 1947, English had already changed the minds of many people. When some people argued that as British left India, English also should go, but it did not happen because it had occupied an important place in Indian culture. The cultural diversity of India also helped it in its development.

English continuously gained its status and remained the language of higher education, law, governance, business, tourism, the media and many more. English is also observed as a symbol of social status and “cultural modernity” by the masses. All these aspects of English had great impact on the common man and helped this language of imperialism to be recognized as a second language in India.

It is evident that through the expertise in the English language Indians were able to compete with the native speakers and got recognition of Indian English. There are several popular India English writers whose works are important in England and other English speaking countries. Many of them were recipients of the Nobel Prize, Booker Prize and other international prizes and awards for their writings in English. The poetry of Toru Dutt, Rabindranath Tagore, Sri Aurobindo, Swami Vivekananda, Sarojini Naidu, Nissim Ezekiel, A. K. Ramanujan, Shiv K. Kumar, Jayanta Mahapatra, Keki N. Daruwalla, Vikram Seth, and fiction writings of Mulk Raj Anand, R. K. Narayan, Raja

Rao, Bhabani Bhattacharya, V. S. Naipaul, Salman Rushdie, Anita Desai, Kamala Markandaya, Khushwant Singh, Nayantara Sahgal, Manju Kapur, Vikram Seth, Kiran Desai are always in the minds of Indians. There is a long list of Indian English writers both of old generation as well as of modern times whose writings are as standard as those of the British and other native English writers. With the huge body of writings, Indian English writers have paved their presence in the world. But there is a remarkable point that the term 'Indian English' is not used by every native English writer. For this, Indian English writing has to keep on proving its own importance through global presence and compete with the writings of native speakers.

Changing Roles of Educational Organizations

Ancient India had the Gurukula system of education in which there was a sacred relation between a teacher and his pupils. It was residential and the home of the teacher where pupils used to stay till the completion of their formal education. There were many gurus so there were many Gurukulas where pupils acquired knowledge of many branches in which spiritual knowledge was more important. Yoga practice was inevitable to keep them healthy. The Vedas and Upanishads were the main sources of teaching. In military training, bow and arrow, sword, and spear were very popular. Thus Gurukula was a holistic and value based educational system of higher order that taught how to attain moksha (salvation) as the ultimate goal of life. There was no fee levied on the pupils. Only at the end of their education they had to pay gurudakshina in the form of money or some task.

Later, changes took place in the educational system and a trend of specialization started in teaching and learning. Nalanda, Takshashila (also used as Taxila, now in Pakistan) and Vikramashila universities were established. They were the world renowned centres of learning that attracted the learners from different countries and made ancient India proud when no university was known existing in any other country. Admissions to these universities were very rigorous. Besides the Vedas and Hindu and Buddhist philosophies, astronomy, mathematics, civil engineering, arts and medical sciences were the main subjects of studies. These universities functioned for many centuries and produced great scholars in different fields. But Bakhtiyar Khilji destroyed Nalanda and Vikramashila universities. Takshashila University was attacked by many invaders and rebuilt again but finally it was fully destroyed by “the White Huns” (Marshall “Preface” xvi). Thus invasions brought social, cultural and linguistic changes in India.

The Arabic and Persian traditions took place. Arabic madrasa was established but it was “not much more enquiry-based”. It emphasized more on Islamic studies. So the Indian own educational system based on imagination, free thinking and intense observation for creation of new knowledge could not continue due to “feudal monarchical societies”. However, Sanskrit did not lose its glory and it continued to be a subject from primary to the higher education. The social and moral values remained the part and parcel of society.

Coming to the British period, the old value based Indian educational system was changed. The old sacred relation between the teacher and pupils started vanishing. Indian spiritual knowledge and texts were not given so much emphasis in the curriculum.

Instead of a sense of equality in the eyes of teachers and pupils found in Gurukula, differences took place. Caste system had already divided the society in all areas of life. "The rank based system added a kind of fuel in the minds of over-ambitious parents who judge the knowledge of students only by academic performance. Such a system has created fierce competition and increased stress levels in students that usually lead to depression. So there is a need to inculcate the concept of balanced life." (Chandwani³, emphasis added.) All these changes ushered in a new era full of materialism in which the educational organizations played important roles.

In English, Gurukula got simplified as 'school'. The colonial India saw the spread of English culture in Indian society and English paved a path of glory. It dominated over Sanskrit, Persian, Hindi and all Indian languages. It is clearly visible in Indian classrooms, libraries, publication houses, bookstalls, restaurants, hotels, manufacturing units, and urban and rural areas alike. The impact of English resulted in opening new educational institutions – both government and private – giving importance to English. The Western mindset brought a drastic change in Indian society and instead of being treated as temples of learning, educational institutions became commercialized and commodified.

Over population of India is one of the reasons of many problems because it does not match with the development in higher education. The existing number of institutions in higher education sector does not meet the public requirements. In this regard, National Knowledge Commission's Report to the Nation (2006-2009) said:

We recommend the creation of up to 50 National Universities that can provide education of the highest standard.... National Universities can be established in two ways, by the government or by a private sponsoring body that sets up a Society, Charitable Trust or Section 25 Company (75-76).

This 'Report' prompted the Government of India to establish more IITs, IIMs and Central Universities. Some State Governments also established new universities. Private players also came forward to establish private universities. There was a wave to open private colleges and universities, particularly offering technical, management and medical courses. Though there were already some private universities functioning very well before the publication of the report of the National Knowledge Commission (2009) and they had been offering the same courses since long that were well respected by both government and private sectors for job purposes. But the flood of private colleges and universities in India has changed the scenario of higher education. There are various courses with attractive nomenclatures run by the private colleges/universities seeing future demands but due to high fees and 'donation' many poor students are unable to get admissions to those courses. Even in primary and secondary education in urban area, the same situation is prevalent due to prioritization of private schools. Such a scene of education sector teases democratic values, and the phrases 'inclusive education' and 'education for all' prove meaningless at the root level. Also higher education is perceived through the eyes of probable jobs, but due to over population and limited number of vacancies in all sectors and slow and irregular recruitment, unemployment has created a world of uncertainty, hopelessness and depression.

Factors Affecting Attitudes Towards English

There are several factors that affect attitudes of learners towards learning English. Many of them are associated with social, psychological, economic, and teaching and learning situation. A number of researchers and linguists have observed that 'attitudes' play important roles in learning a second or a foreign language. David Crystal defines 'attitudes' as "A term used in sociolinguistics for the feelings people have about their own language or the language(s) of others." (2008:266) He divides attitudes into two kinds: "positive" and "negative" in learning a second or a foreign language. According to Richards and Schmidt, language attitudes are "the attitudes which speakers of different languages or language varieties have towards each other's languages or to their own language." (314) They too discuss about the feelings towards a language that the learners develop. They can be positive or negative, experienced by ease or difficulty faced by the learners. They further clarify that attitudes towards a language depend on various factors: "degree of importance, elegance, social status, ... and the speakers" of the target language. Johnson and Johnson add more factors as "opinions", "beliefs", "anxiety", "learning situation", "the classroom, the teacher, other learners, the nature of language learning" all responsible towards developing attitudes of learners in learning a second language (20). According to Hobbs, "Factors include language dominance, context, attitudes and similarities or differences among and between languages." (224) "Learning conditions", "teaching and learning styles", teacher's personality, educational background, passion for teaching profession, and "curriculum" are also important factors. Age, too, matters in learning a second language. A child learns a second language sooner than an adult or an elderly person.

Motivation plays the key role in learning a second/foreign language. In this context, Csizer and Kormos observe that "stakeholder attitudes have a great impact on student motivation" (98-119). In India, it has often been seen that sometimes state government does not make English as a compulsory subject in state board examinations. This vote bank policy of the government demotivates the students towards English that hampers their career. When those students realize their failure in learning English, they are very late, and they have no choice for good higher education because they know that without having command over English they can not get admission to reputed university in India or abroad. Such negative feelings cause demotivation.

However, in the globalized world, people are interconnected for the sake of development in different fields. This interconnectedness is an important factor of attitudes towards learning English. Those who migrate to the country where English is the language of communication, attitudes towards English is very strong because it is the only means of communication with the people living there. In this case, cultural change also plays an important role and motivates the immigrants to mingle with the native people with the help of English. It has been seen that in this situation sometimes the children of migrated parents have higher level of proficiency in English than native speakers.

Skills Based Courses

It has been seen that even after completion of higher education, many students are not able to write and speak good English due to various reasons. Giving no emphasis

on skills development in the classroom, still maximum universities keep on producing unemployable youths. The roots of such trend of substandard teaching-learning process of English are found at school level, particularly at government schools. According to Prof. V. K. Gokak,

The teaching of English in our schools is in a chaotic state today. ... Pupils are taught English for about six periods a week for six years. But it has been estimated that they hardly know 1500 words by the time they join a university. This means that they have hardly been able to learn English words at the rate of one word per period. They do not know how to use the commonest structures of English (65).

Though, "A few students, or a few schools and colleges, may give evidence of an exceptionally good standard of achievement." (Gokak 9) Many private English schools perform better than government schools in both infrastructure and teaching-learning facilities. Government schools need to bring much improvement in these fields including a rigorous process of selection of teachers and their proper in-service trainings for skills development in students.

Among the institutions of higher education, some universities, engineering and management institutions, particularly IITs, NITs, IIMs and a few private institutions are the examples where better education is provided including development of required skills in students. There are a number of skills in which hard skills and soft skills are more talked. Prof. M. M. Monippally (IIM Ahmedabad) writes:

There was a time, not long ago, when soft skills including communication were thought of as poor cousins of the hard skills. While investing considerable time and resources to acquire the hard skills, bright students ignored the soft skills. Once you mastered the hard skills, they thought, the lowly soft skills would follow without any special effort (ix).

But time has changed. Old perceptions and practices are not relevant all the time. The job market has many expectations from the applicants. From school background to higher education, everything matters for a good job. Communication skills are judged in group discussions along with other skills of corporate importance. In the words of Professor V. Saraswathi:

As the world is shrinking into a global village, communication skills in English have emerged as the major means of empowerment as well as human resource development. Communicative listening, speaking, reading and writing involve more than mastery of grammar and vocabulary. The rules of use as well as the rules of usage need to be acquired. A good communicator knows what to say, to whom, when, where, why and how, and also when to be silent (Foreword).

Many organizations and companies recruit people to work in teams. People of different backgrounds and ability groups are mixed to work together. For this, different skills are required in them to work comfortably, efficiently, and effectively. The contents and methods of teaching used in most of the degree courses have limited scope for skills development. So there is a need of training and skills-based courses in English meant for ready workforce. In today's competitive world, besides linguistic skills, managerial skills, time-management skills, interpersonal skills, critical thinking skills, referencing

skills, presentation skills, technology skills, multilingual skills, integrated skills, all are significant along with confidence building, personality development and inculcation of values in students through different programmes and activities useful in getting and doing jobs. Though there are some institutions in India offering courses suitable for global job market but they are not enough.

Conclusion

This paper has argued that the presence of the English language in India has brought historical, social, cultural, and educational changes. It has established its permanent place in India after a long struggle. One of the reasons of its dominance is its relation with the Indian languages ("Indo-European Family of Languages"). Language-politics is unable to hurt it any way. As time passes, its importance is more realized from primary school to university level. Those who come from the marginalized section of society, they face many challenges at social and educational levels due to lack of exposure to it. This situation has created a wide gap between the speakers of the English language and local languages. But the importance of English as a global language, and dynamic educational policy of India prove effective in order to fill the gap and bring equality in language learning opportunity in spite of dominance of elitism. The demand of skills based courses in English language is at high due to requirement of global job markets.

*Department of English & Modern European Languages,
University of Allahabad, Prayagraj-211002, UP*

References :

1. Baugh, A. C., and T. Cable. *A History of the English Language*. 5th ed., Pearson Education, 2005.
2. Chandwani, N. "The Importance of the Gurukul System and Why Indian Education Needs It." *The Times of India*. 8 March 2019, <https://timesofindia.indiatimes.com/blogs/desires-of-a-modern-indian/the-importance-of-the-gurukul-system-and-why-indian-education-needs-it/>. Accessed 10 April 2023.
3. Crystal, D. *English as a Global Language*. 2nd ed., Rpt., Cambridge UP, 2004.
4. _____. *A Dictionary of Linguistics and Phonetics*. 6th ed., Blackwell, 2008.
5. Crystal, D., and S. Potter. "Origins and Basic Characteristics." *Encyclopaedia Britannica*, 25 Apr. 2023. <https://www.britannica.com/topic/English-language>. Accessed 8 July 2023.
6. Csizer, K., and J. Kormos. "Learning Experiences, Selves and Motivated Learning Behaviour: A Comparative Analysis of Structural Models for Hungarian Secondary and University Learners of English." *Motivation, Language Identity and the L2 Self*, edited by Z. Dornyei and E. Ushioda, Multilingual Matters, 2009, pp. 98-119.
7. Fortson IV, B. W. *Indo-European Language and Culture: An Introduction*. 2nd ed., Wiley-Blackwell, 2009.
8. Gokak, V. K. *English in India: Its Present and Future*. Asia Publishing House, 1964.
9. Gurudev. "List of English Words Derived from Sanskrit via Latin, Greek, Persian." *Vina: Vaishnav Internet News Agency*, 13 April 2015. <https://www.vina.cc/2015/04/13/list-of-english-words-derived-from-sanskrit-via-latin-greek-persian/>. Also available at <https://www.hitxp.com/articles/linguistics/english-loan-words-list-sanskrit-latin-greek-persian/>. Accessed 5 April 2023.
10. Hobbs, R. D. "Diverse Multilingual Researchers Contribute Language Acquisition Components to an Integrated Model of Education." *International Journal of Multilingualism*, vol. 9, no.3, 2012, pp. 204-234, <http://dx.doi.org/10.1080/14790718.2011.630736>.

11. Jasanoff, J. H., and W. Cowgill. "Indo-European Languages." *Encyclopaedia Britannica*, 13 March 2020, <https://www.britannica.com/topic/Indo-European-languages>. Accessed 9 July 2023
12. Johnson, K., and H. Johnson, editors. *Encyclopedic Dictionary of Applied Linguistics: A Handbook for Language Teaching*. Rpt. Blackwell, 1999.
13. Macaulay, T. B. "Minute on Education (1835)". Bureau of Education. *Selections from Educational Records, Part I (1781-1839)*. Edited by H. Sharp. Superintendent, Government Printing, 1920. Rpt. National Archives of India, 1965, pp. 107-17.
14. Marshall, S. J. Preface. *Taxila: An Illustrated Account of Archaeological Excavations Carried Out at Taxila Under the Order of the Government of India Between the Years 1913 and 1934 in Three Volumes*. Cambridge UP, 1951.
15. Monippally, M. M. Foreword. *Effective Technical Communication*, by M. Ashraf Rizvi. 12th Rpt. Tata McGraw-Hill, 2009.
16. National Knowledge Commission's Report to the Nation (2006-2009). Government of India. National Knowledge Commission, March 2009, <https://www.aicte-india.org/downloads/nkc.pdf>. Accessed 5 April 2023.
17. Pariona, A. "Language Families of the World." *World Atlas*. 9 July 2018, <https://www.worldatlas.com/articles/language-families-with-the-highest-number-of-speakers.html>. Accessed 5 April 2023.
18. Richards, J. C., and R. Schmidt. *Longman Dictionary of Language Teaching and Applied Linguistics*. 4th ed., Pearson Education, 2010.
19. Saraswathi, V. Foreword. *Communication Skills for Technical Students*, by T. M. Farhathullah. Orient Blackswan, 2008.
20. Wenden, A. *Learner Strategies for Learner Autonomy: Planning and Implementing Learner Training for Language Learners*. Prentice Hall, 1991.
21. Wood, F. T. *An Outline History of the English Language*. Rpt. Macmillan India Limited, 2008.

Environmental Hazards and its Repercussions in Naturally Endowed Garhwal : A Historical Perspective

Sanjay Barolia, Manjula Gaur

Introduction -

Movement of individuals and in groups has been taking place since the origin of man. This movement from one place to another which is known as migration, is one of the distinct nature of the Homo Sapiens. The act causes social changes and thus gave birth to various civilizations and cultures all around the globe¹. They migrated in search of food and other means of subsistence. The proposition here is to understand that migration can be voluntary or non-voluntary in nature.

Migration due to economic factors as unemployment, lack of natural resources, natural disasters or due to any other reason can be done voluntarily or forcefully. Some move to other places due to demographic factors as high density of population, socio-economic factors might include the aspects as change in values, media impact, culture embarrassment, whereas political factors as territorial disputes, political conflicts might highly push people of the region to migrate². Such movements when cause a large population displacement due to the reasons mentioned above because of deterioration of their living conditions can be termed as complex humanitarian emergency. Thus, given paper focuses on the environmental factors which is one of the prime causes for the mass migration all around the world and Garhwal in particular. It is postulated that Homo Sapiens followed certain paths to get close to rivers and thus migrated from their places to do so. They migrated from Africa to the other parts of the world³. Few reasons among many were that the land of their inception turned either a desert or were flooded by the rivers, and not to forget the scarcity of resources due to it being limited in nature⁴. Migration of Scandinavian Norse to North Atlantic Islands in Middle Ages is one of the classic examples of people moving to a congenial environment. In 1998 Yangtze River flood led many to displace from their residences and move to safer places⁵. In fact, Russel King in his Book, "People on the Move: An Atlas on Migration" points out that climate change has so far led to a staggering 200 million people migrating from their places of origin and this figure might go up to 1 billion in 2050.

Furthermore, GRID Report 2022 suggests that disasters triggered a significant displacement, out of which storm and floods alone claim a huge percentage of

dislocation of people. Also, droughts and forest fires are among many reasons for this displacement⁶.

Likewise, India is also susceptible to such involuntary mobility. Natural catastrophe can be held responsible for decline and forced mobility of the inhabitants of ancient Harappan civilization. Water deposited silts at Mohenjodaro indicates flooding of the site. Amri and Chanhudaro also present ample evidence of flooding. M.R Sahni postulation that tectonic upheavals might have blocked Indus River land and such halt might have caused the creation of upstream lakes and thus resulting in flooding the surrounding area. Thus, many scholars suggest that flooding might have been one of the reasons for decline of Harappan civilization and the inhabitants would have been forced to vacate the place⁷. Obviously, it is not attested yet with certainty but came for close scrutiny due to debris of silts on the sites. The given speculation has been made about the mobility because of the evidence of settlements at the other sites with similar pottery culture.

Medieval India also was not immune to such fatal disasters. Abdul Hamid Lahori, the historian in the court of great Mughal king Shah Jahan, laments on the event of famine of Deccan and Gujarat in 1630, tells that in the drought year perished many lives. The situation was such that life was offered for a loaf, but none would buy; many died of starvation and those who were left wandered off the town and villages of other countries, in search of food⁸.

Moreover, extreme severity was apparent in the colonial rule. The famine of 1867, 1892, 1896, 1902, 1906 occurred due to the failure of crop in the region. Drought and ill-distribution of rain caused such incidents in the region otherwise flooded by the perennial rivers⁹. The situation led people to move to places where they could find the means of subsistence. To avoid such extreme situations, male members had to move to other regions to get better employment opportunities, meanwhile female members were to stay in villages to look after the fields.

Thus, it is apparent that the involuntary migration persisted in the region, due to the paucity of basic standards of life.

Present Scenario -

World Migration Report 2020 shows that among all the South Asian countries, India is the most hit country by natural disasters, as it witnesses around 2.7 million displacements due to tropical storms and floods¹⁰ and 2021 figures of displacement further attests this fact as it reports that around 2.5 million people were dislocated due to three major storms in the same year¹¹. But India is a vast country in terms of population density and the land area. Also, not to forget, the country possesses varied geophysical features and thus it is not viable either to cover all the environmental factors responsible for migration or to cover such a wide space in the given paper. Thus, analyzing natural disasters liable in the voluntary or involuntary mobility process of the people of Uttarakhand is the main focus of the paper.

Uttarakhand covers a total land area of 53,483 sq. km, out of which 46,035 sq. km is hilly region and the rest of 7448 sq. km is plain¹². The state is divided into 2 divisions, i.e., Garhwal and Kumaun which are further subdivided into 13 districts, namely Chamoli, Dehradun, PauriGarhwal, Haridwar, Rudraprayag, TehriGarhwal,

Uttarkashi, Almora, Bageshwar, Champawat, Nainital, Pithoragarh and Udham Singh Nagar. Besides being the newly formed state, it also bears the geographical inequality as out of 13 districts, Nainital, Haridwar, Dehradun and Udham Singh Nagar have larger areas as plains, whereas the rest nine are endowed with hilly area¹³. Addressing to the vulnerability of the Uttarakhand state of India, the NIDM report points that the region situating on unstable crust is quite prone to earthquakes, landslides, avalanches, cloudburst, hailstorms, glacial lake outburst, flash floods, lightening forest fires¹⁴. These natural disasters are frequently evident in the region thus causing huge loss to life and property and thus forces people to mobilize from their places, leaving behind their ancestral lands and sentiments as well.

Urban population of the state is mainly concentrated in the plain districts of Dehradun and Haridwar and the rest is in the rural areas of hilly districts. It is also notable that the average urban population growth is 4 percent, whereas it is only 1.2 percent in the rural areas¹⁵. The population Census 2011 reports that around 17868 people moved out of Almora and Pauri districts between 2001 and 2011 and is quite an attestation of the increasing out- migration of the people¹⁶. Several villages have been abandoned completely and many are left with very less population¹⁷.

HDI report suggests that the out-migration is common among the hill districts of the state. These districts constitute around 8.7 percent population out-migrating on long-term basis. The given below table has been taken from the HDI report of Uttarakhand. The table shows migration pattern of the region- Migration Status of Individual (%), 2017¹⁸

Areas	Resident	Daily Commuters	Short-term migration	Long-term migration	Total
Rural	Hills- 89.1	0.2	0.9	9.8	100
	Plains- 98.8	0.1	0.2	0.5	100
	Total- 90.7	0.2	0.9	8.2	100
Urban	Hills- 95.8	0.1	0.7	3.4	100
	Plains-98.5	0.0	0.2	1.3	100
	Total- 96.9	0.1	0.5	2.5	100
Total	Hills- 90.2	0.2	0.9	8.7	100
	Plains-98.6	0.1	0.4	0.9	100
	Total- 92.1	0.2	0.8	6.9	100

The highlighted cells are the matter of our concerns here. The above table shows the data from 2017. Long-term migration is quite apparent in the hilly regions. Take an instance of Rudraprayag where out-migration in rural areas on long term basis is around 51.7 percent, wherever in urban area this figure is about 24 percent, which is almost half the rate of the migration in rural areas¹⁹.

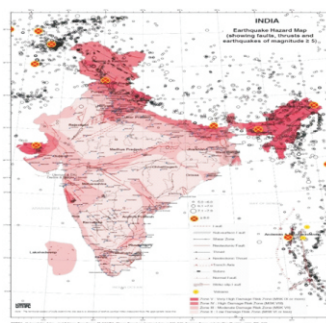
Per capita income of the district also shows a downtrend in the progressive years. The decrease could be due to lack of employment opportunities, crop failures for farmers, lack of industries, out-flux of population to the congenial regions and so on. As

per the Executive Summary on district domestic product, Uttarkashi's economic growth decreases from 11.27% in the year 2012-13 to 10.88% in 2017-18. In Chamoli district the trend is likewise. Economic growth decreases from 13.50% in 2012-13 to 12.36% in 2017-18. Same is the case with Rudraprayag, TehriGarhwal and PauriGarhwal. However, economic growth was seen in the plain districts of Garhwal, i.e., Dehradun, Haridwar²⁰.

Though, keeping in mind that migration is caused due to numerous push and pull factors and can be based seasonally or permanently. Yet, the analysis of migration due to displacements caused by the natural disasters, is the focus of the study. Thereby, case studies are discussed in the next section to determine the displacements and possible relocations due to that.

Case study-

The Himalaya is in a continuous motion. It is still rising due to neotectonics activities underneath²¹. Thus, earthquakes are quite frequent in the Himalayan belt.



Earthquake Hazard Map- showing faults, thrusts and earthquakes of magnitude ≥ 5 ²²

The given map clearly shows that Uttarakhand comes under Zone V, i.e., very high-risk damage zone and the reason why some of the catastrophic earthquakes were witnessed by this region. Garhwal earthquake of 1803 is one such instance. Due to lack of proper instruments at the time of the incident, the exact magnitude could not be measured but various contemporary scientists speculated the intensity of above 7 with epicenter near Srinagar- Garhwal. The incident was reported in the Asiatic Annual Register of 1804²³. No actual figures of damage was reported but it was stated in the report that many pacca buildings were cast down and due to severity, dwellers took refuge in streets and fields. Fissures were reported in the fields and thus it might be speculated that the earthquake must have claimed huge loss of life and property²⁴.

Similar episode was witnessed by the natives of Uttarakashi, Chamoli and Tehri in October 1991. Huge damage was reported due to this earthquake as well. 1294 villages were affected; 768 people died whereas the number of injured people came up to be 5,066. Also, the earthquake claimed lives of around 3,096 cattle. Many were reported to have displaced due to damage to the rural and urban dwellings²⁵.

Likewise, Chamoli earthquake of 1999 caused around 103 deaths and several injured. More than 4500 houses were reported damaged in Chamoli and Rudraprayag due to this earthquake. Several dwellers were reported exposed to displacement due to this unforeseen occurrence²⁶.

Flood is also one of the prime causes for annual displacement in the region. Indian meteorological department reports that Uttarakhand comes under the moderate range in flood hit regions with average flood events during the period from 1969 to 2019 ranging from 31-50.²⁷ Nonetheless, the biggest impact carrying flood occurred in 2013. NIDM reports suggest that though all 13 districts were affected, but the worst hit ones were Bageshwar, Chamoli, Rudraprayag, Pithoragarh and Uttarkashi²⁸. Due to heavy rain of 385.1 mm as against the normal range of 71.3, flash flood occurred and caused huge devastation in the state²⁹. This caused landslide particularly in Kedarnath-Rambara-Gaurikund area³⁰.

The figures of loss to life and property came out to be quite shocking; 169 casualties, 4021 reported missing, 4200 villages severely affected, 11,091 livestock lost, 2513 houses were completely damaged³¹. Undoubtedly, many would have been displaced due to loss of their habitats. Moreover, landslides are quite common and occurs due to natural and anthropogenic causes. 2010 event of landslides caused 220 casualties, 21 missing, 534 houses damaged completely, whereas 2138 houses were partially damaged. Furthermore, the instability of hill slopes due to ongoing tectonic activities, face frequent annual landslides resulting in displacements. Kalisaur landslide, for instance, is the most frequent occurring landslide. Calamitous landslides occurred there in the year 1920, 1952, 1963, 1964, 1965, 1969, 1970, 1971 and most recently, Kedarnath flood of 2014 is another instance when massive landslide occurred.

Another slow yet hazardous phenomenon is soil erosion in the state. The soil here varies from gravel to stiff clay in the north to shallow, gravelly, and rich in organic matter, in south. Soil detachment by rainfall is highly likely here. Besides being anthropogenic factors as the cause of soil erosion, natural factors as flash floods, cloudburst, avalanches, and earthquake are responsible to this³². The Representative of Secretary General on the Human Rights of Internally displaced persons, Walter Kalin identified certain scenarios where human displacement is pertinent³³ and of those hydrological disasters and high-risk zone disasters are frequent in Uttarakhand.

As discussed earlier, that earthquake, floods, cloud burst and other disasters are most frequent in the region and it causes huge loss to men and property. Several disasters cause huge displacement of people. Kedarnath flood of 2013 is one such example of that. People visiting pilgrim sites in June, witnessed the worst when many people in Harsil, Roopkund and Hemkund Sahib were stranded and it was reported that 4021 people were reported missing³⁴. The main cause of this huge loss was heavy rainfall. As per the meteorological department the state received a huge rainfall of 385.1mm rainfall between 15th and 18th June 2013³⁵. State infrastructure development Commissioner reported that flood wiped out around 2,052 houses, 147 bridges collapsed and 1,307 roads were destroyed³⁶.

It was reported that the magnitude of rainfall in 2013 was not expected to be this much. Also, the streams in this region were flowing at unusually high levels for several weeks and rainfall contributed more to this predictable disaster³⁷. Authorities did not pay any attention to the repeated warnings that the lake above Kedarnath was full and could overflow the region anytime. This ignorance to crucial information led to immediate displacement of many pilgrims and visitors³⁸. Huge loss due to infrastructure and personal property must have caused many people to relocate to the safer places.

Post the incident, a team of 150 members had identified 300 villages in Haridwar, Dehradun and Udham Singh Nagar as exposed to landslide and the state government had sent a proposal to the Centre seeking relocation of the villagers³⁹.

Through various primary reports and data, it was found that people were migrating due to natural catastrophe. Recent Joshimath case can be taken as a specimen to the fact. Natural forest cover was getting cleared for the construction purpose and recently it was reported that the nature has begun to show its wrath. Although, a committee instituted 50 years ago already had warned that the heavy rain and flood from raining area in Alaknanda River had started eroding the bottom soil of Joshimath, yet common masses and private constructors never paid heed to such vital information, and now people are paying the price by losing their homes to the cracks and water seepage from underground⁴⁰. As a result, people are leaving their homes and migrating to the safer places.

The house and private construction of hotels and shops are still going on, but the land carrying capacity of the region is not so much that it can take all the superficial modification over such vulnerable area.

Moreover, looking at the susceptibility, the government is also directed from time to time to determine the land carrying capacity of this eco-sensitive land, but no such actions have been taken so far. Tourism is increasing every year and it is government's responsibility that they must determine the capacity, but due to dearth of other economic activities, tourism is taken as a highly profitable industry and thus the authorities tend to ignore the most significant question, which is, how much the land could carry?

Conclusion -

Uttarakhand is a disaster-prone state and out-migration is quite apparent due to such natural accidents. The land has borne the brunt of humanly activities since colonial times when railways and road networks were built in order to establish trade connection of the hill from the plains. But, the natural disasters like floods and landslides are increasing and are causing people to displace from their native lands.

Several factors are responsible for the catastrophe. The direct role of human cannot be traced in the causation of such disasters as they are natural phenomena but man plays a role in the severity of destruction. The carrying capacity should be kept in mind when planning for the tourism development. A proper planning of building infrastructure on such unstable land must be done before hand so that the loss of property can be minimized.

The land is highly prone to earthquake, floods, and heavy rain. Such disasters are unpredictable but with the use of advanced technology, early warning signs must be taken seriously and warnings for evacuation must be issued beforehand. Huge loss of life in 2013 catastrophe of Kedarnath could have been avoided to some extent, if there had been proper warning for evacuation, issued to the tourists and the locales. Major displacement was caused due to this unfortunate incident and locales had lost their houses in this.

Uttarakhand is a naturally endowed land and in order to economize the resources, the government must promote the industries suitable according to the topography of the region. Moreover, to control the out-migration of people, the government must provide employment opportunities to the natives. Although,

government has laid out the policy to promote region-based tourism and also involving the locales in the lucrative business of tourism industry by leasing lands for shops and restaurants, but more is yet to be done by promoting the region-based handicraft and small-scale industry on global platform. This way, people would not be lured to move out for employment purpose. The state lies in the vulnerable zone, and thus the increasing influx of people might lead to population pressure on the land. It can cause long term repercussions. Joshimath case is one fine example of that. Due to sudden influx of population and unsystematic construction, the people are now facing the problem of water seepage from the cracks in the house floors.

Also, learning from such previous episodes in History of the region, we must understand our responsibility of respecting the ecology of the region and not to hinder the natural set-up of the region. Unnecessary construction of hotels, restaurants and shops for the tourists have caused an irreversible damage to the environment. Thus, along with legal measures that are strictly needed for putting a control over the exploitation of the region, one must understand one's moral duty to safeguard the ecology before it is too late.

Department of History, Dr. Harisingh Gour Vishwavidyalaya, Sagar, M.P

Department of History, Dr. Harisingh Gour Vishwavidyalaya, Sagar, M.P

References :

1. Lewis, G.J., *Human Migration: A Geographical Perspective*, St. Martin Press, New York, 1992, p.1
2. Information accessed online via <https://www.worldofstatistics.org/files/2014/03/Pull-and-Push-Factors-of-Migration-Thet.pdf>
3. King, Russel, *Atlas of Human Migration*, Firefly Books, Ontario, Canada, 2007, pp.20-22
4. King, Russel, *People on the Move: An Atlas of Migration*, University of California Press, Brighton, UK, 2010, p. 19
5. McLeman, Robert A, *Climate and Human Migration: Past Experiences and Future Challenges*, Cambridge University Press, New York, 2014, pp.5-6
6. *Global Report on Internal Displacement*, Norwegian Refugee Council, 2022, p15, accessed online via https://www.internaldisplacement.org/sites/default/files/publications/documents/IDMC_GRID_2022_LR.pdf
7. Information accessed via <https://www.harappa.com/sites/default/files/pdf/dales-decline-of-harappans-2.pdf>
8. Parez, Muhammad, et. al., *Famines in Mughal India*, Vidyasagar University Journal of History, Vol. V, 2016-17, p24, accessed online via <http://inet.vidyasagar.ac.in:8080/jspui/bitstream/123456789/4496/1/Muhammad%20Parwez.pdf>
9. Walton, H.G, *A Gazetteer of Garhwal Himalaya*, F. Luker, Superintendent, Government Press, Allahabad, pp.78-80
10. *World Migration Report 2020*, International Organization of Migration, Geneva, 2019, p.79
11. *Global Report on Internal Displacement*, op. cit., p. 67
12. *Uttarakhand At a Glance (2017-18)*, Directorate of Economics and Statistics, Department of Planning, Dehradun, 2019, p.3
13. Mittal, Surabhi, et. al., *Development Strategy for the Hill Districts of Uttarakhand*. Working paper 217,
14. *Indian Council for Research on International Economic Relations*, July 2008, accessed online via https://www.icrier.org/pdf/Working_Paper_217.pdf
15. *Uttarakhand Disaster, 2013*, National Institute of Disaster Management, New Delhi, 2015, p.3
16. *Official Website of Urban Development Directorate*, Government of Uttarakhand, accessed via <https://udd.uk.gov.in/>

17. Mamgain, Rajendra P, et. al., *Outmigration from Hill Region of Uttarakhand: Magnitude, Challenges and Policy Options*, accessed via http://nirdpr.org.in/nird_docs/srsc/srscrr261016-3.pdf, p.2
Ibid, pp.2-3
18. *Uttarakhand Human Development Report*, Department of Planning, Government of Uttarakhand, Institute for Human Development: Delhi, 2018, p. 133
19. *Ibid*, pp.133-34
20. *Estimates of District Domestic Product of Uttarakhand, (2011-12 to 2017-18 with Base Year, 2011 --12)*, accessed online via [https://des.uk.gov.in/files/Estimates_of_District_Domestic_Product_2011-12_to_2017-18\(Base_Year_2011-12\).pdf](https://des.uk.gov.in/files/Estimates_of_District_Domestic_Product_2011-12_to_2017-18(Base_Year_2011-12).pdf)
21. Shome, Narula P.L, et. al., *Neotectonics' activity in the Himalaya: Geology and Tectonics of the Himalayas.*, Geological survey of India, Calcutta, 1989, p. 119
22. Information accessed online via <https://www.bmtpc.org/DataFiles/CMS/file/map%20of%20india/eq-india.pdf>
23. Dasgupta, Sujit, et.al., *1803 Earthquake in Garhwal Himalaya- Archival Material with Commentary*, *Indian Journal of History of Science* 49.1 (2014), pp.23-24
24. Lawrence, Dundas Campbell, *The Asiatic Annual Register* 1804, London, 1806, p.57
25. Jain, Sudhir K., et. al., *Garhwal Earthquake of Oct. 20, 1991*, *EERI Special Earthquake Report*, *EERI Newsletter*, Vol.26, No.2, February 1992
26. *A Report of Chamoli Earthquake of March 29, 1999*, Department of Earthquake Engineering, University of Roorkee, Roorkee, 2000, pp.1-5
27. Data taken from the map provided by the IMD publication annual disaster report, accessed online via <https://imd pune.gov.in/hazardatlas/floodnew.html>
28. *India disaster Report 2013*, National Institute of Disaster Management, 2014, accessed online via <https://nidm.gov.in/PDF/pubs/India%20Disaster%20Report%202013.pdf>, p. 11
29. *Disaster Response and Management*, December 2016, Vol. 4, issue 1, Centre for Disaster Management, LBSNAA, Mussoorie, accessed online via [https://usdma.uk.gov.in/PDFFiles/Piyoosh2017\[1\].pdf](https://usdma.uk.gov.in/PDFFiles/Piyoosh2017[1].pdf), p. 43
30. *Ibid*, p.48
31. *Uttarakhand Disaster 2013*, National Institute of Disaster Management, New Delhi, 2015, pp.4-5
32. Mahapatra, S. K., et. al., *Assessment of Soil Erosion in the Fragile Himalayan Ecosystem of Uttarakhand, India using USLE and GIS for Sustainable Productivity*, *Current Science*, Vol. 115, No. 1, 10 July 2018, pp. 110-120
33. *Climate Change, Natural Disasters and Human Displacement: A UNHCR Perspective*, information accessed online via <https://www.unhcr.org/4901e81a4.pdf>, p.4
34. *India Disaster Report 2013*, op. cit., p. 11
35. *Ibid*, p. 13
36. Information accessed online via <https://www.downtoearth.org.in/coverage/natural-disasters/heavens-rage-41497>
37. Allen, S.K., et. al., *Lake Outburst and Debris Flow Disaster at Kedarnath, June 2013: Hydrometeorological Triggering and Topographic Predisposition*, information accessed online via http://www.gaphaz.org/files/publications/allen_kedarnath_glof_landslides15.pdf
38. Information accessed online via <https://economictimes.indiatimes.com/shifting-dhari-devis-shrine-near-srinagar-blamed-for-flood-tragedy/articleshow/20921399.cms?from=mdr>
39. Newspaper article on 'Uttarakhand to relocate 2400 villagers from landslide-prone areas', July 20, 2014, accessed online via <https://timesofindia.indiatimes.com/city/dehradun/ukhand-to-relocate-2400-villagers-from-landslide-prone-areas/articleshow/38752308.cms>
40. Newspaper article on 'Joshimath sinking: Panel had warned 50 years ago', December 30, 2022, accessed online via <https://timesofindia.indiatimes.com/city/dehradun/joshimath-sinking-panel-had-warned-50-years-ago/articleshow/96608800.cms>

Moksa as the Param Puruṣārtha in Indian Culture

Jai Singh

There is an old Indian saying “Prayojanamannuddiṣyamando' pi napravarttate” “All human activity is enthused; indeed, one is a fool if he has no axe to grind.” We are human beings and in Sanskrit language we are called Mānava: who does manana (thinking being). Our ancestors were very peculiarly conscious of human values. Human life can never be without aim or end. They formulated the concept of Puruṣārtha: Puruṣārthayateiti Puruṣārtha (that which is aimed by a conscious Being is called aim of life).

Puruṣārtha:

Puruṣārtha means values which are ultimately aimed by puruṣa (the conscious being). Āpastambasūtra says that these ends or ultimate goals of life are four: dharma, artha, kāma and mokṣa. These terms may be roughly rendered by 'duty or virtue', 'wealth or material well being', 'pleasure and aesthetic satisfaction of desires' and 'final release or salvation'. These four have intrinsic value in them, i.e., they are means to no other end; they are end in themselves. These are the four basic pursuits which each human search for, according to his temperament and requirement.

First Puruṣārtha is Dharma; which is the differentiating character of man from all other animals. All aspects of human life are enveloped within its character. The correct interpretation of the concept of Dharma, in its various implications, is the key to an adequate understanding and appreciation of the entire Indian tradition in Philosophy. The word Dharma, derived from the root dh- (to hold, to support, to nourish), denotes and connotes the same idea as is signified by the word law. Dharma, in its widest and correct significance, implies the attributes or qualities that indicate inseparable connections between causes and their effects. In the Vedas, the most ancient literature, the word Dharma has been understood and interpreted in this most primary sense. When looked at from the conceptual standpoint, the word Dharma simply refers to the word, law, in the Vedic tradition and it is called ṛta, and is, therefore, the forerunner of the concept of Dharma. It is the higher metaphysical truth (satyam). The absolute is viewed as Self (Puruṣa) which in its nature and function is conceived as an objective and impersonal law. It is the ground of rationale of all that happens in the moral and physical aspects of cosmos. As essentially spiritual in nature, it imparts to these two realms order as well as harmony. ṛta manifests itself in physical universe as the ground of determination of

various phenomena. In fact, the entire universe is founded on *ṛta* and moves within its parameters. In the moral sphere, *ṛta* stands for justice and truth. From the concept of the *ṛta*, Vedic tradition has developed its notions of merit (*punya*) and sin (*pāpa*). Another term used for *ṛta* in certain Upanisads is Dharma. There is nothing higher than Dharma (*Dharmātparamnāsti*). In this context, it may be mentioned that there is noble concept of Deyam (*Dadāmi Deyam*) under which Dharma is also conceived as repayment of debt (*ṛta*). It is the great ethical concept of triple debt (*ṛtatraya*). Every individual is born with the obligation to pay three debts, i.e. *devaṛta*, *ṛsiṛta* and *pitṛṛta*. Performance of Dharma implies payment of what a person owes to others and to his community. The idea behind this notion is that the cosmic order and social order need to be maintained by human effort. Every person benefits from the prevalence of these orders as it is ordained that individual ought to contribute towards the maintenance of this cosmic order. Performance of Dharma is, therefore, the form in which the contribution of an individual is made towards the sustenance of the social, natural and cosmic orders.

Dharma is the basis of the duty to make the five great sacrifices (*puncamahāyajña*) every day. Firstly there is the *brahmajajña*, which is intended mainly for the preservation of the sacred learning. Second *pitṛyajña* is dedicated to the ancestors, which plays a very significant role in Indian tradition. It serves to remind us of our part as a necessary link in the chain of historical and cultural continuity. The third *devayajña*, the sacrifice to gods, is symbolic of the recognition, with gratitude of the fact that whatever man has and does, really belongs to the God. The fourth *bhūta-yajña*, the ethical significance of the sacrifices, offered in the name of all creations of nature, *bhūta*, is indeed very great. It requires man to share his possessions with the needy fellow-beings. As a seer of *ṛgveda* says, He becomes the absolute sinner who eats by himself. (*Kevalaghobhavatikevaladi*). The same sentiment is expressed in *Bhagvadgita*: Those who cook for themselves eat in sin, and are sinful. The last *nṛ-yajña*, is the sacrifice of bread (another name for the proverbial Indian hospitality). The concept of *Yajña* is beautiful, noble and gratifying. The implication is that the man has no separate individual existence and his whole life must be a life of sacrifices and duties, if he is to fulfill the internal laws of his being. It should be mentioned that Indian tradition lays much greater emphasis on duties than on rights.

The duty has to be performed in a manner that harm to others, including nature, is avoided. Dharma is an absolute value from the standpoint of conceptual determinations. It is also a concrete and a positive reality. conceived as the unity of form and matter, of essence and being. The governing spirit of Dharma is immanent in every aspect of the universe and is the basis of harmony, order and justice. The entire universe is a living body, of which Dharma is the soul. It is the governing principle of intelligence, the sovereign law and the principal form of eternal justice. The highest compliment that one can pay to an individual, is to say, that he is a man of Dharma. It is interesting to observe that the deity symbolizing death is called *Dharmaraja* and he is the dispenser of justice, without fear or favour. The importance of Dharma can be seen by the voluminous literature in India produced over the centuries. As a result we have a very elaborate textual collection called *Dharmaśāstra*, the science of Dharma itself.

Dharma is ucita-anucitaviveka; Manu has described ten characteristics of dharma as patience, forgiveness, self-control, non-stealing, cleanliness, control over organs, benevolent intellect, spiritual knowledge, benevolent truthfulness, non-anger:

“DhritiK?amāDama?AsteyamŚoucāmīndriyanigrha?

Dhividyāsatyamakrodhoda?akam dharma lak?a?am”

Dharma of an individual is according to his var?a and āsram. Value of duty is the basis ingredient of ancient Indian social system. We never had any word for “RIGHT” but only had duty for everyone. If everyone is concerned about his own duty then there is will be no demand for rights.

The second puru?ārtha is that of Artha - wealth or material well being'. In Hindu culture money was never seen as derogatory, it was a requirement for all worldly affairs. But today everyone wants to make money and money बाप बड़ा न भैया, सबसे बड़ा रुपैया। so poet write songs like क्यूँ पैसा पैसा करती है खसे क्यूँ नहीं डरती है। पैसे की लगा दूँ डेरी.....Making money is not at all bad, but sorting of bad path for it is wrong. Problem lies in the easy money. Today the youth wants to become rich in a single day, without putting sincere efforts. Such is the magic of money that man is never content with it. न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः। His lust for money increases with money. मर्ज बढ़ता ही गया ज्यों ज्यों दवा की। We have the example of Ambani brothers. They are the richest man in India but still they know no limit; today they are arch rivals. Ratan Tata replied to a question regarding his bachelorship that, he had no time for marriage. He is so busy all the time with business that he has no time for himself or his family. Is this life! This is called निनान्वे का फेर in our tradition. One name for money is māyā, poet says

कनक कनक तौंसो गुणामादकता अधिकाय। उहिं खाय बोराय जग इहिं पाय बोराय।।

In the lustre of gold nothing else remains visible. Bhartḥari, notes that “Tribe may degenerate to any extent, virtues may degrade even farther, gentlemanliness may fall from the edge of mountain, clan may be destroyed and bravery may be eradicated, but we must be left with money because in the absence of money all these attributes become meaningless like a straw”.¹ There are four basic happiness mentioned in our tradition; first is a healthy body, second is money, third is obedient son and fourth is faithful wife.

पहला सुख निरोगी काया, दूसरा सुख पास हो माया,
तीसरा सुख पुत्र आज्ञाकारी और चौथा सुख पतिव्रता नारी।

Today's world is arthadominated. Arthaśāstra elaborates it as a dominant element: अर्थ एव प्रधानः A Man has to fulfill different duties and responsibilities in life; for this he needs money. This earning of money must be through dharma only. Normally man is eager for facilities, pleasures, money and wealth. So arthais the means for the attainment of facilities and pleasures; which is helpful in giving material pleasures and bliss to man. All the physical pleasures and wishes are covered under artha. A house hold accomplishes various religious rites and duties but by money only. It is said that artha is the highest value. Everything is dependent on it. People possessing artha can live with ease. If artha is disturbed then the dharma and kāma of a man may also get disturbed. Artha is the basis of both dharma and kāma. अर्थमूलौ धर्मकामौ।² To establish dharma artha is essential since it facilitates the duties. Chānakya feels that pleasure is based on dharma and dharmais based on artha. लक्ष्मीनिरुपेक्षितः धर्मः। धर्मस्य मूलमर्थः।³ He says, “a king should

aim at seizure of power and should not bother about fairness of means. If the ends are good, the means by which they are achieved, can never be bad, for it is the end which justify the means. On this ground, he subordinates morality (dharma) and happiness (Kāma) to power (artha), for the former cannot survive without the latter. Power is the highest goal of life.”⁴ Bhartṛhari claims that he who has riches is intelligent, virtuous, knower of Vedas, belong to a noble family, people want to see and listen to him; all attributes reside in money. यस्यास्तिवित्तं स नरः कुलीनः स पंडितः स श्रुतवान् गुणज्ञः । एव वक्ता स च दर्शनीयः सर्वगुणाः कांचनमाश्रयन्ति ।।⁵

Artha is the basis of material life hence men must secure it. Poverty is equal to death, in other words people who lack money are no good than dead.

धनमाहुः परं धर्मं धने सर्वप्रतिष्ठितम् । जीवन्ति धनिनलोके मृता ये त्वधनानराः ।।

ये धनादपकर्षन्ति नरं स्व बलमस्थिताः । ते धर्मार्थकामं च प्रविघ्नन्ति नरं च तम् ।।⁶

He who is devoid of artha is also devoid of religion because all the religious activities are possible only with money. धनात् स्रवति धर्मो हि धारणाद्वैतिनिचयः A Man devoid of money is compared to a summer river which has dried off. In the absence of artha life cycle of man is not possible. प्राणयात्रापिलोकस्य बिना ह्यर्थं न साध्याति । According to Manu the trivarga is superior; and in trivarga artha is the most importance:

धर्मार्थादुच्यते श्रेयः कामार्थो धर्म एव च । अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः ।।⁷

Kautilya writes that the “if artha is in accordance to dharma then money shows the path of pleasure but if it is against the dharma then it destroys man”:

धर्ममर्थं च कामं च प्रवर्तयति पाति च । अधर्मानर्थं विद्वानिदं शास्त्रं निहन्ति च ।।⁸

Manu held similar views that one must give up Artha and Kāma which are against Dharma. परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ । धर्मचाप्यसुखोपेतं लाके.....

The third puruṣārtha is kāmapuruṣārtha. It shows that pleasure is worth acquisition. The Mahabharata describes Kama as "sense organs with mind & heart when associated with their respective subject then from their contact, the pleasure, physical & mental is experienced is Kāma.” Vatsayana in Kāmasūtra has given two definitions of Kāma, first similar to above telling it as sāmānya Kāma,⁹ and second definition as sensuous and sexual pleasure, specifically kāma or viśesakāma. Thus the kāma could be said as representing as sexual pleasure, procreative urge, man's appetites, aesthetic enjoyment and all the pleasures derived from mental faculty. However, in general the very first meaning associated with kāma is 'to desire', as we look in to Sanskrit origination as - 'Kāmyate itikāma'. As a matter of fact this lies in the root of any activity. Even it has been understood as the first cause of creation.¹⁰

Desire is a prime psychological fact. We desire for things, but only desire cannot produce result or object; for this we require to have a kind of mean to fulfill or actualize it and here the relation of artha and kāma becomes evident. Kāma is considered as an end value. Now one may think to fulfill that desire or that kāma, which is against the welfare of others, for example, one person may desire another person to be his servant forever. So under the realm of kāma the nature of desire or kāmanā can be infinite and even against the person itself because the kāma as delirious cupidity when pursued with single devotion makes the agent headless to profit and pain and at the peak of it the

agent loses all the sense of proportions and balance. Therefore, here comes the need for the higher guiding principles, which can obviate and adjudicate the conflict among the desires or we can say as which can guide or regulate the kāma. For the purpose of this, Indian thinkers conceived dharma.

The puruārthakāma is one of the building blocks of sa? sāra, and is as lasting or astransient as sa? sāra itself. kāma is to be conquered by those who seek liberation, but is an important aspect of life for those who are in sa? sāra. Indian tradition sees kāma not only as an act of coitus but as a mode of experience in diverse and different sensibilia. Something seemingly innocuous like the act of remembering/recollection itself is reminiscent of kāma because the Sanskrit word for recollection and remembrance is smara?a. Its etymological root is smara, which is a synonym of kāma. Hence, kāma embraces not just physicality but a world view which one assumes at all times. Which is why kāma has been declared as one of the four puru?ārtha, the other three being dharma, artha and moksha. Kāma has been explained with great depth and perspicacity in classical Sanskrit and Prakrit literature. The entire weltanschauung of temporal life seems to hinge on it.

Kāma is ordinarily termed as pleasure. The definition of pleasure in kāmāsūtra is the following: “kāma is the enjoyment of the appropriate objects by the five senses of hearing, feeling, seeing, tasting and smelling, assisted by the mind together with the soul.” The urge to enjoy pleasures and satisfy desires, is the most powerful and as an incentive to individual progress, most effective. It is said, “All that man does is inspired by kāma.” As Manu regarded kāmā's desire, one can say, it is a desire for pleasure. It can be sensuous pleasure, mental pleasure getting through satisfaction of the work, urge for sexual pleasure, etc. Every one is seeking that, which gives them pleasure and luxuries of life.

Kāma is the most Basic Instinct; that sacred thing which is the seed of the whole creation. It is most sublime and sweetest feeling which is rare to be found in purity (ahaituki). It has been praised even in the Mahābhārata whereby it is said that “the sages can't do away with the god love. If they kill him i.e. give away all the feelings, wishes etc. i.e. dharma, artha and kāma, then also he will keep subsisting as kāma for mok?a i.e. mumuk?ā.”

Yomā? prayatatehantummo?amāsthāyapa?dita? I

Tasyamo?aratisthāsyant?yāmicahasāmicaII¹¹

Union with the beloved (पिया से मिलन) is the penultimate aim of life where worldly or divine. Divine Kāma is not derogatory; it is blissful, miraculous, but uncommon.

Why we seek sensual gratification! Why is kāma so pleasing? Actually our aim is ānanda and not sukha. Through sensual gratification we seek pleasure which is short lived, temporary and shadow of the permanent, immortal ānanda of the Self. It's just like the drop of water which originates from ocean and falls on Himalaya and through river, after a long journey it is eager to meet its source, ocean. Similarly it is search of the Self by the Self; and no worldly pleasure can satiate it. The Ultimate desire which brings contentment is union with the beloved; this is equally true in both worldly and transcendental sense. Hence saints have compared sexual pleasure with Brahmānanda.

Sensual pleasures hints towards the immortal, permanent perennial bliss of Brahmanānda. Śrī Raman Maha?si noted that even the path of Knowledge is based on love since one seeks after only that that he loves. So if one wants self-realization then it is because he loves himself ātmarati.

Of the four puru?ārthas dharam, artha and kāma are known to be the prav?timārga (the path of indulgence) and the mok?hais called as niv?timārga (the path of renunciation). Among the three puru?ārthas of prav?timārgakāmapuru?ārtha is designated the lowest stature by the intelligentsia. To acquire pleasure and comforts in life is not irreligious as majority of religions propound today. According to them only a sacrificing person, who is detached from worldly, mundane pleasure is fit to attain perfection and supreme state. This is but a false notion, for all the great spiritual giants of the bygone times always gave a prominent place to pleasures and rich comforts in their lives, along with meditation, worship and sādhanās. They have always maintained that only through a perfect equilibrium between materialism and spiritualism can a person attain totality.

Human beings are the most evolved species because we are endowed with intellect; we are contemplative in nature. Human beings have a default setting for hunting after the superior goals. Hindu culture accepts two forms of 'gati' (the course of the soul through numerous forms of life) ūrdhwagati (rising socially or spiritually) and adhogati (downfall). Men always strive for ūrdhwagati. The Indian sages gave us a value system or aims of life known as 'puru?ārtha' defined as 'puru?a?arth yteiti puru?ārtha' that which is aimed by a conscious being. They gave fourfold values Dharma, Artha, āma and Mok?a. The first three symbolize social culture and the last is personal culture. These represent two paths of Pravritti (outward or social contemplation) and Nivritti (inward contemplation); the other name for them is Preyas and Śreyas paths. under the sway of preyas- things that bring prosperity, pleasure, power and glory to life. Souls incarnate many times in order to acquire and enjoy these pleasures.

The Katha Upanishad tells us that The Self-existent pierced the senses outward, and so one looks outward and not within oneself. Some wise man, however, seeking immortality, and turning his eyes inward, sees the inner Self. The ignorant pursue outward pleasures, they walk into the wide-spread net of death. The wise, however, recognizing eternal life, do not seek the constant among inconstant things.¹² The Kathopanishad speaks of the two-fold path available to mankind, namely, the worldly, Preyas and the spiritual, Śreyas. The path of worldly enjoyment is also known as the Pravrittimārga. It is very easy to get hooked to this path for seeking material gains that are no doubt pleasurable. But our sense of discrimination will tell us that these gains are not only fleeting and unsubstantial, but also pull one into the cycle of birth. So the other choice is to tread the path of realization or the Nivrittimārga. The focus now shifts to welfare of the ātmā and not the body. Realization is reached through renunciation and Nachiketas symbolises discrimination that chooses Śreyas— that which is good and the right. He rejects Preyas though this appears pleasurable and sweet. Actually, this two-fold path becomes the means to attain the end, salvation. Preyas gradually leads to Śreyas when one learns to mentally renounce its attractions. The result of this choice made with determination is permanent. This inspires one to practice moral values which bring about

chittasuddhi. It is shown that the Absolute Brahman is realized only when there is purity in one's thought, word and deed. The success of the result depends on the extent of effort expended.

First is the worldly path of Dharma (duties), Artha (wealth or material wellbeing) and Kāma (pleasure and aesthetic satisfaction of desire); the second is the path of renunciation and efforts for self realization and realization of God Mokṣa (final release or salvation). The first three are indicative of indulgence and the last represents non attachment. Our saints and philosophers find the second to be the ultimate aim of life (parampuruṣārtha). This is evident in almost all of the Indian Philosophical schools. Great Śaṅkrācārya disclosed that everything is common, what are rare are three: Human birth, wish for salvation and enlightened master¹³. Perfection of human life is realization of Self which is also known as Mokṣa in Indian Philosophy.

Department of Philosophy
MMV, BHU, Varanasi - 221005

References :

1. जातिर्यातुरसातलंगुणगणैस्तत्रप्यथो, शीलं शैलतटात् पतत्वभिजनः सन्दह्यतां वह्निना ।
शौर्वैरिणिवज्रमाशुनिपतत्वर्थोऽस्तु नः केवलं, येनैकेन विनागुणास्तृणलवप्रायाः समस्ता इमे ।।
ŚatakTrayam of Bhartṛhari, Ed. D.D. Kosambi, Bhartiya Vidya Bhavan, Bombay, 1946, I.31, p.18
2. Kautilya: Arthaśāstra, sūtra 91.
3. Kautilya: Arthaśāstra, sūtra 2
4. Gupta, Shanti Nath: The Indian Concept of Values, Delhi: Manohar 1978, p.51-52
5. ŚatakTrayam of Bhartṛhari, Ed. D.D. Kosambi, Bhartiya Vidya Bhavan, Bombay, 1946, I.32, p.19
6. Kautilya: Arthaśāstra, sūtra 537
7. Manu smṛiti: p. 2/224
8. Kautilya: Arthaśāstra, p.672
9. "Srotravakcakshurjivhaghranamatmasaumkatenmanasadhisthit anamsvesu svesuvisa yesu an u kulatahpravrttikamah". - Kamasutram I.2.11-12
10. saekakinaramate,soakamayataekoahambahusyaimi"- Brhadaranyaka Upanisada. I.4.3.
11. Mahābhārata: Aśvamedha Parvam, Chapter, 13
12. Kathopnishad IV.ii. 1. & 2.
13. Vivekachudamani I.iii

Family Matters : Changing Paradigms of Care for the Disabled

Biswajit Sarkar, Vipin Kumar Singh

Introduction

Disability has been understood by scholars as a socio-cultural construct over an Impairment or lack of body parts in the human body. Disability invokes adverse emotions in non-disabled persons, and it is perceived as a negative event or occurrence in the family. When a family member has been born with an impairment or might have acquired it accidentally or with the normal ageing process, the incident has been seen as a misfortune upon the family that brings sudden responsibilities upon other family members. These responsibilities may differ based on the severity of the impairment. But with time the responsibilities of caring for an impaired person frustrate the caregivers as this job remains a voluntary and unpaid one that does not produce any return. Thus, disabled persons are thought of as burdens on the family that everyone seems to be shifting to others and getting rid of it. Still, there is a significant number of families who look after their disabled family members despite the hardships like socio-economic problems that occur from time to time. In these families, generally, it comes upon the women in the family and not on men. So, this care giving job seems to be gender biased. This paper aims to delve deep into the issue of looking after an impaired person which is seen as a burden and locate the changing paradigms of this care giving job concerning Rohinton Mistry's novel *Family Matters* (2002).

Janice McLaughlin points out some difficulties that families with disabled members face in his article "Understanding Disabled Families: Replacing Tales of Burden with Ties of Interdependency". According to her, the economic hurdles are – "the extra costs of looking after"; "the removal of family members from the labour force to provide care"; "the lack of sufficient benefits for those unable to work due to disability" (403). Besides these, some societal barriers like – "getting appropriate support from formal services" are faced by the family with a disabled member (403). Whereas Kenneth I. Pakenham thinks that caring for a disabled family member impacts adversely children and adolescents or young minds. Besides, unpaid caregiving and labour force play a vital role in society and many young caregivers have to compromise for that. According to him:

Research into parents with disabilities and their children has been criticised for perpetrating a view of parents with disability as incapable and their children as victims. An alternative view proposed by the disability rights perspectives is that with relevant resources and supports, parental disability in and of itself need not present a significant risk factor. Indeed, parents with disability have been shown to develop parenting practices that help overcome some of the challenges they face.(42)

So, it can be understood that having a disabled family member may bring some hurdles upon the non-disabled family members, but it also teaches and inculcates some humane qualities in them.

In his third novel *Family Matters*, Rohinton Mistry deals with an old man Nariman Vakeel and his suffering from Parkinson's disease which is "a neuro degenerative disorder that affects predominately dopamine-producing ("dopaminergic") neurons in a specific area of the brain called substantianigra". "People with PD may experience Tremor, Bradykinesia (slowness of movement), Limb rigidity, Gait and balance problems" ("What Is Parkinson's?"). Nariman suffers from the said conditions and has problems that occur due to osteoporosis, and Parkinson's disease like difficulty in walking and performing daily activities. On the eve of his Seventy-ninth birthday, Nariman goes out for an evening walk as usual just like "a stubborn child" despite the constant discouragement from his step children Coomy and Jal (Mistry 4). He returns home "with abrasions on his elbow and forearm, and a limp. He had fallen while crossing the lane outside Chateau Felicity" (6). According to Nariman, Coomy is exaggerating the incident by showing the smear on his shirt which he thinks he has just tripped on something and twisted his foot a little. After this incident, Coomy warns her stepfather against going out of the house alone that Jal also agrees.

This fear of Coomy becomes true some days after his seventy-ninth birthday of Nariman as two people from the ration shop carried him home. They inform Jal and Coomy that Nariman fell into a "khadda" dug by a telephone company. Nariman feels pain as he thinks that his ankle may have broken. He is already suffering from Parkinson's disease and osteoporosis, and now his broken ankle just adds to his misery. Jal and Coomy decide to take him to Parsi General Hospital to visit Dr. Tarapore, their regular doctor. Dr. Tarapore confirms that Nariman has broken his ankle by seeing the X-ray and "consulted with a specialist, for the fracture was complicated by osteoporosis and Parkinsonism. Surgery was ruled out. Nariman's left leg was encased in plaster of Paris from his thigh down to his toes" (52). Rangrajan, an assistant questions how this misfortune has taken place, and that reveals the prevalent notion about disability in society which is thought of as a curse, a stigma, and a sin done in the past birth.

At home, caring for Nariman falls mostly on Coomy and partly on Jal. They arrange for the necessary items like a commode, bedpan, and other staff to help him stay in the bed for four weeks as per the advice of the doctor. Nariman feels uneasy with the idea that he has become a burden on his stepchildren and comforts them by saying "Whatever is most convenient for you is fine with me. I'm such a burden already" (62). This uneasiness keeps on growing as Jal and Coomy struggle to manage their stepfather and caring for him becomes a troublesome job. Even Phoola, their maid complains about the smell and unhygienic state of the room of Nariman. She informs Coomy – "You see,

bai? I cannot work in that smell. I am not a mahetrani who cleans toilets and goo-mooter” (76). Phoola asks her to pay the salary and she will quit their job. After this incident, everything falls upon Coomy to look after Nariman and perform the household work that broke her down and leading her to comment– “no one has helped me all this time, not you, not Roxana, not Yezad. Now ... I don't know ... it's so depressing, and difficult ...” (77).

This frustrating outburst of Coomy makes Nariman realize his condition and one night when he was shivering and wishes the fan to be off but does not dare to call for help as he thought that “he was at their mercy for everything” (81). He is also aware that “they were fed up with the work, with him, with his being alive” (81). This feeling of being a burden on his children keeps Nariman unhappy and when Dr. Tarapore examines him at home and advises them to keep him pleased as he is depressed. Coomy took the advice seriously as she wanted to get rid of the burden and suggested moving him to Roxana and Yezad's flat at Pleasant Villa as their company keeps Nariman happy along with their two kids Jehangir and Murad. For Jal, talking to Roxana about keeping their father with her for four weeks was a “horrible thing” (101). They tried to convince Roxana by emphasising the words of Dr. Tarapore about depression and keeping him happy for which they were here. Roxana cannot stand against the moral lecture of Coomy and agrees to keep her father with her. Coomy brought her stepfather's bedpan, urinal, and suitcase from the ambulance, and “before leaving, they explained the medicines for Parkinson's disease, osteoporosis, and hypotension” (108).

Roxana and Yezad become infuriated by the act done by her stepbrother and stepsister, Jal and Coomy. Roxana has determined that “not a hair of the routine that gave him so much joy would be allowed to change” (119). Nariman upholds Jal and Coomy for their act of “dumping” him at Pleasant Villa (121). He thinks that they cannot cope with the situation and according to him “this was a way out. For successful dumping, advance notice is unadvisable. Remember that, both of you, when you want to return me to Chateau Felicity” (121). Yezad resists this funny remark from his father-in-law and boosted his morale to be fit soon. Nariman realizes that this act of shifting to Roxana's house by his stepchildren has been done forcefully and he remarked “How can you force people? Can caring and concern be made compulsory? Either it resides in the heart, or nowhere” (121).

The difference in mentality, compassion, and caring between the minds of Jal and Coomy; and Roxana and Yezad is clearly visible in their acts. Roxana and Yezad along with their children welcome Nariman to stay with them for three weeks and remain hopeful that they will manage with him and that he will be fine after the period. On the other hand, Jal and Coomy have a big flat consisting of seven bedrooms and some savings from their mother to run the house, yet they are unable to cope with the situation they had with Nariman and shift him to Roxana's house. After one week, Coomy got the idea that looking after Nariman at home will come upon her and it keeps on bothering her, and without any maid or Jal's help, it is an impossible job for her. So, she makes a plot in which they will announce at the hospital that misfortune has fallen upon them as the water tank has burst to devastate the rooms except for their mother's room. However, Jal thinks that this idea is “deceitful”, “so destructive”, and “so extreme” that he suggested

her not execute it (175). Coomy convinced him stating that their stepfather is never going to be better and attain his own nature calls and asks him whether he will clean the bedpan and toilet the next day. Although, Jal thinks that it will remain in their conscience that they have done wrong to their stepfather. But he cannot stand before Coomy's yelling and goes to Edul Munshi to borrow a hammer with which they will ruin the plaster of the rooms to meet their plot. Jal feels hesitant and sighs to hammer around the rooms and create the mess that Coomy wants, so "he continued, creating holes and cracks in the ceiling" (180).

After that, Jal and Coomy arrive at the hospital and Coomy broke the news of misfortune to Roxana and their father that "the big water tank on the terrace burst" and "the ceiling collapsed" (183). Coomy keeps on hoping that this news will keep Nariman away from home and she does not have to take the burden. But Nariman ignores the news in complete disbelief and wishes to go back home. Roxana again tries to convince her father to go with her when Coomy assures them that she will send the pension money for Nariman's expenses. The financial condition of the Chenoy family has been suffering to make up all the ends, and the pension money Roxana receives from Coomy falls short to buy the pills for their father. Roxana has to cut her budget from food to buy the pills. Yezad becomes frustrated with the burden that he must undertake as the head of the family to earn and run the house. He breaks down morally, and mentally which leads to gambling on 'matka' at Villie's flat, and even tricking his employer Mr. Kapur bribing the actors performing as Shiv Sena workers hired by him. They give threats to change the title of the shop from "Bombay Sporting Good Emporium" to "Mumbai Sporting Good Emporium", but it does not pay off as the original workers from the party visit and later stab Mr. Kapur. He fails to make money from both attempts and at last finds solace in visiting a fire-temple and praying.

Five years later, Jehangir in the Epilogue of the novel mentions the incidents that follow the death of Coomy and Yezad losing his job. Nariman dies one year after they return to Chateau Felicity and this arrival seems profitable for him as Jehangir thinks it may have made him alone in his own room. They have also hired a hospital ayah to look after him, but Nariman remains unhappy as he does not feel comfortable with the ayah and "began to cry, No ayah! Please, no ayah" (468). Despite instructions from Roxana, the ayah named Rekha skips steps and deals with Nariman in an unhygienic, and rough way that makes Roxana angry. They dismiss Rekha after two months and replace her with a ward boy namely Mahesh who seems to be a gentle fellow. Roxana likes the way Mahesh treats her father especially "the delicate ways he applied ointment to the two bedsores" (469). According to Roxana, the bedsores form during the appointment of the careless woman Rekha. Jehangir has been able to see through the silence that his grandfather maintains and can feel the sadness and wishes if he can have screamed.

Scholars in the field of Disability studies write about this issue of caring for the disabled and guide towards a positive dimension of caring and interdependency of caregiver and the cared for. Rukmini Sen in her article "Reimagining Kinship in Disability-specific Domesticity: Legal Understanding of Care and Companionship" cites the Rights of Persons with Disabilities Act, 2016, and Mental Healthcare Bill, 2016 to find out that the bills are in contrast when it comes to the definition of a caregiver

(403). The first bill takes the caregiver as someone who may and may not live with the disabled person. Whereas the second bill emphasises that the caregiver must reside with the disabled person. Sencan see “a shift from the 'naturalness' of care, to be provided usually by women of the family within the domesticity to 'skilled' care to be also offered by women inside the familial space” (401-402). So, it can be understood that caring is a job done mostly by the women in the family but now there is a change in the mindset of the families and caregiving is becoming a professional job done by skilled persons.

Similarly, Upali Chakravarti thinks that women are thought of as natural caregivers in family and public spheres also, in her article “Ethics and Practice of Care: A Focus on Disability”. According to her, women choose occupations of caregiving “because their natures and their intertwined capacities for caring for and caring about are thought to suit them well for those types of jobs” (173). Whereas, for men “the entanglement of caring for and caring about does not, broadly speaking, exist. Men, it is recognized, can care about, without being expected to care for. The man is expected to provide the setting within which the provision of care may take place, and the finances for it, if he has no wife” (174). In the novel *Family Matters*, Rohinton Mistry discusses these issues elaborately showing every little aspect of having a disabled family member, caregiving, and the feeling of burden to perform as a caregiver. Coomy and Roxana, Nariman's daughters are the first persons who cared for him when he becomes disabled. Later, the family hires Rekha, an ayah to look after him at home. This is in accordance with the societal perspective, and the novel criticises the ideology behind this thought process which seems to be gender biased as discussed earlier. Towards the ending of the novel, Mistry envisions the idea of caregiving and reconstructs it by replacing the ayah with a ward boy Mahesh as the male nurse. Thus, Mistry advocates for a change that needs to be done in society to come out of the gender bias regarding caregiving.

Conclusion -

In the novel, Jal and Coomy's father Palonji Contractor suffers from chronic pleurisy for which he is mostly bedridden. Pakenham's observation that parents' disability affects their children adversely can be seen in the novel as Jal and Coomy struggle to cope with their life and ends up achieving almost nothing. Similarly, Nariman also becomes disabled as he ages and it affects the lives of Roxana, Yezad, and their two children Murad and Jehangir, besides, Jal and Coomy. Coomy tries to shift the burden of caring to Roxana and plots with Jal that at last takes her own life. Jehangir half willingly takes bribes from his classmates to mark their attendance in the home task record. Yezad tries his luck at gambling and tricks Mr. Kapur only to be unsuccessful. Roxana and Jal suffer psychologically and try to help their disabled parents sacrificing their own interests. Thus, having a disabled family member affects other non-disabled members psychologically, physically, and socio-economically.

On the other hand, if a family thinks of keeping their elders with a disability in some institutions for the aged, and avoiding the burden by just financing for them, scholars like Christine Bigby observe that aged care facilities should be avoided as they are below the standards of the disability system (Bigby435). Further, she suggests developing an atmosphere where the disabled can contribute their part and society should change its attitude towards disability care. Similarly, Janice McLaughlin also

propagates the idea of interdependency among disabled and their non-disabled caregivers. Although, caring for a disabled person, in general, is a tough task performed either by family members or by hiring a nurse. The caring job falls primarily on the women of the family and the nurse hired for the job is generally a female as they are thought to be inborn caregivers. As a profession, any man or woman can undertake the job of caregiving but there remains a question of how convincingly and whole heartedly a man will perform the task of caregiving. The paper thus studies various theories and the novel *Family Matters* by Rohinton Mistry and concludes that caregiving is important and inseparable part of a family with a disabled family member. Caregiving should not be a burden but a voluntary job that must be performed from within. The non-disabled family members may provide care to disabled members, and an interdependence can prevail between them. In most cases, the disabled are the old persons in the family, and they can be engaged with the kids and may provide moral support to the young family members.

Department of English
Central University of South Bihar, Gaya

Department of English
Central University of South Bihar, Gaya

References :

- Mistry, Rohinton. *Family Matters*. Faber and Faber, 2002.
- "What Is Parkinson's?". *Parkinson's Foundation*, accessed 08 Jul. 22, <https://www.parkinson.org/understanding-parkinsons/what-is-parkinsons>.
- Chakravarti, Upali. "Ethics and Practice of Care: A Focus on Disability". *Disability in South Asia: Knowledge and Experience*, Edited by Anita Ghai, Sage Publications, 2018, pp. 172-187.
- Pakenham, Kenneth I.. "Children Who care for Their Parents: The Impact of Parental Disability on the Young Minds". *Disabilities: Insights from across Fields and around the World (Part 2 – The Context: Environmental, Social, and Cultural Considerations)*, Edited by Marshall et. al., Praeger Perspectives, 2009, pp. 39-60.
- Janice McLaughlin. "Understanding Disabled Families: Replacing Tales of Burden with Ties of Interdependency". *Routledge Handbook of Disability Studies*, Edited by Watson et. al., Routledge, 2012, pp. 402-413.
- Bigby, Christine. "I Hope He Dies Before Me': Unravelling the debates about ageing and people with intellectual disability". *Routledge Handbook of Disability Studies*, Edited by Watson et. al., Routledge, 2012, pp. 426-439.
- Sen, Rukmini. "Reimagining Kinship in Disability-specific Domesticity: Legal Understanding of Care and Companionship". *Disability in South Asia: Knowledge and Experience*, Edited by Anita Ghai, Sage Publications, 2018, pp. 403-411.

Genesis and Journey of NCC as General Elective Credit Course (GECC) in HEIs of India : A Path breaking Step Aligned with NEP-2020

Dharmendra Kumar Sarraf

Introduction - India is a multi-cultural, multi-racial, multilingual and multi-religious country with dominating cultures and religions of Hindus, Muslims, Christians, Sikhs, Jains and Parses. The religion has played a system of exploitation and has worked an obstructive role to develop nationalism. It is now believed that religion is a private and individual affair and not should be integrated with political affairs of any state. Perhaps this is the probable cause to adopt secularism in constitution by most of the advanced democratic states. Presently, India is a youngest and biggest democratic nation among all the political states of world adopted secularism as national ideals to make unity in diversity. All the nation faces many challenges in nation building due to internal political pressures and external forces of conflicts. The youth of any nation are backbone and most powerful motive for shaping and grooming the future and destiny of the nation. Youth have the power to change the government as per need of the nation and builds political, economic and social orders of the country. Before and after the independence, the youth of India face greater challenges in nation building and developing nationalism. The youth have catalytic power and functions to play as an effective role of leader in all the aspects of life because young men and women have reservoir of unbounded energy and enthusiasm to accept all the challenges faced by the nation. The energies, skills, talents of youth should be put to best use for common good of country. For developing India as a power, the youth of India can and ought to play a leading role to bring together the people of different states having diverse religions and integrate them emotionally, culturally and geographically to infuse the spirit of patriotism. To fulfill these requirements, India has many youth organizations to meet the goals of nation building like Nehru Yuva Kendra Sangathan(NYKS), National Service Scheme (NSS), Scouts and Guides, National Youth Club, and National Cadet Corps (NCC) etc.

Genesis of National Cadet Corps - Initially, NCC was founded as 'University Corps' ('UC') created under Indian Defense Act, 1917 to fill the shortage in army and to make university corps more attractive to the youth it became 'University Training Corps' ('UTC') after the passing of Indian Territorial Act in 1920. The 'UTC' was re-designated

as 'University Officers Training Corps' ('UOTC') by British Government in year 1942 and can be considered as precursor for establishment of National Cadet Corps and can be considered as significant step towards establishment of Indian Armed Forces . The establishment of 'UOTC' by the Britishers in India was aimed for to create a trained man power far acting as second line of defense and to make available trained youth for employment in armed forces but could not fulfill the expectations of Britishers during World War- II. Just after independence, a Cadet Corps Committee was established on 29 September, 1946 headed by Pandit Hriday Nath Kunzru and the committee recommended to establish cadet organization in schools and colleges to train more young citizens not only for war but even during peace. On the recommendation of Kunzru committee, Soldier Youth Foundation Act was accepted on 15 July, 1950 by the Governor General of India. Initially only male cadets(called senior division) were trained with solitary army wing of training curriculum. Later on, female cadets (called senior wing) were imparting the training from the year 1949 and training of air wing was included in year 1950 and their after naval wing training was adopted in year 1952. At present NCC training offers students (both male and female) of schools and colleges to join the basic training of armed forces including tri-services called Army, Navy and Air Force. NCC recruits volunteer cadets from high schools, senior secondary, colleges and universities including boys and girls both across the India. The training curriculum of NCC includes common and special subjects and revised time to time as per the need of the nation. The motto of NCC is 'Unity and Discipline' (एकता और अनुशासन).

Historical Role of NCC - NCC played a very immense role during the wars and peace. During the wars with Pakistan in year 1965 and 1971, the NCC cadets were acted as second line of defense. They were actively participated and assisted in many functions of armed forces of India like organizing the camps to assist the ordinance factories, supplying clothing, arms and ammunition to the front line of army and were also used as members of patrolling parties to capture the enemy paratroopers. During the peace the NCC cadets also acted as hand in hand with the local and civil defense authorities and actively involved in rescue and traffic control etc. In the year 1963, NCC training was made compulsory for college and university students of India but due to constrains of budget this scheme was withdrawn by the government in the year 1968. Later the then president of India, Dr. A.P.J. Abdul Kalam had well stated while addressing the cadets on 04 November, 2004 at New Delhi, “...in my view, NCC training must be made compulsory for all eligible students....at the school or college level”. After the Indo-Pak wars of 1965 and 1971 the curriculum of NCC was revised and NCC curriculum laid a greater stress on developing characters, leadership and Officer-like qualities among the cadets of senior division and senior wing.

In India, NCC is youth wing of Indian Armed Forces functioning under the Ministry of Defense, GoI (Gazette of India, 1961) and is the largest volunteer youth organization of the world initiated with about 20,000 strength of volunteer cadets to huge size of more than 14 lakhs volunteer cadets under total 899 NCC units of army (with 777 units), naval (with 61 units) and air wing (with 61 units) at present across the India (ANO Handbook, page 5 n.d.) which is now sanctioned by volunteer cadet strength of 15 lakhs in the year 2020. Recently it offers to states of remote and coastal regions of India with further increasing strength. Presently NCC is offered by 16,288 institutions having pan-

India presence in 703 out of 716 districts of India and more than 8,000 institutions are wait listed (Vashisht, 2019). Actually, NCC is functioning under the control of both central and state governments of India for developing and grooming the Indian youth. Recently, NCC is also available in some institutions on the basis of Fully Self-Finance Scheme (FSFS) for allocation of additional one lakh strength of cadets to both junior and senior categories with the essence of expansion of NCC at no extra cost to government.

Training Opportunities in NCC to Develop Soft and Hard Skills- The NCC training exposes the cadets both towards institutional training and camp training. The institutional training includes common subjects conducted by Associate NCC Officers (ANOs) and special subjects conducted by Permanent Instructor Staffs (PI Staffs). Whereas the camp training includes Centrally Organized Camps (COCs) conducted by different NCC directorates like Youth Exchange Programme (YEP), Republic Day Camp (RDC), Prime Minister Rally (PM Rally), ThalSainik Camp (TSC), Nau Sainik Camp (NSC), Vayu Sainik Camp (VSC), Advance Leadership Camp (ALC), Basic Leadership Camp (BLC), and Combined Annual Training Camp (CATC) conducted by different NCC groups and NCC units, adventure training such as para selling, para jump, trekking, mountaineering, sea and river sailing expeditions, defense force attachment camps like attachment with army, Indian military academy, naval ship and air force stations and many social service and community development activities. During the COVID-19 pandemic NCC also shifted its training towards online mode and cadets are trained with induction of training simulators for firing as well as flying and cadre camps was being organized as these camps are mandatory requirements for appearing in certificate examinations.

After completing the NCC training the cadets are equipped with both hard and soft skills. The NCC curriculum inculcates national integration by developing good character, leadership, self-less service, sacrifice, self-discipline, national pride, patriotism, secular outlook, comradeship, spirit of adventure and sportsmanship among the cadets. The NCC training develops conflict management skills especially collaborating&accommodating style of conflict management among the cadets . On the other hand, the cadets are also trained with different special military subjects like drill, weapon training, map reading, field craft and battle craft, communication procedure etc. in spite of these, NCC curriculum is also now espouses social service and community development as an important component which develops self-concept among the cadets . Therefore, NCC is acted with aims to create a pool of organized, motivated and trained youth qualities of leadership in all the field of life to serve the nation and ultimately promotes national integration. The great nationwide network of NCC can inculcate discipline and strengthen the unity among the youth of Northeast states of India by strengthening the togetherness and nationalism through combined annual training camps and Ek Bharat Shreshth Bharat (EBSB) camps as exposing the youth to the various cultures of the Northeast. The development of trust and faith among cadets, narrate a picture of better and united India. In the near future, the NCC cadets may eradicate economic strife, local ethnic violence and regional underdevelopment which remain the main challenge of governance in the region today. Every year about six lakh senior division and senior wing cadets pass out with certificates of 'B' and/or 'C' but a few

thousands of them successfully join the central and state government services, armed forces, and other private sectors. The rest trained citizens also have potentiality of nation building but not properly utilized, this is primarily and probably due to absence of established machinery to tap the trained potential of these cadets .

Nature and Importance of Choice Based Credit System (CBCS) –The CBCS is internationally accepted student-centered system of learning, teaching and assessment. Under this pattern of study, students have opportunity to choose subject/s as per her/his choice of interests and aims just like a cafeteria approach. It is different from the conventional system of assessment which marks but CBCS pattern of assessment provides grading system of evaluation in semester-based examinations. It provides the opportunities to the students to move across the HEIs with uniform grading system of evaluation. The performance of students under study is computed under Semester Grade Point Average (SGPA) and Cumulative Grade Point Average (CGPA) in place of conventional marks or percentage of marks. It allows the flexibility in Indian higher educational institutions to choose interdisciplinary, interdisciplinary and skill-based course to the students. The CBCS pattern of study offers opportunities to study core subjects and elective subjects for holistic development of students as the ultimate goal of education. UGC has already proposed CBCS based curriculum for most of the undergraduate subjects running under Indian HEIs aligned with the aims and guidelines of NEP-2020.

Nature and Importance of Elective Course – The minimum course curriculum provided by UGC for undergraduate programmes under CBCS offers three types of courses namely Core Course (CC), Ability Enhancement Course (AEC) and Elective Course (EC). The core courses are compulsory to be studied by the students as core necessities. The ability enhancement courses are based upon content that leads to enhancement of knowledge of the students. Ability enhancement courses are further subdivided into Ability Enhancement Compulsory Course (AECC) and Skill Enhancement Course (SEC). The elective courses are very specific or specialized or advanced or supportive to the discipline or subject of study providing an extended scope or exposes towards other discipline or subject or domain of study to nurture the proficiency or skill of students to be opted. It is further subdivided into Discipline Specific Elective Course (DSEC), Generic Elective Course (GEC) and dissertation / project. The NCC is now proposed by UGC under general elective course to be opted by students of undergraduate level studying in different HEIs across the India. Actually, its nature is open for all to be chosen by the students studying in undergraduate classes belonging to any discipline of study.

NCC as General Elective Credit Course – The National Education Policy-2020 make efforts to set many restructuring in all the arena and levels of education. In this regard, UGC has now implemented NCC as a curricular activity regardless extra or co-curricular as earlier. In the year 2013 UGC has issued directions for sanctioning to introduce NCC as an elective course with credit points in the selected higher educational institutions including autonomous colleges from the session 2013-14. Same initiatives were also taken at school level also and before May, 2016, total 55 colleges and 17 schools affiliated to Central Board of Secondary Education has already been offered NCC as

elective subject for the students but state education boards did not respond promptly for which proposal have been send to the state education departments through NCC state directorates for their consideration.

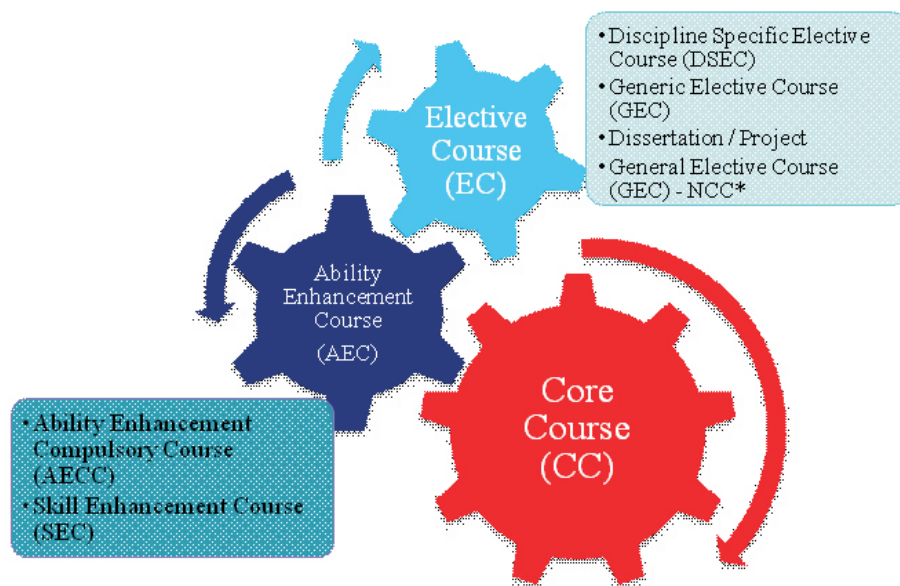


Figure 1- Showing the Status of NCC under Types of Courses Offered by HEIs of India under CBCS at Undergraduate Programmes of Study Proposed by UGC

After the due consideration by Ministry of Education (then Ministry of Human Resource Development), a draft order via letter number D.O.No.F.14-25/2016(CP-II) dated 11 November, 2016 was circulated to all the Indian universities and higher educational institutions to implement NCC as elective subject for the paramount interest of nation and the students in the year 2016. Finally, on 15 April, 2021 UGC has issued a draft order via letter number D.O.No.1-18/2019 (CP-II) to all the Vice-chancellors of the Indian universities to take active consideration and appropriate action for including NCC as elective subject among the Indian universities. In the same letter, the broad course structure of NCC proposed by Director General, National cadet Corps (DGNCC), New Delhi was also supplied to the universities for providing smooth, nation-wide, uniform and implementable design of action.

Basic Features of Proposed Course of NCC – The major high lights of the course structure proposed by DG NCC are as follows –

- The proposed course is aligned with guidelines set by NEP-2020 under CBCS of study framework.
- Now under the proposed scheme of study the NCC becomes curricular and academic activity rather than extra or co-curricular activity along with precious 'B' and 'C' certificates.
- The introduced NCC general elective credit course advocates not to exceed the current intake strength of cadets including private institutions allotted with NCC as FSFS.

- The proposed course strengthens the standards of NCC training with more accountability of students (cadets) and teachers (Associate NCC Officers) having NCC training programmes.
- The proposal urges to the Rashtriya Uchcha Shiksha Abhiyan (RUSA) Officers in states and Nodal Officers of certain central universities are appointed to facilitate the implementation of NCC as GECC.

Brief Outline of the Course Structure for NCC as Elective Subject –The course structure of NCC is prepared by DG NCC in light of requirements of NEP-2020. All the training programmes including theory and practical subjects to be taught during both institutional and camp training schedules are also prepared under CBCS as proposed by NEP-2020 for other curricular subjects and named it as GECC. The training programmes of NCC are divided total into six (I-VI) semesters under three years of course of study. Each semester has allocated with certain credit (hours of instructions) points under theory classes, practical classes and camp activities. The semester I and II each have only theory and practical credits of each with 1 (one) credit point and devoid of camp activities. The semester III and V each also have 1 (one) credit point each for theory and practical classes along with 5 (five) credit points for camp activities in both the semesters. Whereas, the IV and VI semesters each are supplied with 2 (two) credit points of theory and 1 (one) credit point of practical classes. The semester IV and V also have no camp activities. The whole course of study total two camps will be conducted. The credits points (5) of first camp will be merged with semester III and the credit points (5) of second and last camp will be merged with semester V of the NCC curriculum. Therefore, total credits for the course will be 24 divided into 8 credits of theory, 6 credits of practical and 10 credits of camp activities. The semester wise total distribution of credit points of NCC is represented in the table given below –

Table 1- Summary of Semester wise Credit Points Distribution of Institutional and Camp Training Programmes of NCC as General Elective Credit Course (GECC)

Semester	Institutional Training		Outdoor Training	Total Credit Points
	Theory	Practical	NCC Camp	
Semester I	01	01	Nil	02
Semester II	01	01	Nil	02
Semester III	01	01	05	07
Semester IV	02	01	Nil	03
Semester V	01	01	05	07
Semester VI	02	01	Nil	03
Six Semesters	08	06	10	24

Therefore, total credit points for the course will be 24 divided into 8 credit points of theory, 6 credit points of practical and 1 credit points of NCC camp activities.

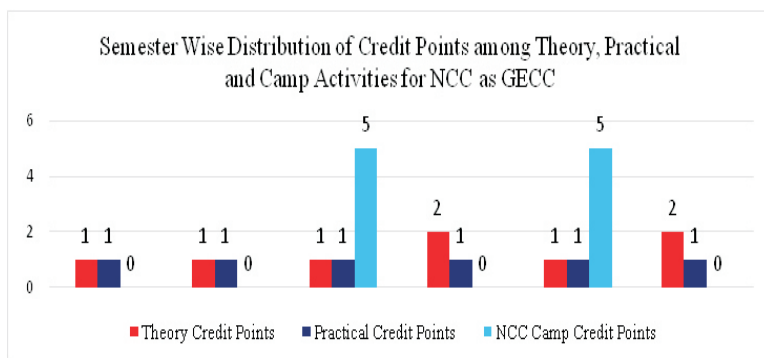


Figure 2 - Showing Semester Wise Distribution of Credit Points among Theory, Practical and Camp Activities for NCC as GECC

The credit points of NCC as GECC as proposed by DG NCC are divided over six semesters of study into institutional training of 120 periods for theory (including common and special subjects both) and 180 periods of practical comprising total 300 periods excluding the NCC camp duration. The NCC camp training is divided over two semesters (IV and V) with 60 periods of theory (common and special subjects) and 18 periods of practical classes. The NCC camp training comprises of total 240 periods. Therefore, six semesters of NCC as GECC includes total 540 periods of training with theory, practical and NCC camp activities.

Table 2 - Distribution of Theory and Practical Classes under Common, Specialized and NCC Camps

Subjects	Theory	Practical	Total
Common Subjects	82	128	210
Specialized Subjects	38	52	90
NCC Camp Training	$56^* + 4^{**} = 60$	$138^* + 42^{**} = 180$	$194^* + 46^{**} = 240$
Total	180	360	540

*Theory Classes during NCC Camp (CATC), ** Practical Classes during NCC Camp (CATC)

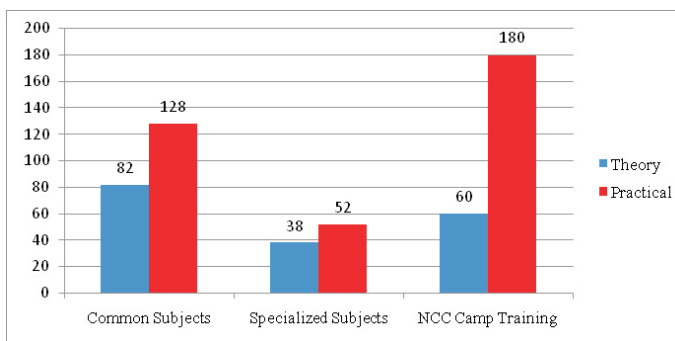


Figure 3 - Distribution of Theory and Practical Classes among Common Subjects, Specialized Subjects and NCC Camp Training

Learning Outcomes of the NCC as GECC – The learning outcomes of the NCC as GECC are broadly categorized into institutional training outcomes and non-institutional training outcomes depending on the nature of training. The institutional training is further subdivided into parades to be conducted through-out the academic sessions and non-institutional training is conducted during the camp activities to be conducted as outdoor training as CATC in the semester III and V and other also as per detainment of the cadet/s during the academic session. Both the trainings have different objectives and outcomes during full course of the study.

(i) Objectives of Institutional Training – The institutional trainings will be conducted within the institution in form of parades including classes of theory and practical both. The theory classes include common subjects whereas practical classes are supplied specialized subjects of military or armed forces. The institutional training covers aims of molding young cadets into disciplined and responsible citizens. The NCC GECC aimed to achieve following learning objectives under institutional training during full six semester of the study –

- To create interest among the students to join NCC to provide them excitement and element of thrill as supports by institutional training.
- To enrich the knowledge of cadets and grooming their personality.
- To develop character, leadership, comradeship, discipline, secular outlook, spirit of adventure and sportsmanship and ideals of selfless service among cadets.
- To develop team spirit by honing qualities of dignity of labor, self-confidence, self-reliance, and self-discipline among the youth of India.
- To conduct social and community development programmes to educate and aware the society towards social evils.
- To inculcate the ethos of defense services having hard work, punctuality, seniority and honesty etc. among the cadets.
- To create pooled organized, disciplined, motivated and trained youth in all the aspects of life with leadership qualities to serve the nation.
- To motivate the Indian youngsters to choose Indian Armed Forces by providing them conducive environment.

(ii) Objectives of Non-institutional Training – The non-institutional training of NCC GECC will be conducted outside the institution in form of camps. It will focus mainly on outdoor activities. the camp activities are mainly emphasized on practical aspects of training. There will be many centrally organized and locally organized camps. At least one Combined Annual Training Camp (CATC) of ten days duration will be mandatory for appearing in the respective 'B' certificate (after completing two years of training) and 'C' certificate (after completion of three years of training) examinations. There will be more opportunities to attend other camps to be held as per the schedule of DG NCC and depending on the caliber of the cadet. The non-institutional training will aim to achieve the following objectives –

- To acquaint the cadets with military routine and regimented way of life of the armed forces.

- To provide the opportunity to improve mental and physical endurance with high pace of activities.
- To achieve obstacle training, physical fitness, physical training, yoga, and games.
- To trained the cadets in drill, weapon training, map reading, field craft and battle craft, personality development, cultural activities etc.
- To provide opportunity of firing with weapons.
- To trained the cadets in naval orientation, naval communication, navigation, seamanship, ship and boat modeling and swimming military history etc.

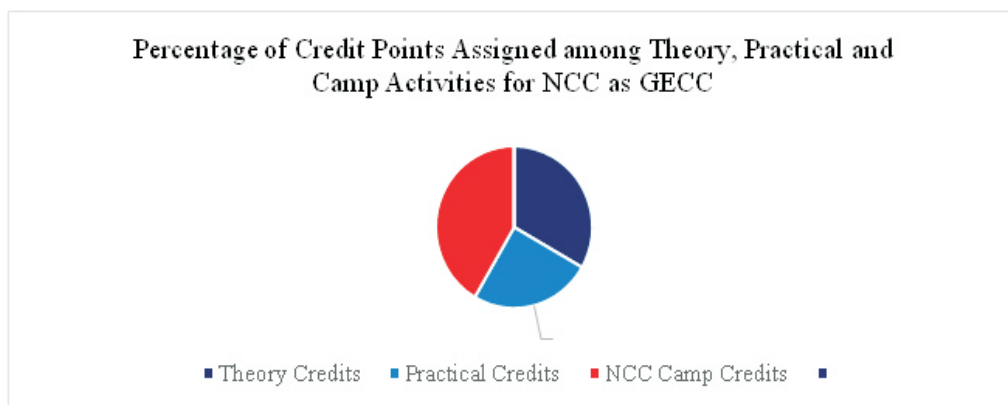


Figure 4 - Showing the Distribution of Credit Points among Theory, Practical and Camp Activities for NCC as GECC

Issues in Implementing NCC as GECC – The DG NCC, New Delhi has provided a deep, extensive and through proposal of course structure for uniform implementation of NCC as GECC in higher educational institutions under the pattern of CBCS and aligned with NEP-2020. The efforts made by DG NCC through the proposal is very appreciable but at the same time it will raise some important issues and challenges to be resolved by the concern HEIs alone and it is also highlighted in the said proposal to engage the respective NCC Directorates along with Universities and HEIs to suggest modalities of implementation. The implementation will require additional revisions within the HEIs also. It will be challenge for the institution as well as NCC organization regarding assigning course coordinators, setting of question papers, conduction of examination, reflection of marks at the mark sheets / certificates of cadets etc. These issues may be categorized under academic issues and resource issues.

1. Academic Issues for Implementation –Prior to the implementation of NCC as GECC, the sole responsibility of academics and curriculum were being taken by DG NCC. Now, NCC becomes curricular activity and it requires involvement of different sections of HEIs to suggest the modalities for the implementation. The major issues under academics are discussed below –

a. Faculty / School and Department – Each subject of study in the HEIs functions under a department falling under certain faculty or school of discipline headed by concern Deans of the Faculty / School and Head of Departments. The deans and head of

departments are responsible for the academic and administrative related works. But at present NCC do not have any department as such however Associate NCC Officers (ANOs) are responsible for control and command of the cadets and for other administrative works within the HEIs under the headship of Commanding Officers (COs)/ Officer Commanding (OCs) of the respective NCC units.

b. Board of Studies – As each subject of study in HEIs has its own Board of Studies with internal and external members for proper functioning of the department and resolving the academic related issues. But at present neither BoS nor their expert members are available which may cause problems related to paper setting, assessment etc. to reflect the credit points on the mark sheet / certificate of the concern cadet.

c. Time Table – In the HEIs, time table is a serious issue to conduct the theory (common and specialized subjects) and practical classes of NCC as GECC. As NCC as GECC will be offered as open elective course to the cadets registered / enrolled in different departments also and the time table can clash with the other subjects of study. It requires separate and free time slot within the time table of the institution to be conducted for the cadets registered / enrolled in different disciplines.

d. Classrooms – For conducting the theory classes of common and special subjects of NCC as GECC at a time, at least three classrooms will be required with facilities of LCD and other ICT tools to achieve the learning outcomes of institutional training of I, II and III year of training programmes.

e. Semester Examinations – As per the ordinance of the certain HEIs, there will be internal assessment (of 25 or 30 or 40 marks) in form of Mid-I, Mid-II assessment and End semester examinations (of 75 or 70 or 60 marks) for each and every subject of study or may be any other pattern followed by the institution. It will require to adopt the evaluation scheme of NCC as GECC as per the ordinance of the HEIs

f. B' and 'C' Certificate Examinations– In the previous years the certificate examinations of 'B' and 'C' were being conducted by the NCC Group Headquarters and NCC Directorates respectively. The proposal provided by DG NCC mentioned to conduct NCC certificate examinations by the NCC Organization. Total eight (6 semester + 2 certificate) examinations will be given by the cadets to pass the NCC as GECC and for getting 'B' and 'C' certificates. Whether curriculum for semester and certificate examinations are same but separate examinations will be conducted by two bodies separately. It is an extra burden over the cadets to get prestigious certificates of NCC.

2. Issues of Resources for Implementation – As in the previous years the physical resources are mainly provided by the NCC organization and institution was provide only the human resource in form of ANOs. After the implementation of NCC as GECC it will necessitate above discussed requirements. The following resources will be required to fulfill the above additional necessities.

a. Building for NCC Department and Other Office Resources – As discussed above, in light of the proposal received by DG NCC, the NCC will now function just like a department as the other departments of study within the HEIs. The requirements of building and other office resources will depend on the sanctioned strength of cadets and ANOs. Among office resources at least two office staffs, one of them with knowledge of accounting and computer will be required to facilitate the smooth functioning of office works of NCC.

b. NCC Parade Ground and Firing Range – To conduct the practical classes of institutional training i.e. parades like drill, weapon training, field craft & battle craft, communication procedure and map reading a parade ground will be required. The firing is also a compulsory event of NCC training and it will require a short firing range within the institution.

c. NCC Camp Site Allocation – The camp training programme of NCC as GECC requires CATCamp, conducted by the concerned NCC unit in each year of training schedule and is mandatory to appear the cadet in their respective examinations of 'B' and 'C' certificates. The NCC unit prefers to conduct the camp within the premises of the campus of the HEIs and it can be allotted to conduct the camps in the campus to motivate the other students of the institution for joining NCC voluntarily.

Suggestions and Resolution – To resolve the above issues and overcome the challenges of implementation of NCC as GECC following suggestions and resolutions can be made –

- For the smooth functioning of NCC activities a Department of National Cadet Corps should be created in each and every HEIs having NCC units and senior Associate NCC Officers (ANOs) should be appointed as the head of the department and for other administrative works.
- As like other subjects and disciplines a Board of Study with internal and external members should be constituted by the institution for proper functioning of the department and resolving the academic related issues. The BoS will be responsible for academic related matters of NCC. Tentatively, at present the course structure proposed by DG NCC should be passed as such by each BoS functioning under the HEIs and further amendments will be carried out the constituted BoS for the NCC.
- Separate and free time slot within the time table of the institution should be made available for NCC cadets also registered / enrolled in different disciplines of study.
- For conducting the theory classes of common and special subjects of NCC as GECC at a time, at least three classrooms with facilities of LCD and other ICT tools should be provided to achieve the learning outcomes of institutional training of I, II and III year of training programmes.
- For conducting the semester examinations, the HEIs should adopt the assessment procedure for NCC as GECC also as per their ordinance as applied for other subject of study. It will require to inform the adopted evaluation scheme as per the ordinance of HEIs to DG NCC as the proposal of course structure for NCC as GECC provided by DG NCC mentioned it clearly.
- The proposal provided by DG NCC for implementation of NCC as GECC clearly mentioned to conduct NCC 'B' and 'C' certificate examinations by the NCC organization as earlier. The extra burden over the cadets to get prestigious certificates of NCC should be overcome by reducing the coordinating with NCC organization.
- The issues of resources for implementation of NCC as GECC should be resolved in step-by-step time frame by providing the building for NCC department,

physical and human resources, parade ground and firing range within the campus of HEIs.

- The NCC camp training programme of NCC as GECC requires camp location site. The NCC unit prefers to conduct the NCC camp within the premises of the campus of the HEIs and it should also be allotted to conduct the NCC camps in the campus to motivate the other students of the institution for joining NCC voluntarily.

Conclusion – The NCC is largest volunteer youth organization of the world and one of the most important youth organizations in India to groom their career and ultimately built the national integration. The history of NCC suggests that it worked very effectively in war as well as in peace. The unique features of its training make it different from the other youth organizations functioning within the country. Previously, the syllabus of NCC was revised time to time as per the need of the nation. The current step of revision in the syllabus makes it extra/co-curricular to curricular. The NCC as GECC is a path breaking step taken by the UGC in alignment with the NEP-2020. Although there are many issues and challenges to implement it within the colleges, universities and other HEIs but at the same time clear vision and powerful will make it easier to implement. The suggested measures in this article will make it easier to implement effectively.

Department of Education
Dr. Harisingh Gour Vishwavidyalaya,
Sagar – 470003 (M.P.)

References :

- GENESIS | National Cadet Corps | India. (n.d.). Retrieved April 10, 2022, from <https://indiancc.nic.in/genesis/>
- Jain, R., & Kumar, S. (2021). National Cadet Corps (NCC): Its Role in Integrating North Eastern Region (NER) with Mainstream India. *Indian Journal of Public Administration*, 67(1), 71–86. <https://doi.org/10.1177/00195561211006558>
- Ma, H. K. (2012). Social Competence as a Positive Youth Development Construct: A Conceptual Review. *The Scientific World Journal*, 2012, 1–7. <https://doi.org/10.1100/2012/287472>
- M.Ed.Student,N.S.S.Training College,Ottapalam, T. P, D., & Rajagopalan, Dr. K. (2014). Self Concept In Relation To Participation in National Cadet Corps (NCC) Among Arts and Science College Students under Calicut University. *IOSR Journal of Research & Method in Education (IOSRJRME)*, 4(4), 01–04. <https://doi.org/10.9790/7388-04420104>
- Morg, B. S. Z. (n.d.). {dgrflrd qsl qri, =r{ffi-ttoooz. 24.
- Sarkar, D. U., & Margaj, S. M. (2015). Role of National Cadet Corps in Developing Soft Skills among Youth in India. 6(11), 4.
- Vyas, A. (2017). EFFECT OF NCC TRAINING ON CONFLICT MANAGEMENT SKILL OF NAVAL WING NCC CADETS UNDER NCC GROUP, VADODARA. *Scholarly Research Journal for Interdisciplinary Studies*, 15.
- Indrabalan, M. (2021). Repositioning National Cadet Corps to Drive Youth Development and Social Change. Vivekanand International Foundation, New Delhi. Retrieved April, 24, 2022, from <https://www.vifindia.org/sites/default/files/Repositioning-National-Cadet-Corps-to-Drive-Youth-Development-and-Social-Change.pdf>
- Sanjay Kumar (2019). *Youth in India Aspirations, Attitudes, Anxieties*. Rutledge India.
- UGC (2018). *Minimum Course Curriculum for Undergraduate Courses Under Choice Based*

Credit System. Retrieved April, 24, 2022, from Microsoft Word - Guidelines for MINIMUM COURSE CURRICULUM FOR UNDERGRADUATE COURSES UNDER CHOICE BASED CREDIT SYSTEM ACCORDING (ugc.ac.in)

Vashisht, V. (2019). Youth Development through National Cadet Corps. Vivekanand International Foundation, New Delhi. Retrieved April, 24, 2022, from <https://www.vifindia.org/sites/default/files/youth-development-through-national-cadet-corps.pdf>

NCC Act 1948 and Rules, Retrieved April, 21, 2022, from <https://indiancc.nic.in/document-category/ncc-act/>

Size and Spacing of Rural Settlements in Singrauli District, Madhya Pradesh

Pawan Kumar Sharma, Kaluram Chouhan

Introduction

Settlements are places where people live and work, and their patterns can vary depending on factors such as geography, culture, and history. Rural settlements can be classified into different types based on their shape, internal structure, and street texture, and they can be clustered or dispersed (Mather, 1944). The layout of rural settlements can be affected by various factors such as accessibility, availability of resources, and cultural and historical significance (Ibrahim et al., 2016). The study of settlements has been an important aspect of human geography since the earliest periods in human history (Jackson, 2019). Settlements have evolved over time, and today, the study of settlements is an interdisciplinary field that draws on literature from multiple disciplines to describe the distinct features of humans and human societies (Bettencourt et al., 2017). Settlements play a crucial role in the social, economic, and cultural development of a region (Chen et al., 2020), and the spatial analysis of settlements can provide valuable insights into the factors that influence their distribution and can aid in the planning and development of the region (Mitra et al., 2019).

Rural settlements are an essential component of the Indian landscape, and their spatial pattern plays a crucial role in shaping the socio-economic and environmental conditions of the region. Singrauli District in Madhya Pradesh, a predominantly rural area, has undergone significant changes in recent years due to the development of coal mines, power plants, and other infrastructure projects. These changes have profoundly impacted the spatial distribution of rural settlements in the district. Therefore, it is essential to analyze the spatial pattern of rural settlements in the Singrauli District to understand the factors that influence their size and spacing. The uneven distribution of rural settlements in Singrauli District, combined with the rapid growth of industrial development, has raised concerns about the sustainability and livability of rural communities in the region. Rural areas' lack of adequate infrastructure, services, and employment opportunities has also led to migration to urban centres, exacerbating the urban-rural divide. Understanding the spatial pattern of rural settlements in Singrauli District and the factors that influence their distribution is crucial for informing rural

development policies and planning efforts that promote sustainable and equitable rural development.

Rural settlement size, population, and density are highly correlated with settlement spacing, with decreasing village density occurring as the distance between settlements increases. Rural villages vary in size and proximity because of the many environmental factors (Mandal, 2001). Factors such as land fertility, crop productivity, crop type, water distribution, population density, settlement type, and mode of living influence the covariance of spacing of rural settlements (Mukherjee, 1970). Rural settlement spacing depends on agricultural prosperity, surface relief of the land, and the historical perspective of the area, with settlements being the densest where the greatest agricultural prosperity is found (Mandal, 2001). The spacing of rural settlements is related to the need for settlers to occupy a particular area and to make optimum use of available space, with the best spacing implying that inhabitants use settlements efficiently and with the least effort (Sing, 2007). The current spacing of settlements is the result of dynamic dynamics, not a static phenomenon. The packing theory, which studies the packing of things in various dimensions, is also related to spacing (Sing, 2007). Various physical, cultural, and historical factors, either in isolation or combined, contribute to the creation of a rural landscape (Mandal, 2001). The size and spacing of rural settlements are important factors that influence the distribution pattern of settlements (Maurya, 2014). The spacing of rural settlements is influenced by a number of factors, including the fertility of the soil, the productivity of agriculture, the availability of water, and the size and density of the rural population (Mukherjee, 1969). In India, variables like floods, the soil's natural fertility, and the surface's layout affect the size and spacing of rural villages (Mandal, 2001).

The size of rural settlements is larger in fertile soils, plain topography, and agriculturally productive regions. On the other hand, in mountainous regions, the size of rural settlements is smaller, and the inter-village distances are higher (Sen, 2012). Agriculture is the primary economic activity in rural settlements, and it plays a crucial role in determining the population size, areal size, and spacing of rural settlements (Patil et al., 2019). The agricultural productivity of land, irrigation facilities, amount of rainfall, and development of other social amenities such as schools, colleges, hospitals, railway stations, bus stops, etc., are also important factors in determining the size and spacing of rural settlements (Mishra and Singh, 2019). The morphology of Indian villages, including their outer shape and internal structure, is also an important factor in determining the size and spacing of rural settlements (Pradhan, 2017). Rural morphological patterns of settlements or villages are represented by the concrete expression of human activity in space, and the social and structural morphology is part of the internal morphology of rural settlements (Singh, 1994). The socio-economic activity is high in the central portion of villages, where the landlords and upper caste reside, while the peripheral areas are occupied by the lower caste and agricultural labourers (Khullar, 2018).

The primary objective of this study is to provide a detailed analysis of the size and spacing patterns of rural settlements in the Singrauli District and to identify the factors that shape these patterns. By doing so, the study aims to contribute to a better

understanding of the rural settlement dynamics in the district and to inform the development of evidence-based policies and programs aimed at improving the lives of rural residents.

Study Area

Singrauli District is located in the northern part of Madhya Pradesh, India, and covers an area of approximately 5,672 square kilometers. The district is situated between 23.67° to 24.20° North latitude and 81.05° to 82.22° East longitude. It is bordered by the Sonbhadra district of Uttar Pradesh to the north and the Sidhi district of Madhya Pradesh to the south. The district is primarily rural, with agriculture being the main source of livelihood for the majority of the population. The region is rich in natural resources, with coal mining being a major industry in the area. Other industries in the district include power plants, aluminium smelting, and cement manufacturing (Districts of India; Singrauli.nic.in).

Singrauli District is divided into three community development blocks Chitrangi, Deosar and Singrauli and six tehsils (administrative subdivisions): Chitrangi, Deosar, Mada, Singrauli, Sarai, and Waidhan. There are 727 inhabited and 17 uninhabited/forest villages out of 744 villages in the study area. Singrauli District has a population of 1,178,273, with a rural population of 979,652 and an urban population of 198,621. The district has a sex ratio of 920 females for every 1000 males and a literacy rate of 62.36%. The district is home to a diverse population of tribal communities, including Gonds, Kol, and Baiga (Census of India, 2011).

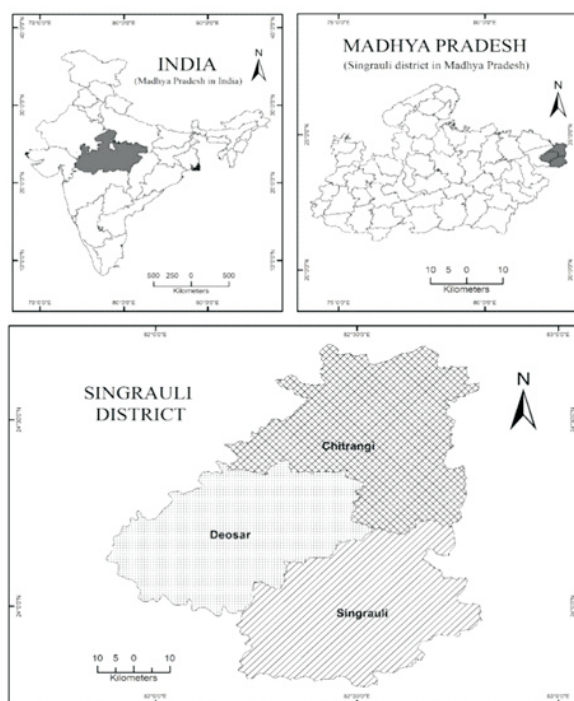


Fig.1. Location map of Singrauli district

Data Sources and Methodology

The data for this study was sourced from the Census of India 2011, which provides comprehensive information about the demographic and socio-economic characteristics of the population, as well as detailed data on the distribution and size of rural settlements in the Singrauli district. In addition, satellite imagery and remote sensing data were used to extract information about the spatial pattern of settlements in the district.

The data were processed to identify the average areal size of each village, the average population size per village, the relative spacing of villages, and village density using the following formulas

- Average areal size of the settlements (Maurya, 2014)

$$\text{Average areal size of settlement} = \frac{\sum RP}{N}$$

Where, **RP**=Total rural area of the region, **N**=Total number of settlements

- Average size of population per settlement (Mandal, 2001)

$$S = \frac{P}{N}$$

Where, **S**= Average size of population per settlement, **P**=Rural population of the region, **N**= Number of villages in the region

- Relative spacing of settlements (Mather, 1944)

$$D = 1.0746 \sqrt{\frac{A}{N}}$$

Where, **D**= Relative spacing, **A**= Total area of the region, **N**= Number of Settlement in a given area, 1.0746= Spacing Constant

Result and Discussion

Size of Rural Settlements

The size of a settlement refers to the number of people living in a particular area or community. Settlements can range in size from small, isolated communities with only a few people to large cities with millions of inhabitants. The size of a settlement has various implications, such as the availability of resources, the level of infrastructure, the degree of social interaction, and the extent of economic activity. Settlement size is often used as a criterion for the classification of urban and rural areas, with specific thresholds being used to differentiate between these types of settlements. It is classified in terms of area and in terms of population.

- ***In terms of Area (km²)***

The size of a settlement in terms of area refers to the physical land area that it covers. Settlements can range in size from tiny hamlets covering just a few acres to sprawling megacities that span hundreds of square miles. The district is primarily rural, with a few small towns scattered throughout the area. The district covers an area of approximately 5,672 square kilometers, with much of the land being used for agricultural purposes. The majority of the population lives in rural areas, with only a small percentage residing in urban centers. As a result, rural settlements in Singrauli district cover a significant portion of the total land area.

The size of rural settlements in the Singrauli district can range from small, isolated hamlets to larger villages and towns. In general, the larger settlements are located in areas with more fertile land and access to water sources, such as rivers or reservoirs. These larger settlements often serve as economic and social hubs for the surrounding smaller settlements, providing services and employment opportunities. However, there are also remote rural areas in the Singrauli district that are sparsely populated, with settlements consisting of only a few households. These areas are often more difficult to access and may lack basic amenities like electricity, clean water, and healthcare facilities.

The rural settlements in the Singrauli district are classified into four categories based on their area size. These categories are very small areal-size settlements ($< 1.69 \text{ km}^2$), small areal-size settlements ($1.70 - 1.99 \text{ km}^2$), medium areal-size settlements ($2.00 - 2.49 \text{ km}^2$), and large areal-size settlements ($> 2.50 \text{ km}^2$) (Fig. 2). In the Singrauli district, the Deosar community development block has the largest area per settlement, with an average of 4.95 km^2 . On the other hand, the Singrauli and Chitrangi community development blocks have an average area per settlement of 3.94 sq. km .

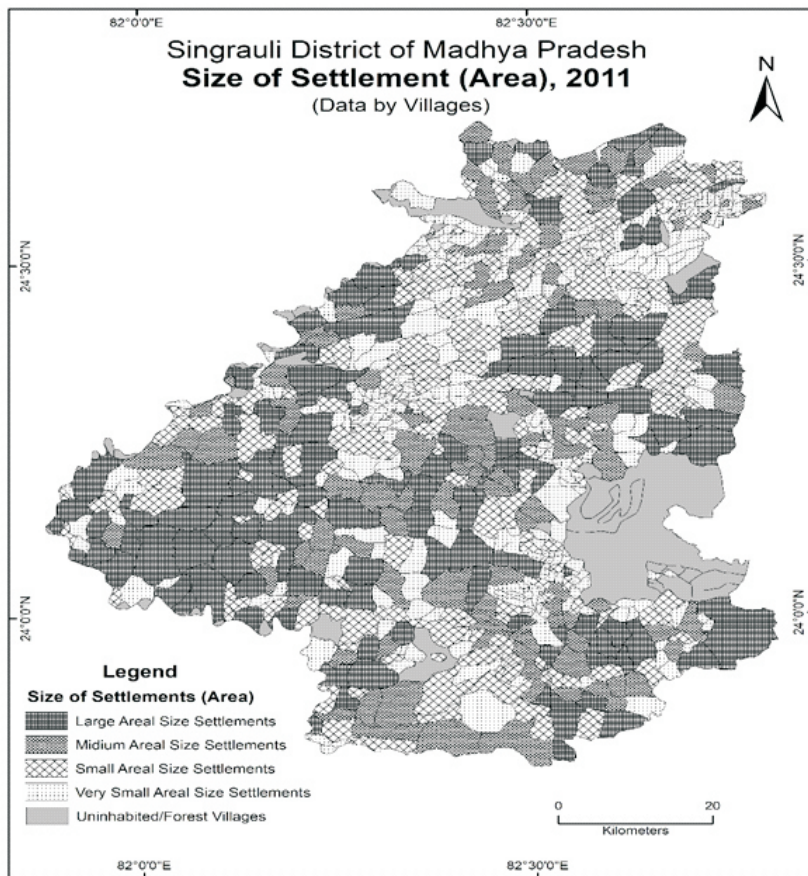


Fig. 2. Size of settlement in terms of area

The very small areal size settlements are generally small and have limited space for expansion and growth. These settlements are often located in hilly or mountainous regions, where the terrain limits the available land for settlement. In the Singrauli district, it is likely that settlements with very less areal sizes are located in the hilly areas of the district. The small areal size settlements are also relatively small, but they may have some scope for growth and expansion.

Table 1: Size (in terms of area and population) of rural settlements

District	Community Development Block	Average Area Per Settlement (sq. km)	Average Population per Settlement
Singrauli	Deosar	4.95	1415
	Chitrangi	3.94	1130
	Singrauli	3.94	1456

These settlements may be located in relatively flat areas with limited available land, or in areas with other constraints such as proximity to water sources or transportation infrastructure. The medium areal size settlements have more space for growth and development and may have a more diverse range of economic and social activities. These settlements are likely to be located in relatively flat areas with good access to transportation infrastructure and other resources. The large areal size settlements have the most space for growth and development and are likely to be important centers of economic and social activity in the district. These settlements may serve as administrative or commercial centers for the surrounding area and may have a diverse range of economic and social activities.

● ***In terms of Population***

The size of a settlement is often measured in terms of its population. The size of a settlement in terms of population can vary depending on factors such as geography, culture, and history. The population size of rural settlements is an important factor in determining the social and economic characteristics of the rural population. It is closely related to the size of the settlement area, the density of the settlement, and the level of economic development. The classification of rural settlements based on population size provides useful information for planning and development activities in rural areas.

The population size of rural settlements is classified into four categories (Fig. 3). The first category is "very small villages" with a population of less than 500. These villages typically have a small number of households and are often dependent on agriculture and allied activities for their livelihoods. The second category is "small villages" with a population between 500 and 2000. These villages are slightly larger than the very small villages and may have some basic infrastructure such as schools, health centers, and local markets. The third category is "medium villages" with a population between 2000 and 4999. These villages have more infrastructure than the small villages and may have some access to transportation and communication networks.

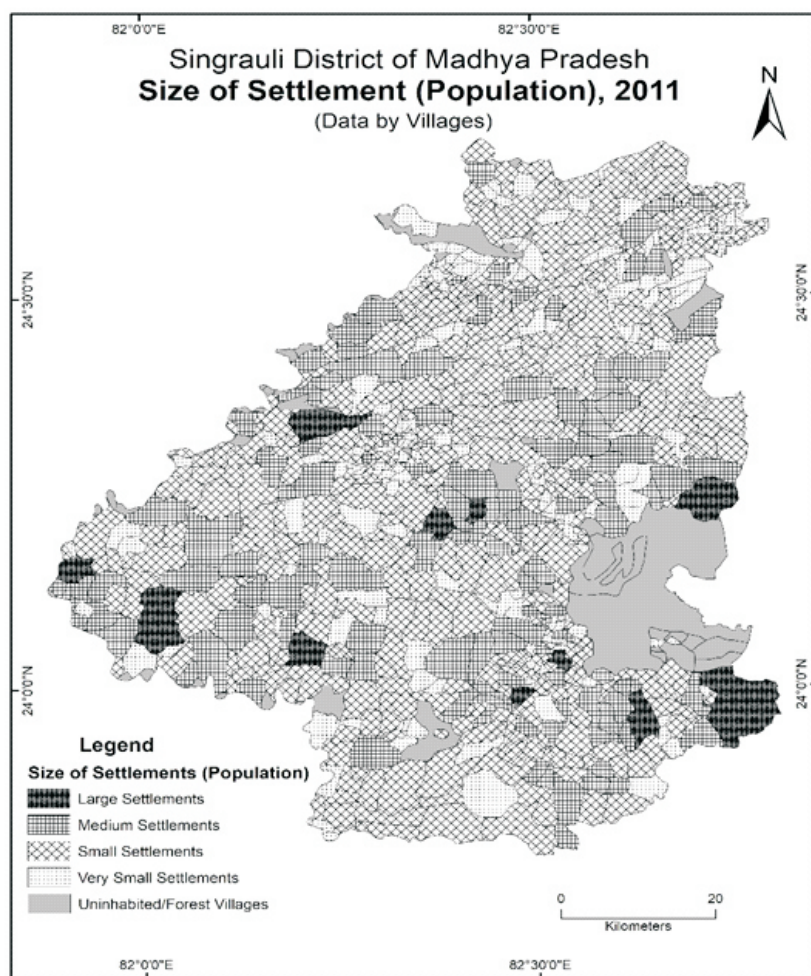


Fig. 3. Size of settlements in terms of population

The fourth and largest category is "large villages" with a population of more than 5000. These villages are the most developed in terms of infrastructure and services and may have some level of urbanization with small-scale industries, markets, and other facilities.

Table 2: Number and percentage of Settlement in Population Range, Singrauli district (Block wise)

CD Block	<200		200-499		500-999		1000-1999		2000-4999		5000>	
	No.	%	No.	%	No.	%	No.	%	No.	%	No.	%
Chitrangi	35	12	60	20	73	24	94	31	41	13	1	0
Deosar	23	11	26	12	55	25	63	29	45	21	7	3
Singrauli	12	6	28	14	43	21	73	36	44	22	4	2
Total	70	10	114	16	171	24	230	32	130	18	12	2

The number and percentage of villages in each population range in the district are shown in table 2 for CD blocks individually. Out of the total of 727 inhabited villages, 70 (10%) are small-sized settlements with fewer than 200 residents. There are 114 villages in the size category of 200–499 residents, making up 16% of the district's villages, while there are 171 villages in the class of 500–999 residents, making up 24% of all villages. 130 villages (18%) and 230 villages (32%) are in the size classes of 1000–1999 and 2000–4999, respectively. There are 12 villages (2% of all villages) in the size range of 5000 to 9999, but there are no villages in the 10000 resident range.

Spacing of Rural Settlements

The spacing of rural settlements refers to the distance between two or more settlements in a rural area. It is an important aspect of rural geography that affects the distribution, density, and size of settlements, which in turn impacts the socio-economic development of the area. If the spacing of rural settlements is too high, it may lead to the isolation of villages, lack of access to basic amenities like healthcare and education, and poor communication and transportation facilities. On the other hand, if the spacing of rural settlements is too low, it may lead to overpopulation, increased pressure on the available resources, and environmental degradation.

The spacing of rural settlements is determined by various factors, including the nature of the terrain, the availability of water, the fertility of the soil, the mode of living, and the size and density of the rural population. In areas where the soil is fertile, plain land is available, and various types of resources are available like irrigation, transport, etc., the area is familiar for a higher number of villages and inter-village distance is less. On the contrary, the number of villages is less, and low village density is found in unfertile soil and less productive areas. The spacing of rural settlements also depends on the configuration of the surface and the effects of floods. In mountainous regions, due to undulating topography, the size of villages is small, and inter-village distances are also high.

Table 3: Mean Spacing of settlements

Block	Area (sq. km)	No. of settlement	Mean Spacing (km)
Chitrangi	1202.29	305	2.14
Deosar	1112.88	225	2.39
Singrauli	842.55	214	2.13

The spacing of rural settlements in the Singrauli district can be classified into four categories: very low spacing, low spacing, moderate spacing, and high spacing (Fig. 4). The spacing is determined by calculating the average distance between neighbouring settlements in each block. The very Low Spacing (<1.40 km) category includes blocks where the average distance between neighbouring settlements is less than 1.40 km. The low Spacing (1.40 -1.59 km) category includes blocks where the average distance between neighbouring settlements ranges from 1.40 to 1.59 km. The moderate Spacing (1.60 – 1.79 km) category includes blocks where the average distance between neighbouring settlements ranges from 1.60 to 1.79 km. Singrauli and Chitrangi blocks fall into this category, with mean spacings of 2.13 km and 2.14 km, respectively (Table 3).

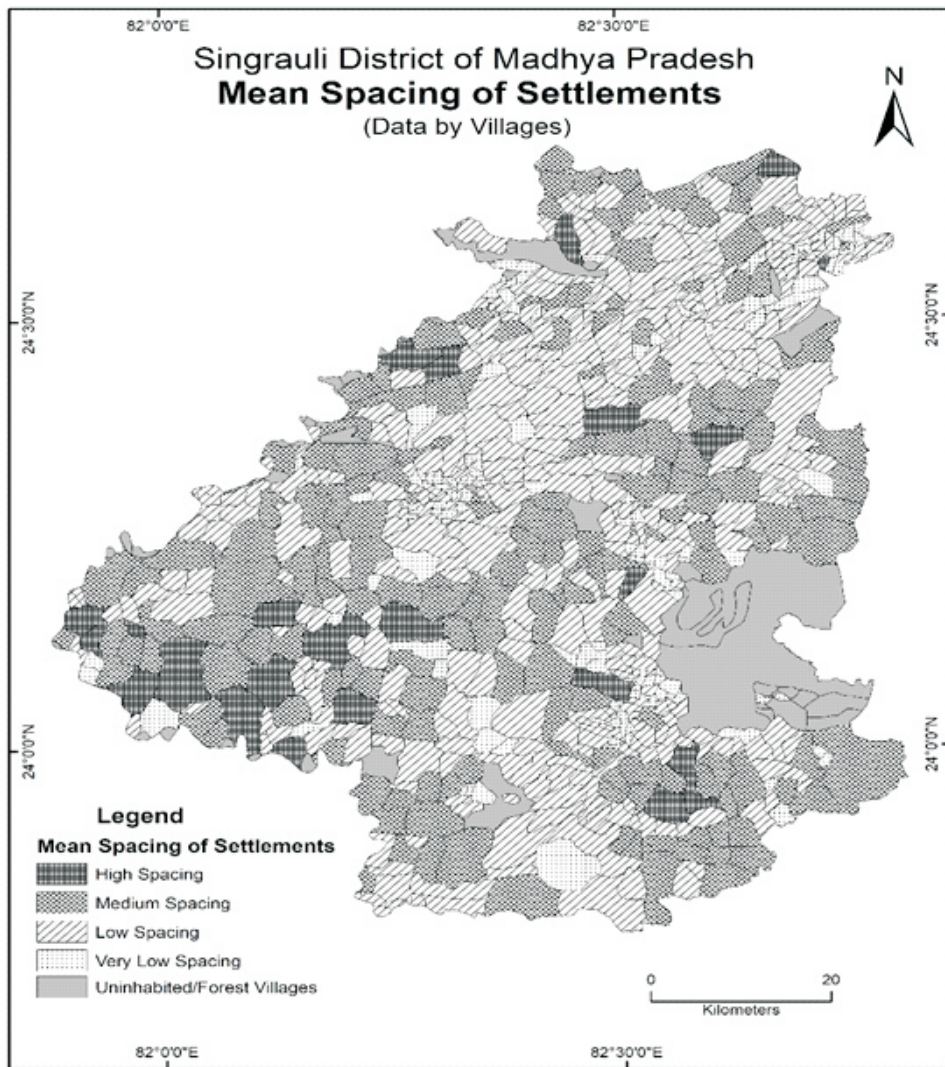


Fig. 4. Mean Spacing of settlements

High Spacing (> 1.80 km) category includes blocks where the average distance between neighboring settlements is greater than 1.80 km. Deosar block falls into this category, with a mean spacing of 2.39 km.

Conclusion

Settlements in the district are mainly rural, with agriculture being the primary economic activity. The district is primarily rural, with only a few small towns scattered throughout the area. Settlement size is important for classification purposes and has implications for resource availability, infrastructure, social interaction, and economic activity. the paper on the size of rural settlements highlights the importance of settlement

size and its classification in terms of area and population. The paper focuses on the Singrauli district, which is primarily rural and covers an area of approximately 5,672 square kilometers. The rural settlements in the Singrauli district range in size from small, isolated hamlets to larger villages and towns. Settlements with larger areas often serve as economic and social hubs for surrounding smaller settlements, while remote rural areas may lack basic amenities like electricity, clean water, and healthcare facilities. The paper classifies rural settlements in the Singrauli district based on their areal size and population, providing useful information for planning and development activities in rural areas. Understanding settlement size is crucial for policymakers to develop effective strategies for the development of rural areas, particularly in terms of infrastructure and services.

The spacing of rural settlements is a critical aspect of rural geography that has a significant impact on the socio-economic development of an area. The spacing is influenced by several factors, including the nature of the terrain, availability of water, fertility of the soil, mode of living, and size and density of the rural population. The study indicates that the Chitrangi and Singrauli blocks have moderate spacing, while the Deosar block has high spacing. It is essential to consider the spacing of rural settlements when planning for the development of a rural area to ensure that basic amenities and facilities are accessible to all villages while avoiding environmental degradation and overpopulation. The size and spacing of rural settlements have implications for rural economic development. The development plan should take into account the local context and the specific needs of each community to ensure that basic amenities, natural resources, infrastructure, and economic opportunities are provided in a manner that is sustainable and equitable.

*Department of Geography,
University of Allahabad, Prayagraj.*

*Department of General and Applied Geography,
Dr. Harisingh Gour University, Sagar, M.P.*

References :

- Bettencourt, L. M., Lobo, J., & Helbing, D. (2017). Urban scaling in Europe. *Journal of The Royal Society Interface*, 14(131), 20170551.
- Census of India (2011). *Primary Census Abstract, Singrauli District*. Directorate of Census Operations, Madhya Pradesh.
- Chen, J., Li, Q., Ren, H., Guo, S., & Shi, P. (2020). Rural settlement spatial-temporal pattern and driving factors in the process of urbanization in China: A case study of Hebei Province. *Science of The Total Environment*, 703, 135504.
- Districts Of India- Socio-economic Statistical Data of Singrauli District, Madhya Pradesh. (n.d.). *Districts Of India- Socio-economic statistical data of Singrauli District, Madhya Pradesh*.
<https://www.indiastatdistricts.com/madhvapradesh/singrauli-district>
- Ibrahim, M., Ismail, M., & Mamat, M. (2016). A review on the evolution of rural settlement in Peninsular Malaysia. *International Journal of Built Environment and Sustainability*, 3(1), 22-32.
- Jackson, J. B. (2019). *Discovering the vernacular landscape*. Yale University Press.

- Maurya, S.D. (2014). *Settlement Geography*. Allahabad: Sharda Pustak Bhawan, pp.30-50.
- Mandal, R.B. (2001). *Introduction to Rural Settlement*. New Delhi: Concept Publishing Company.
- Mather, E.C. (1944). *A Linear Distance Map of Farm Population in the U.S.* *Annals of the Association of American Geographers*, 34, 173-180.
- Mishra, N.K., & Singh, M.B. (2019). *Spatial analysis of rural settlements in Saharsa district, Bihar: a geographical appraisal*. *Hill Geographer*, 35(1): 63-72.
- Mukherjee, A.B. (1969). *Spacing of Rural Settlements in Andhra Pradesh*, *Geographical Outlook*, Vol. VI, 1.
- Mukherjee, A.B. (1970). *Spacing of Rural Settlement in Rajasthan: A Spatial Analysis*. *Geographical View Point*, 9(2), 1-19.
- Patil, S., Jadhav, R.G. & Lawte, N. (2019). *Correlation Analysis of Rural Settlements of Panhala Tehsil: A Statistical Approach*. *International Journal of Research and Analytical Reviews (LIRAR)*, 6(1): 286-288.
- Pradhan, N. (2017). *Modern Settlement and Urban Geography*, Kolkata: New Central Book Agency Private Limited, pp.100-106.
- Sing, R.Y. (2007). *Geography of Settlements*. Jaipur: Rawat Publications.
- Singrauli - Wikipedia. (2021). Singrauli - Wikipedia.
<https://en.wikipedia.org/wiki/Singrauli>.
- District Singrauli | District Singrauli | India. (n.d.). About District Singrauli | District Singrauli | India.
<https://singrauli.nic.in/en/about-district/>.

An Analysis of India's Social Sector Spending

Shalini Choithrani

Introduction:

The all round development of any country depends upon the growth of its people both economically and socially. To achieve this objective a large number of schemes are run by government in the social sector in order to give its people an improved quality of life through these schemes. These schemes also receive a certain budgetary allocation in both Central and State budgets. The social sector includes education, health care, labor and employment, urban development and many more like that. Social Sector expenditure attains more importance in a developing country like India where a large population of the country is still below poverty line and in order to make sure that they do not remain deprived and underprivileged, social sector spending is being done in order to improve their quality of life and also helps in reducing the inequalities of income and wealth that arise because of rising poverty and unemployment in the country. It is therefore, related to the development of Human Capital of the Country. The spending on social sector is reflected in the rankings of Human Development Index as some of these social sector expenditures constitute the parameters of the Human Development Index that shows the condition and growth of the human capital of the nation.

India's expenditure on social sector is about 1.4% of its GDP which is quite low as compared to other countries of the world. As per the State Finance Reports of RBI 2022-23 the share of expenditure on social services in the total expenditure of the Government has been around 25 per cent from FY18 to FY20. It increased to 26.6 per cent in FY23 (BE) and if we consider it in figures in 2023-24 Social sector expenditure is budgeted at Rs 8.28 lakh crore. If we see the past years expenditure done by India on its social sector, we can analyze that the spending even though has increased and have brought outcomes in the form of increased employment, improved infrastructure, better environment and conditions that all have resulted in improving the efficiency of people but there is a long way to go to reach the long term benefits of these spending keeping in mind the priorities of the nation.

India, which is one of the largest emerging economies of the world and is all set to become a 5 trillion economy has an advantage of achieving this target by making investment in its human resource for which sectors like education and nutrition play very important role. Therefore, social sector expenditure is very essential if India needs to

achieve these growth targets within the given target periods. It is also essential as India needs to portray its strength in a stronger manner at the global platform. This is all possible when social sector is given utmost importance along with creation of infrastructure in the country and is given an equal amount of importance along with other sectors of the economy.

Thus, the present study aims to measure the social sector spending in India in the previous years and the major heads of social sector that receive more importance in the budget allocation of the government.

Objectives of the study

The study is based on the following objectives:

- To analyze the trend of social sector spending in previous years in country
- To find out the priority areas requiring more spending from the government
- To suggest measures for improving it.

Source of information: The study has used secondary data that has been gathered from various published sources like reports of State Finances from RBI, Budget documents of the states and various reports related to this study area. The gathered data has been analyzed to draw conclusion.

Period of Study: the data that has been used and analyzed in this study is from the period of 2016-17 to 2022-23

India: growth and Improvement on Social Sector front

There are various indexes across the world used for measuring any country's Human capital and its development. Some of them are Human Development Index & Poverty Index. These are used for representing its level of Human development.

India and Human Development Index

If the ranking of India in HDI is considered, it stood at 131 rank out of 189 countries in 2020 which became 132 out of 191 countries in 2021. The HDI value of India shows that it needs improvisation in the parameters of HDI which includes education, decent standard of living etc taken into consideration for measuring its Human resource overall development.

As per the data of 2021 regarding HDI of Indian states, the High HDI states are Kerala at the top followed by Goa, Chandigarh, Delhi, Pondicherry, Lakshadweep and Sikkim.

A large number of Indian states fall in medium HDI that include Jammu and Kashmir, Punjab, Haryana, Maharashtra, Mizoram, Tamil Nadu and many more.

The HDI shows that a number of initiatives are required to be taken by Indian states for improving their overall functioning on parameters of HDI so that the overall ranking of the country at world level may improve.

Social Progress Index: It may be defined as “comprehensive measure of social progress based on social and environmental indicators”. If we analyze the conditions of various states of India on this parameter Pondicherry is in the category of Very High Social progress, In High Social Progress category falls Jammu and Kashmir, Upper middle category has Uttarakhand and lower middle category has Haryana.

These above mentioned index show that many more steps are to be taken for improving the Human Capital of the country through more investment in it in a very systematic manner.

Social sector spending in India: Some Highlights

As per the State Finances report of RBI (State Finances: A Study of Budgets of 2021-22), the following are some of the highlights related to the expenditure on Social Services:

- On Water Supply and Sanitation a total expenditure of 7.6 Percent in 2021-22 was made which was only 6.5 percent in 2016-17.
- Education, Art and culture saw a decline as expenditure on them in 2021-22 was 38.3 percent which was 43 Percent in 2016-17
- Housing sector received an expenditure of 4.0 percent in 2021-22 which was only 3.2 Percent in 2016-17
- Social security and welfare expenditure amounted to only 11 percent which was 10.9 in 2016-17
- On Urban Development expenditure of 9.1 percent in 2021-22 was made which was about 8 percent in 2016-17

These figures show that the spending on some social sectors has seen huge changes in past five years where some sector have seen very little changes in terms of spending on them.

Social Service Expenditure as Percent of Gross Domestic Product:

The Gross Domestic Product reflects the volume of economic activities undertaken in any country during a particular year in terms of goods and services produced by it. The percentage of GDP spent by any country on its social sector shows the concern of its government towards the social sectors of the country which are of equally important for overall growth of the country as this sector is directly linked to the overall development of its people. The Social Sector spending as percent of GDP of the previous years is as follows:

- The Social Sector spending as percent of GDP was 7.5% in 2019-20
- It increased in 2020-21 and was 8.8%
- In 2021-22, the social sector spending became 8.6 Percent.

India's Social Sector spending has been very low in previous years as compared to other developing nations of the world. Considering its importance for growth of Human capital along with physical infrastructure, governments have increased their budget for social sector spending as from 2017 to 2022. The social sector spending of India has seen an annual growth of 15 per cent per annum from Rs 11.1 lakh crores in Financial Year 2017 to Rs 22.6 lakh crores in Financial Year 2022.

Recommendations:

In order to achieve more results out of these expenditures on social sector, there is a strong need to make the spending on social sector more efficient and effective and this requires innovative ways to be implemented in social sector spending as done in others schemes which have produced good results.

Apart from this, the priority areas for social sector spending should be education and health as these have direct effect on improving the quality of Human development

particularly for India that has a potential to make use of its human capital for contribution in the growth of the nation.

Along with this, there is a strong need to offer a net of social security measures to the people of the country in order to give them a sense of security and confidence in the governmental efforts undertaken for improving their quality of living.

These are few recommendations apart from it collaboration amongst various ministries is also required which are directly or indirectly involved with the social sector of the country. Proper and timely allocation of budget with targeted outcome needs to be done and evaluation of the outcome both qualitative and quantitative against the expenditure done is required so that appropriate corrective measures may be made.

Conclusion:

Several studies show that Expenditure done on social sector turns out to be an investment for a country as it has a multiplier effect on a country's human capital. Various researches have proved that the countries that have worked seriously on strengthening their human capital through means of social sector spending mainly health and education have witnessed a steady growth in the performance at various levels. The governments need to set priorities of specific sectors of social spending so that these sectors receive more of fund allocation in order to improve their performance.

The efforts that have been taken so far need a reevaluation and reframing time to time so that the set targets and expected outcomes may be achieved in time and the money so invested on social sector turns out to be productive. A proper allocation to these sectors in budget is required time to time along with timely revision as per the need. This calls for equal participation of all ministries to work jointly with proper strategy and its execution so that the country proves to be a model for other countries in terms of developing its human capital through measures of social sector spending.

Also if country's ranking in various index needs to be improved then spending on the parameters included in their calculations needs to be worked upon and new ways of improvising on these parameters need to be thought.

It is hoped that the country is improving its social sector spending and will do it more effectively in coming time to make the country stand shine through its developed human capital which is capable of making it a strong nation with excellent workforce.

India with its well designed social sector spending will lead the country on the path of a sustainable growth.

Department of Commerce

Dr. Harisingh Gour Vishwavidyalaya, Sagar-470003 (M.P.)

References :

<https://rbidocs.rbi.org.in/rdocs/Publications/PDFs/STATEFINANCE2021227C651261B0DD463396E448E1D6528D88.PDF>

AbhinavAkhilesh,(2023)

Alok Kumar, Ajay Nema, Jagat H. Hiamni Sachdev https://www.niti.gov.in/sites/default/files/2019-07/Social%20Sector%20Expenditure%20of%20States_%20Paper.pdf

Shubham Kumar, Tapas Kumar, (February,2020),Investments for Social Sustainability in India An Assessment, EPW, Vol. 55, Issue No. 8

www.dea.gov

<https://pib.gov.in/Pressreleaseshare.aspx?PRID=1693206>

Nanda Prashant(2020), <https://www.livemint.com/budget/economic-survey/social-sector-expenditure-as-portion-of-gdp-grows-at-a-snail-pace-eco-survey-11580489661656.html>

Sinha Dipa, (2023) <https://www.thehindu.com/opinion/op-ed/the-social-sector-has-been-short-changed-once-again/article66460031.ece>

Dev S. Mahendra, Mooij Jos (2002), Social Sector Expenditures in the 1990s: An Analysis of Central and State Budgets ”, EPW, Volume 37, Issue 9, March

Financial Performance Analysis of State Bank of India Before and After Merging

Ankita Rajput, Gautam Prasad

1. Introduction

Banks are one of a nation's most significant catalysts and play a crucial role in the growth of any nation's economy. The stability of the banking system allows for the identification of the economic growth of the nation. Economic reforms, market liberalization, and financial market deregulation have significantly altered the banking industry, resulting in highly advanced technology and unheard-of competition. Since that time, each bank has worked tirelessly to become reliable, well-run, and financially sound. Despite the global financial crisis, banks in our nation have made significant progress as financial intermediaries. The patterns in their NPA, profitability, and yearly credit generation are rather obvious. There are two ways to increase an organization's size. Some take an internal look and decide to use their profits to expand in the upcoming years, which is one approach to expansion but typically necessitates more work and time. However, looking outside for other organizations is the more common strategy for rapid expansion. Inorganic growth takes place when one company buys another or merges with another. Synergy creation is the main goal of a merger or acquisition. By combining with or acquiring other businesses, organizations can benefit from cost-effectiveness and a larger market share. Banks have used mergers and acquisitions to expand quickly, get a larger market share, and create economies of scale that are more contentious.

The establishment of the Bank of Hindustan in 1770 marked the beginning of India's financial system. The British East India Company then established the Bank of Bombay and the Bank of Calcutta in 1840. In 1843, the Bank of Madras was established. In 1921, these banks combined to form the Imperial Bank of India. This bank, now known as the State Bank of India (SBI), was partially nationalized on July 1, 1955, to expand access to financial services in the country's rural areas. Banking in our nation can be divided into two periods: the period before liberalization and the one following it. On July 19, 1969, the Indian government nationalized fourteen banks, and six more were added in the period leading up to liberalization. In 1993, the Punjab National Bank and the New Bank of India merged, bringing the total number of nationalized institutions down to nineteen. The government started awarding licenses to non-public banks to

liberalize the banking sector and expand it in our nation. The second Narasimhan Committee recommended mergers for powerful public sector banks and even for private sector banks. Between 1961 and 1968, there were 46 mergers, and between 1969 and 1992, there were 13 mergers. In the years following the reforms, from 1993 to 2006, there were 21 mergers. There were an overall 21 alliances, of which 13 were compelled alliances, 2 were caused by the corporation joining forces with a bank, and the final one was brought about by regulatory restrictions. Our country's banking sector is far more prepared to handle crises than it was in the 2008–2009 period. The administration has put in place several steps to strengthen the financial system. The economic recovery has accelerated thanks to significant monetary policy adjustments made by our RBI.

Along with other governments, the Indian government has chosen the merger route to strengthen and reform the banking system. Weak and even small banks teamed up with larger and more powerful banks to protect the interests of depositors. The Reserve Bank of India imposes a temporary moratorium on sick bank operations under section 45(1) of the Banking Regulation Act of 1949 when some banks exhibit serious negative indicators, such as high levels of non-performing assets, deteriorating net values, or a sharp decline in the CAR. These mergers are thus considered to be forced mergers. During the moratorium period, RBI recognizes the strong banks and requests that they put together a merger plan. In this consolidation scheme, the bank that acquires the troubled bank also takes over its debts and assets and offers an assurance of payment to all account holders if they choose to go after their rights.

Lately, banking acquisitions have included HDFC, ICICI, and Kotak Mahindra in the private sector and SBI, OBC, and BOB in the public one.

2. Review of Literature

Patel R. (2018)⁸ The purpose of this study was to compare the long-term profitability positions of the chosen Indian banks before and after the merger. To evaluate the hypothesis, he employed a paired t-test, a fundamental research approach, and a descriptive study design. He had concluded that a merger would harm NPM, ROE, ROA, yield on advance and yield on investment. However, the EPS, PPE and BPE all showed favourable trends and increased.

King and Kong (2018)⁴ examined several approaches and literature outcomes. By using operating cash flow analysis and common bank indicators analysis, such as profit and efficiency indicators, net interest income operating efficiency, asset quality, and capital sufficiency, they build a hypothesis based on this literature. The main empirical findings support the assertion that operating performance dramatically declines during the first three years following a merger. A variation in merger incentive between TARRP and Non-TARP banks is therefore revealed. Additionally, she examined how M&As in the UK banking sector affected shareholders' wealth.

Sevindik (2017)⁹ used the market model, the market adjusted model, and the constant mean model together with the event research technique to conclude that the target firms exhibit a large positive abnormal return as a result of the M&A event while they observe a negative response for the bidder bank. Because the targets profits more than offset the bidder's loss, the research findings also demonstrate an overall gain for the combined organizations. Data was gathered from SDC and Data Stream programs to

compute the return of the selected banks (i.e., return index and stock return) for her sample size, which includes mergers of UK banks from 1990 to 2003.

Sharma (2016)¹⁰ investigates how a merger affects the merged companies' financial performance. Nine metal sector companies that are listed on the BSE and participated in mergers in the 2009–2010 fiscal year comprise the sample. To evaluate the performance differences between the post-merger and pre-merger eras, a paired sample t-test is used. The results demonstrate a slight but not significant improvement in terms of liquidity and leverage, but a considerable decline in profitability in terms of RONW and ROA, which runs counter to our theory.

Jianyu Ma et al. (2009)⁶ China, India, Hong Kong, Indonesia, Malaysia, the Philippines, Singapore, South Korea, Taiwan, and Thailand are the ten emerging Asian markets that were reviewed by shareholders of bidder firms on the day of the M&A announcement. It was discovered that the securities exchanges have expected positive cumulative abnormal returns in three different event windows, those of a two-day (0, 1) window, a three-day (-1, +1), and a five-day (-2, +2) window, using an example of 1,477 M&A deals in the ten emerging Asian markets. Factually significant valuation effects result from information leaks concerning M&A deals. The findings suggest that, as investors benefit financially from M&A deals, managers may be strongly advised to pursue outside development through M&A activity.

3. Research Methodology

The data for this work was gathered through mergers, consolidations, and acquisitions in the banking industry in our nation. The mergers and acquisitions that were selected for this study were crucial in forming the Indian banking industry. In addition to the annual financial reports of banks, financial and accounting information was gathered through the Bank's website. A total of five metrics, including Net Profit Margin (NPM), Dividends Per Share (DPS), Capital Adequacy Ratio (CAR), Return on Assets (ROA), and Credit Deposit Ratio (CDR), were chosen to compare the performance of the bank before and after the merger. In section 3.1 of this study, it is explained why these parameters were chosen. Five years before the merger and five years after it was covered by the data collection. The paired t-test was carried out to evaluate the applicable institute's finances before and after the merger took place. A statistical test known as the paired/dependent sample t-test is used to determine whether there has been no change in the mean between two sets of observations. This t-test is an effective technique to examine how observations have changed from the time of the consolidation and now. The paired t-test was carried out using SPSS Statistics (significance level = 0.05). This methodology and the earlier efforts are pretty comparable. But what distinguishes this effort is the set of parameters that were selected.

3.1. Parameters

A decline in Dividend Per Share (DPS) may be a sign that the company's finances are not doing well. NPM is an important variable that may be utilized to evaluate the organization's financial health. Investors can learn about a company's efficiency in generating overall income by looking at its Return on Assets (ROA). Greater CAR indicates a bank's ability to manage its finances and its perceived safety. A significantly low credit deposit ratio indicates that banks are not making the best use of their available

resources. A burden on the assets of the company is implied if the value rises above a certain threshold.

As a result, these parameters reflect the bank's financial health. They were chosen to examine the bank's financial standing both before and after the consolidation. These are their definitions:

- DPS: The cumulative dividends paid by a firm that is attributable to each outstanding common share are known as DPS. The difference between the total dividends paid out over a period divided by the number of outstanding shares is used to compute DPS.
- NPM: The amount of money that remains after operating expenses, interest and tax payments, and preferred stock dividends (but not common stock distributions) have been subtracted from the organization's total revenue.
- ROA: This metric measures how much of the company's total assets are covered by its total income.
- CAR: It is the ratio of the bank's capital to its risk-adjusted net worth.
- CDR: Out of its mobilized deposits, a bank's loan volume is represented by this proportion.

3.2. Selection of Bank Mergers for The Study

To enable broader financial services outreach to more women more quickly, the government announced its decision to merge Bharatiya Mahila Bank (BMB) with the State Bank of India (SBI) on March 20, 2017. The choice to combine BMB and SBI was made, among other things, in consideration of the benefits of SBI's extensive network. Since Bharatiya Mahila Bank's founding three years ago, SBI Group and the bank itself have given women loans totalling roughly Rs. 46,000 crore and Rs. 192 crore, respectively. SBI is the bank with the lowest cost of funds and a large network of more than 20,000 branches. 22% of its 2,000 000 employees are women. Bharatiya Mahila Bank has seven all-women branches, compared to 126 for the SBI group. At the end of March 2016, BharatiyaMahila Bank had a loan book of Rs. 620 crore and a deposit base worth Rs. 927 crore. It will be ensured that the merger strengthens and reinforces SBI's focus on financing women entrepreneurs to fulfil the goals behind the establishment of Bharatiya Mahila Bank, even though the addition of 103 branches of BMB and business of roughly Rs. 2,000 crore would not have a significant impact on the branch network and business levels of SBI. The record date for the merger of SBI with five of its partner banks-State Bank of Bikaner and Jaipur, State Bank of Mysore, State Bank of Travancore, State Bank of Hyderabad, and State Bank of Patiala-was announced by the government on February 23, 2017, and is set for April 1. All of these partner banks' shares would be transferred to SBI and cease to be owned by them individually. SBI was one of the top 50 major banks in the world following the merger with its associate banks. In terms of assets, SBI was rated 52nd globally in 2015, according to Bloomberg, and a merger will allow it to move up into the top 50.

3.3. Hypotheses

H_0 The financial metric has not significantly changed before or after the bank's consolidation.

H_1 : The financial metric has significantly changed before or after the bank's consolidation.

4. Results and Analysis

4.1. State Bank of India (2017)

Table 1: Variables State Bank of India

Parameters	Pre-Merger Years					Year of Merger	Post-Merger Years				
	2012	2013	2014	2015	2016	2017	2018	2019	2020	2021	2022
Dividend Per Share	35	41.50	3	3.50	2.60	2.60	0	0	0	4	7.10
Net Profit Margin	10.99	11.78	7.98	8.59	6.06	5.97	-2.96	0.35	5.63	7.69	11.49
Return on Assets including Revaluations	0.87	0.90	0.60	0.63	0.42	0.38	-0.18	0.02	0.36	0.45	0.63
Capital Adequacy Ratio	13.86	12.92	12.44	12.00	13.12	13.11	12.60	12.72	13.06	13.74	13.83
Credit Deposit Ratio	81.99	85.22	85.57	82.07	82.21	72.29	71.49	75.1	71.7	66.5	67.48

Table 2: Outcomes State Bank of India

Parameters	Merger	Mean	Standard Deviation	value	Significance
Dividend Per Share	Pre	17.12	19.4280	1.5423	Not Statistically Significant
	Post	2.22	3.2314		
Net Profit Margin	Pre	9.08	2.3189	1.3035	Not Statistically Significant
	Post	4.44	5.7699		
Return on Assets including Revaluations	Pre	0.684	0.2006	1.8291	Not Statistically Significant
	Post	0.256	0.3294		
Capital Significant Adequacy Ratio	Pre	12.868	0.7048	0.6424	Not Statistically Significant
	Post	13.190	0.5696		
Credit Deposit Ratio	Pre	83.412	1.8162	11.6155	Extremely Statistically Significant
	Post	70.454	3.4889		

Table 2 shows the outcome of the paired t-test that was utilized to assess the bank's performance. The dividend per share decreased from 17.12 to 2.22. The change was not statistically significant as shown by a *T*-value of 1.5423 and a *P*-value of 0.1979. Hence

P-Value is greater than the chosen significance, we accept the null hypothesis. The net profit margin decreased from 9.08 to 4.44 but the change was not statistically significant. As indicated by a T-Value of 1.3035 and P-value of 0.2624. Hence, we fail to accept the null hypothesis. Return on assets including revaluations also decreased from 0.684 to 0.256. They indicate a T-Value of 1.8291 and a p-value of 0.1414. This means that we reject the null hypothesis for return on assets including revaluations. The capital adequacy ratio increased from 12.868 to 13.190 but this is not significant. It shows T-Value of 0.6424 and P-Value of 0.5556. Here also fail to accept the null hypothesis. The credit deposit ratio decreased from 83.412 to 70.454. Here, the T-Value is 11.6155 and the P-Value is 0.0003. Hence, we accept the null hypothesis. CAR didn't change remarkably in the merging process. Banks may not be making the most use of their resources if their credit deposit ratio is extremely low. A burden on the assets of the company is implied if the value rises above a certain threshold. The earliest indication of a bank's viability is provided by the credit deposit ratio. If the ratio's value is rising, this may be a worrying sign as well as a warning of a load on the assets, and it may also imply a lack of capital, forcing the banks to raise more capital.

5. Conclusion

A decline in Dividend PER Share (DPS) may be a sign that the company's finances are not doing well. Therefore, if the DPS drops, an investor may be persuaded to sell his or her investment in the company. Statistics did not support the DPS's significance. One of the most important metrics for evaluating the organization's financial health is NPM. The Net Profit Margin has changed in a statistically meaningful way since the merger. The Return On Assets (ROA) measures how much money a company may make from its total assets. Investors learn how well the company does at generating overall profits from the money it invests. It is ideal to have a higher ROA because the company will make more money on fewer investments. Both before and after the merger, ROA significantly decreased. Greater CAR indicates a bank's ability to manage its finances and its perceived safety. The goal is to make sure that banks have adequate reserve capital that can absorb certain amounts of losses before the risk failure. The data had a P-Value of 0.0003, indicating that it was statistically significant. While there was a modest shift for CAR, there was a declining change for DPS, NPM, ROA, and Credit Deposit Ratio. We can therefore conclude that four of the five financial metrics are declining.

6. Limitations and Recommendations

Only SBI's 2017 merger with other banks is included in this study. This paper may potentially examine further significant mergers that occurred after liberalization.

The distinctive feature of this work was the use of a new set of financial indicators from those used in earlier research to determine if the managerial choice to consolidate was worthwhile or not. From this research, we deduced that the acquiring bank's financial metrics have improved from those observed in earlier research and other studies. The study's conclusion—that CAR had improved in the consolidation undertaken for this work—is a significant result that can aid managers in deciding

whether to pursue consolidation or takeover. In general, consolidation can improve the acquired bank's financial situation. Due to its distressed position, the purchased bank benefits from this consolidation.

This paper's investigation was based on information about financial metrics both before and after the merger. The qualitative characteristics such as the level of human resources, how people view the bank, how easily they can use the bank, etc., before and after the merger are not included in this study. Therefore, it is advised to incorporate these indicators to evaluate the benefits of the consolidation on a qualitative level. To determine the rendition following the coalescence, some off-balance-sheet signals, such as securitization, commitments, lines of credit, etc., can also be considered.

Instead of diagnosing or addressing the problematic symptoms, our nation's government now uses the consolidation or even takeover of banks as a strategy to help struggling banks. Instead, the government develops the methodology to recognize and address these undesirable indications, including NPAs. The negative symptoms of the distressed banks are transferred to the acquirer or the bidding bank through a consolidation or an acquisition. In exchange, these acquirer banks receive a wider audience and customers. The detrimental effects, however, go untreated.

Only the Dividends Per Share (DPS), NPM, ROA, CAR, and Credit Deposit Ratio were used to analyse the banks. Other significant indicators that could provide additional context for evaluating the financial health of a bank before and after the merger include GPM, Operating Profit Margin, ROCE, ROE, Debt Equity Ratio, EPS, Current Ratio, Quick Ratio, Non-Performing Asset (NPA) Ratio, Provision Coverage Ratio, Loan to Asset Ratio, YOA, YOI, Profit gained by each employee and business that the organization receives for each employee, among others.

Department of Commerce,

Dr. Harisingh Gour Vishwavidyalaya Sagar, Madhya Pradesh, 470003

Department of Commerce,

Dr. Harisingh Gour Vishwavidyalaya Sagar, Madhya Pradesh, 470003

References :

1. Bataneih, H., Balushi, R. & Harthy, S. (2021). *The Relationship Between Merger and Acquisition and Bank Risks. European Journal of Economics and Financial Research*, 4(4), 82-91. <https://10.468237/ejefr.v4i4.996>
2. Chaitra, K. (2019). *An Analysis of Pre and Post Merger of Indian Banks: An Event Analysis Approach. International Journal for Research in Engineering Application and Management*. <https://10.18231/2454-9150.2019.0471>
3. Khushalani, D. & Sinha, M. (2021). *Pre and Post-Merger Financial Analysis of Banks. Universal Journal of Accounting and Finance*, 9(6), 1247-1257. <https://10.13189/ujaf.2021.090604>
4. King, D.R., Bauer, F. & Schriber, S. (2018). *Mergers and Acquisitions: A Research Overview (1st ed.)*. Routledge. <https://doi.org/10.4324/9780429469459>
5. Kumar, N. & Upadhyay, M. (2022). *A Study on Mergers and Acquisitions in Indian Services Industry- With Special Reference to Banking Companies. International Journal of Multidisciplinary Educational Research*, 11, 4(6), 34-46. <https://ijmer.in.doi./2022/11.04.714>

6. Ma, J., Pagan, J. & Chu, Y. (2009). *Abnormal Returns to Mergers and Acquisitions in Ten Asian Stock Markets*. *International Journal of Business*, 14(3), 235-250. ISSN: 1083-4346. <https://link.gale.com/apps/doc/A204209480/AONE?u=anon~b0f87ace&sid=googleScholar&xid=98e5053d>
7. Oza, D. (2020). *A Comparative Study of Pre and Post Merger Financial Performance of Selected Indian Banks*. *International Journal of Research Cultural Society*, 4(7), 67-72.
8. Patel, R. (2018). *Pre & Post-Merger Financial Performance: An Indian Perspective*. *Journal of Central Banking Theory and Practice*, 181-200. <https://10.2478/jcbtp-2018-0029>
9. Sevindik, İ., & Gökgöz, F. (2018). *A Comparative Abnormal Return Analysis of Mergers and Acquisitions in the Emerging Markets*. *InTech*. <https://10.5772/intechopen.71821>
10. Sharma, S. (2016). *Measuring Post Merger Performance – A Study of Metal Industry*. *International Journal of Applied Research and Studies*, 2(8), 1–8. <https://doi.org/10.20908/ijars.v2i8.9463>

The Working and Living Conditions of Unorganised Sector Workers : A Literature Review

Alok Kumar Vishwakarma, Veena Thawre

An Overview -

The National Commission for Enterprises in the Unorganised Sector (NCEUS) of the Government of India has defined the term "unorganised sector" as the sector that "consists of all unincorporated private enterprises owned by individuals or households engaged in the production or sale of goods and services operated on a proprietary or partnership basis and with less than ten total workers." (Report on Conditions of Work and Promotion of Livelihoods in the Unorganised Sector. Academic Foundation, 1 Jan 2008, p.1774). This industry group includes a wide range of businesses and professions, and it is essential to the creation of jobs, the reduction of poverty, and general advancement in the economy. But it also has issues like low productivity, informality, and poor access to fundamental rights and benefits. The term "unorganized sector" designates a part of the economy where economic activity is not subject to official labour regulations, lacks formal organizational structure, and frequently takes place on a small scale. It spans a number of industries, including small-scale manufacturing, services, street selling, domestic labour, and agriculture.

Unskilled workers typically migrate to unorganized industries, whereas skilled workers migrate to organized sectors. Many businesses that fall under the MSME category join unorganized industries in order to get around the strict laws and regulations that they must follow. Domestic help, construction labour (migrant or not), drivers, masons, carpenters, street vendors, producers of incense sticks, beedi, and other occupations are all part of this unorganized sector. "The unorganized Sector consists of all private enterprises having less than ten total workers, operating on a proprietary or partnership basis." - By National Commission on Enterprises in the Unorganized/Informal Sector in 2004. Workers in the unorganised sector have less job security and a lower chance of advancement, as well as no paid leave or holidays, and they have less protection against employers who engage in unfair or illegal practices. Only one-fifth of non-farm workers in India are employed in the organized sector, with over 92% of the country's workforce being classified as unorganized, including all agricultural labourers. According to estimates, the share of the informal sector generally decreases in the non-farm sectors as we move up the income scale. But

regardless of economic class, the proportion of unorganized labour in the agricultural sector remains constant.

Objectives

- To investigate the areas of research carried out in connection with the working and living conditions of workers in the unorganized sector.
- To conduct a thorough investigation into the living and working conditions of people who labour in the unorganized sector.

Methodology

This study is based on secondary data. In this regard, various libraries were visited and some online journals were reviewed.

Review of Literature

The first National Commission on Labour (1966–1969) defined the term "unorganized labour force" as people who have not been able to come together and work towards shared objectives due to obstacles like the ad hoc nature of employment, ignorance and illiteracy, small and dispersed establishment sizes, and power positions enjoyed by employers due to the nature of the industry, among others. Approximately 20 years later, the National Commission on Rural Labour (NCRL: 1987-91) depicted the same situation and the same contributing factors to India's current state of unorganised rural labour. According to NSSO estimates, total employment in the country increased from 374 million in 1993-1994 to 397 million in 1999-2000 (based on Usual Principal and Subsidiary Status). There are approximately 28 million in the organised sector and 369 million in the unorganised sector. Agribusiness and related activities employ approximately 60% of the unorganised sector workforce.

Harris – Todaro Model also examines the process and consequences of rural-urban migration of labour in the context of low-income African countries. According to Harris-Todoro : (a) internal rural-urban migration of labour results in an increased supply of labour in urban centres searching for employment opportunities; (b) a higher urban wage rate is necessary for attracting rural labour into urban areas.

L. Venkatasamy (1998) conducted research on five types of platform retail shops: night stalls, fast food, saloons, and tailor shops. The study includes 500 unorganised workers in Chennai. The study's main goals were to investigate the pattern of ownership, estimate the capital invested, estimate the number of workers employed, and investigate the product's marketing conditions. According to the study, the majority of the units are operated under single ownership, with only a few operating under a partnership. The initial investment was Rs.50 lakhs in 500 units. The total number of workers employed in the informal sector totalled 1,50,000.

R. Rajarathinam (2001) of Tirunelveli District in Tamilnadu, South India has conducted research on Dalit unorganised workers in Tirunelveli District's rural areas. In his research, he concentrated on the causes of illiteracy, as well as poor living and working conditions. His research did not include the construction industry. The major findings for Dalits' poor socioeconomic conditions are low bargaining power, low wage rate, highly migratory nature, and deep indebtedness.

Bah et al (2003) This paper has discussed the civilising entrance of the informal sector into the Gambia tourism industry. The paper's goal is to improve informal sector access

to the tourism industry and tourists. It has worked with Small, Medium, and Micro Enterprises (SMME) and business organisations to increase revenues and employment by incorporating the informal sector into the tourism industry. It has been suggested that the informal sector adopt formal codes of conduct, develop new products, and improve quality. To encourage, the government should create a supportive regulatory framework.

Nandal Santosh (2004) conducted a study on women construction workers in Haryana. The majority of construction workers come from other states and have a higher percentage of females. The primary goal of this paper was to concentrate on the socioeconomic issues confronting a subset of female construction workers. They were actively engaged in economic activities in order to survive, but bearing and rearing children remained their primary responsibility. The research was carried out in six Haryana districts (Rohtak, Sonapat, Bhiwani, Hissar, Panipat, and Karnal), where the total number of employed workers was estimated to be 21000.

MahendraDev (2006) pointed out that workers in the unorganised sector have low wages, poor working conditions, and no social security protection. It is becoming clear that social security programmes are required, particularly to mitigate some of the negative consequences of liberalisation reforms. In addition, the case for any changes to labour laws can be strengthened if all workers have at least a basic level of social security and safety. The state government bears a responsibility to serve the poor during times of insecurity and uncertainty, as well as to provide minimal security for those who are unable to benefit from post-liberalization economic growth and development.

Datt (2007) conducted a thorough investigation into the socio-economic aspects of workers in both the organised and unorganised sectors. The article examined NSS data to determine the specific socioeconomic aspects of the workers. Only around 8% of the workforce is working in the organized sector, with the unorganized sector employing roughly 92% of all workers. Agriculture and other industries are separated into separate sections of the study. Both sectors feature organized and unorganized segments with vastly varying working conditions. By utilizing poverty as a criterion, the author tried to understand the situation. Workers in both the agricultural and non-agricultural industries have been found to experience poverty at higher rates. For workers in the organized sector, poverty is more pervasive in the agriculture industry. Lack of technological advancement and a focus on the market are the main causes of this kind of problem.

UnninJeemol and Lu Ming (2007) In their paper, they discussed the differences in approaches taken by India and China in various economic processes related to the growth of informal employment. They go on to discuss the two countries' informalization processes, which are very similar in the sense that an increasing proportion of the population works in private enterprises with flexible contracts and minimal social security coverage. However, while the majority of the Indian workforce has been informal since its inception, the phenomenon in China dates back to 1996. About a quarter of the Chinese workforce now works in private enterprises, though much of this is subsidised by the government or foreign firms. Another nearly 7% work for themselves. Chinese workers still have the advantage of basic literacy and numeracy, as well as the ability to follow basic written instructions, which is required for manufacturing quality control. Apart from state assistance, this could be one of the reasons for her success in scaling up manufacturing.

Dhas A.C. and Helen M. (2008) According to their paper, unorganised employees account for approximately 93% of total personnel and have been steadily increasing in India over the years. It is argued that India had a long subculture of casual social protection and social assistance devices aimed specifically at the more inclined sections of society, but it was consistently and certainly destroyed. The social protection initiatives of the centre, country, and non-governmental organisations (NGOs) used in the past demonstrated that the needs are far greater than the support provided, and efforts must be focused and comprehensive enough to cover the growing unorganised labourer.

Paromita Goswami (2009) The article "A Critique of the Unorganized Laborer Social Security Act" attempted to discuss the Unorganized Laborer Social Security Act of 2008. According to the author, the act does not require the government to implement new welfare programmes. It unfairly divides unorganised labourers into those below and above the poverty line and remains silent on a national minimum wage, improving working conditions, and issues affecting women workers such as unequal pay, sexual harassment at work, and so on.

Nath (2009) The poor access to health services for women wage labourers in the informal sector was highlighted in selected districts and blocks in Uttar Pradesh, Uttarakhand, and Chattisgarh. A large population of female workers was discovered to be engaged in agriculture, forestry, and stone quarrying in all three of these states. These women began working as young as 18 years old and continued to work until they were 55 years old. Working in extreme conditions has resulted in a number of health risks, owing to both the heavy workload and the nature of their work. Muscular aches and pains, injuries, exhaustion, weakness, fever, and foot swelling were all common and went untreated.

Report of Ministry of Labour & Employment (2010) The paper emphasizes how the petroleum business is using contract workers more frequently. Both the permanent workforce and the contingent workforce have significantly improved since the liberalization era. It is concerning because the contractual category is where the growth is most obvious. Organizations rely on them as well because the amount of liability is lower. However, in comparison to their permanent counterparts, these workers are not provided with adequate facilities. Despite the fact that they are doing significant work, they are not adequately compensated. This trend can be seen not only in the petroleum industry but also in other industries.

Anthony P. D'souza (2013) The study looked at the unorganized sector's contribution to the economy as well as the challenges and barriers that young people encounter when choosing to pursue self-employment. It was discovered that a larger number of workers, 84, earned their living from this sector, and entrepreneurs play an important role in elevating the unorganised sector to a higher position in the country.

UNDP Report (2013) has described the Jordanian economy's informal sector. It has been stated that measuring the informal economy is difficult due to the nature and composition of the informal economy. The informal economy is typically made up of households and single production units with low levels of organisation and technology. Using various cost-benefit analyses, the report demonstrated why people control the informal economy. A sharp increase in the informal economy has led to a decrease in

government tax revenue, resulting in a decrease in government spending on public goods and services. According to the report, the Jordanian labour market experienced remarkable growth in the 1970s and 1980s. It has been concluded and suggested that the informal economy should be taken into account whenever a macroeconomic policy is developed.

Mohanraj (2013) has provided a detailed analysis of the Indian unorganised sector using primary research. According to the study, approximately 85 percent of the workforce is in the unorganised sector, with the majority of them working in agriculture. This industry has seen an increase in both daily wage workers and household workers. The majority of workers in this category of daily wage labourers as well as household workers are female. This workforce is employed in a variety of industries, including agriculture. A typical unorganised sector does not provide any kind of security benefits or a safe working environment. Furthermore, wage disparities exist between the organised and unorganised sectors.

Report of Ministry of Labour & Employment (2014) is a study of the socio-economic conditions of female factory workers. Women have traditionally been underrepresented in the unorganised sector, and there is a wage disparity based on gender. The industry is seeing an increase in the number of female employees, which is encouraging and will raise everyone's level of life. However, the usual working conditions in the sector are awful, and they frequently do not get paid if they take weekly leave. No matter the gender, the idea of daily pay is problematic. The survey claims that women who work in the match manufacturing industry make much less money than women who work in other departments of the same manufacturing organization. The socio-economic growth of the organization's female members may be hampered by this kind of discrepancy, which is harmful. To give equal weight to all societal segments, necessary social security measures should be put in place.

Kalyani (2015) in this article the author has examined the situation of unorganised workers, who are widely regarded as the backbone of the Indian labour force. The organized sector employed 2.8 crore people in the country, whereas the unorganized sector employed 43.7 crore people, according to a survey done by the National Sample Survey Organization (NSSO) in 2009–2010. The bulk of employment in the Indian labour market is categorized as informal work, which also accounts for half of the nation's GDP. This has been noted as one of the key and central characteristics of the labor market.

Devi et.al (2015) The authors attempted to assess the working conditions of people in various organisations. Making employees aware of the importance of the globalized working environment is crucial. The objective of the current study is to determine whether the types and levels of musculoskeletal disorders among workers in these industries are similar or not by critically analyzing selected cases from the literature on those who perform similar types of work in different industries.

Thiyagarajan, R., & Tamizhjyothi, K. (2018) Women's skills are nearly equal to men's, but they are not recognised as such and are expected to assist their male coworkers. Some women's husbands abuse alcohol and beat them. Some female employees form relationships with coworkers and become trapped. A study was conducted on

Kanchipuram of female employees. The researcher recruited 600 women workers in the construction industry. The study found that women employees in the construction industry's unorganised sectors have significantly different levels of work-life balance.

Babitha Rohit and Prakash Pinto (2020) The study provides information about the socio-economic conditions of unorganised restaurant workers in Mangaluru. According to the study, restaurant employment is chosen because of poor economic conditions, and they do not have access to welfare measures. The study also discovered that the level of education influences the reason for joining the hotel industry as well as the level of job satisfaction. The study also shows that education level influences the reason for joining the hotel industry as well as job satisfaction. For the welfare of unorganised hotel workers, organised efforts on the part of the government in general, as well as the hotel and restaurant industry in particular, are required.

Balwant Singh Mehta & Ishwar Chandra Awasthi (2022) This paper shows that workers in the urban informal sector have poor working conditions, low incomes, and no social security. The affirmative action program has helped some marginalized groups get access to formal sector work, but highly educated people have benefited more than others. The study argues that minimum social security and social protection are essential to improve the lives of vulnerable urban informal sector workers, especially those from low-income households and with low levels of education.

Conclusion

According to the Economic Survey (2018-19), 93% of the total workforce in India is from the unorganized sector. According to an estimate, the total workforce in the country is 45 crore. Out of this, 93 percent i.e. the number of people working in the unorganized sector of the country is about 41.85 crore. The concept of an unorganised sector, also known as an unprotected sector, could be working without a regular source of income all year. They are on the outskirts of society and have no opportunity to participate in the mainstream economy. According to the above review of literature, there is no legal protection system, bearing and rearing children remains the primary responsibility of women workers, and there is little assistance from the government and legal framework of the country. There is no proper education for children, low earnings, continuous work pressure, temporary jobs, the concept of daily wage exists regardless of gender, an unsanitary working environment, and wage disparities between the organised and unorganised sectors. The initiative has identified a number of characteristics in unorganized sectors, including extremely low levels of education, professional and vocational skills, a lack of medical provisions, a lack of security for old age, an absence of a clear-cut employee-employer relationship, and unsatisfactory wage rates and pay periods. In order to address concerns like social security, the beneficial effects of unions and labour regulations on employees, and other matters like these, more research is required in this area.

*Department of Economics, Dr. Harisingh Gour Vishwavidyalaya,
Sagar, Madhya Pradesh 470003*

*Department of Economics, Dr. Harisingh Gour Vishwavidyalaya,
Sagar, Madhya Pradesh 470003*

References :

1. Adama Bah & Harold Goodwin (2003); *Improving Access for the Unorganized Sector to Tourism in The Gambia*, PPT Working Paper No. 15.
2. Anthony P. D'souza, (2013). "Unorganized Sectors: Role of an Entrepreneur and Challenges in Self-Employment", *International Journal of Scientific and Research Publications*, Volume 3, Issue 6, June.
3. Dev, S. M. (2006). *Financial inclusion: Issues and challenges*. *Economic and political weekly*, 4310-4313.
4. Dhas A.S. and Helen M. (2008) : "Social Security for Unorganized Workers in India", *The Indian Journal of Labour Economics : A Quarterly Journal of the Indian Society of Labour Economics*, Vol. 50, No. 3 (July-Sept., 2007), PP. 10, Mumbai.
5. Kalyani, M. (2015). *Unorganised workers: A core strength of Indian labour force: An analysis*. *International Journal of Research*, 2(12), 44-56.
6. India Labour and Employment Report (2014): *India Labour and Employment Report 2014: Highlights*.
7. Devi, K., & Kiran, U. V. (2015). *Work related musculoskeletal disorders among workers in unorganized sector*. *International Journal of Technical Research and Applications*, 3(3), 225-229.
8. L. Venkatasamy, *Informal Sector in Urban Economic Development: A Study of Chennai city*, Published Ph.D. Thesis, University of Madras, 1998.
9. Mehta, B. S., & Awasthi, I. C. (2022). *Dynamics of Urban Labour Market and Informality*. *The Indian Journal of Labour Economics*, 65(1), 19-37.
10. Nath, Anna, (2009). "Health Services Missing for Women Workers in India", *One World South Asia*, October.
11. Mohan Raj, P., & Misra, I. (2012). *Effect of Organized Retail on Small Retail Outlets in an Emerging Economy-An Empirical Study*. *Research Journal of Social Science & Management- (RJSSM)*, 2(01).
12. Paromita Goswami, "A Critique of the Unorganized Workers Social Security Act", *Economic & Political Weekly*, Mumbai, March 14-20, 2009, Vol.44, No.11, pp. 175-180
13. Rajarathinam, R., *A Socio Economic study of unorganised SC/ST (Dalit) workers in Tirunelveli area with a special reference to Tirunelveli District of Tamilnadu*, Published Ph.D Thesis, 2001
14. *Report of the Committee on Unorganised Sector Statistics (2012)*, National Statistical Commission Government of India, February 2012.
15. *Report on The Challenge of Employment in India, An Informal Economy Perspective (2009)*, Volume I - Main Report, National Commission For Enterprises In The Unorganised Sector, www.nceus.gov.in, April, 2009.
16. Rohit, B., & Pinto, P. (2020). *A Socio Economic Study of Unorganised Restaurant Workers in Mangaluru, India*. www.esijournals.com
17. Ruddar Datt (2007); *Unorganised Sector And Informalisation Of The Indian Economy*, *The Indian Journal of Labour Economics*, Vol. 50, No. 4, pp 775-792, 2007
18. Santosh Nandal (2004), *Women Workers in Unorganised Sector: A study on construction industry in Haryana*, *International Journal of Development Issue*, Volume 5 No.2 (2006), pgs 119-120.
19. Satpathy, I., Patnaik, B. C. M., & Tripathy, N. (2017). *Review of literature on working and living conditions of workers in organized and unorganized sector*. *International Research Journal of Human Resources and Social Sciences*, 4(9), 463-473.
20. Thiyagarajan, R., & Tamizhhyothi, K. (2018). *Job Satisfaction of Work Life Balance of Women Employed in Unorganised Sector in Kanchipuram District, Tamilnadu*. *Indian Journal of Public Health Research & Development*, 9(1).
21. UNDP Report (2013); *The Unorganized Sector in the Jordanian Economy*, United Nations Development Program, United Nation University, www.undp-jordan.org

22. Unni J. and Lu. M. (2007) : "Informal Employment in India and China", *The Indian Journal of Labour Economics : A Quarterly Journal of the Indian Society of Labour Economics*, Vol. 50, No. 3 (July-Sept., 2007), PP. 531-540, Hyderabad.
23. Unorganisedlabour force in India — Vikaspedia. (n.d.). Retrieved May 25, 2022, from <https://vikaspedia.in/social-welfare/unorganised-sector-1/categories-of-unorganised-labour-force>
24. Unorganized Worker | Ministry of Labour & Employment. (n.d.). Retrieved June 1, 2022, from <https://labour.gov.in/unorganized-workers>
25. Unorganised Sector Workforce in India: Trends, Patterns and Social Security Coverage on JSTOR. (n.d.). Retrieved May 24, 2022, from https://www.jstor.org/stable/4418266?oauth_data=eyJlbWFpbCI6ImFra2lzaW5naDY0NUBnbWFpbC5jb20iLCJpbmN0aXR1dGlvbklkcyI6W119&seq=1

Questioning the Loss of Selfhood and Depicting Gender Scorn in Salman Rushdie's *Shame*

Dimple Dubey

The concept of gender and sex have become particularly significant over the last few decades in gender and feminist studies, indicating a distinct change in one's understanding of these concepts in respect to one's sexuality. Ideas of performative aspects of gender prevalent in the eighteenth century also gave way to the abstract ideas of natural gender differences in the nineteenth century, further implicating those that are to be considered as desirable and those which people believe should be promoted, while early socio-biological theories merely contained the danger of naturalizing certain behaviors. Gender roles became to be regarded as the ways that men are socially recognized as men and women as women. This role acquisition supposedly took place through a process of internalization, which can be seen as the function of how a person develops his/her own gendered identity. Gender stereotypes were easily risen due to rigid and narrowly defined gender schemata and thus have frequently been confronted with bipolar views of gender. The bipolar conception of gender may also mean displaying many masculine characteristics entailing a lack of many feminine ones; because for gender stereotypes biological sex plays a vital role regarding the 'natural' behavior one could expect from individuals.

Many theorists claim that gender differentiations are caused by social interventions in which people must conduct themselves in a certain way to comply their gender. Assertions have been made that if gender is a social construct in some context it means that the reason women are feminine and men are masculine is a socially determined context instead of a biological intent. Since gender demarcation diversifies with race, class, and region, to view gender separately from the cultural intersections that have produced and maintained gender through times is out of the question.

Renowned gender theorist Judith Butler, conceived the notion of gender as performative that was put forth in "Performative Acts and Gender Constitution: An Essay in Phenomenology and Feminist Theory" in (1988), and later expanded in her book *Gender Trouble* (1990), which possibly answers the issue that it is not just our own self-conception, but other's reaction to our gender performances that shapes gender identification, hence to prove that gender and gender roles are more or less elaborate social performances that one puts on in day-to-day life, the hegemonic versions of which

underlay popular conceptions of 'man'/'masculine' and 'women'/'feminine'. Butler's conception of gender differs radically from what one might refer to as the common-sense view of gender. Butler in her essay explains that:

Gender ought not to be construed as a stable identity or locus of agency from which various acts follow; rather, gender is an identity tenuously constituted in time, instituted in an exterior space through a *stylized repetition of acts*. The effect of gender is produced through the stylization of the body and, hence, must be understood as the mundane way in which bodily gestures, movements, and enactments of various kinds constitute the illusion of an abiding gendered self. (Butler: 179)

In other words, gender is acquiescent because it is not something we possess, it is something that *we do* - a constant performance of binary opposition between masculinity and femininity, often conciliatory sometimes disruptive.

When Simone de Beauvoir suggests that "one is not born, but, rather, *becomes* a woman" (Beauvoir: 273), we can affirm that gender is *constructed*. Such gender performances result in punitive consequences. Gender discretions are in no way evidence of the essence of gender rather the copious acts of gender create a definite idea of gender. The construction of gender obscures the insight of geniture.

In this respect if we are to discuss Salman Rushdie's second most celebrated novel *Shame* (1983), we might apprehensively join in the argument of it being a gender-conscious text with rebellious characters woven into its fabric, although merely performing, yet still calling for our attention "to record the sufferings of women when patriarchal ruling power is exercised on their bodies" (Grewal 1994: 126). Rushdie has conspicuously been successful in bringing female definitude while making an effort to rewrite the history and its culture on the terms that does not fail to acknowledge the individuality, the authority and the subjection of women. In this effort to battle against the obliviousness of women and mark them as a category, there always is a risk of rendering representation to the tangible lives of women that leads to negative proceedings. Such conflicting and binary delineations of gender fortuitously, instead they serve as mechanisms of power structures which is trying to validate and emulate itself.

Reviewing *Shame* as a postcolonial narrative we need not be misled by Rushdie's seemingly irreverent attitude to political history, wherein a scathing portrayal of a particular period of history is in keeping with his intention of evoking a sense of unease and anxiety in the reader to make them feel the shame that is conveniently forgotten by those in power. Rushdie's essential argument in *Shame* is that shamelessness and violence are inextricably a segment of shame. Rushdie as the narrator presents a complex use of shame with regards to cultural and linguistic distinctions:

Sharam, that's the word. For which this paltry 'Shame' is wholly inadequate translation [...] A short word, but one containing encyclopedias of nuance... what is the opposite of Shame? What is left when *sharam* has been subtracted? That's obvious: Shamelessness.(33)

And indeed, shame is represented as an object whose meaning is sealed, independent and exterior to its user; hence it is objectified and rarefied to oriental propositions. Irrespective of their eastern or western associations, Rushdie seems to aid

his readers with the understanding of *Sharam* by devising the plot such, that enhances his definition of shame, and narrates the tale of silent suffering of the repressed souls. In the opening chapter entitled as "The Dumb-Waiter", we are exposed to Shakil sisters, Chunny, Munne and Bunny, the daughters of old retired Marshal, Mr. Shakil, thrallled and treated less than human beings. Their father denying them individual rights keeps them caged in a mansion in Nishapur. The sisters are imprisoned in this secluded, sterile world, without ever having a glimpse of the sun and the world that is beyond the gigantic walls of the mansion. The death of their tyrannical father finally releases them from the shackles of servitude and ignorance, and they decide to forge their own destiny. They challenge the laws of passivity and sterile waiting, the incessant attributes of women's condition, especially those women that are left out of any male protection. Although the sisters believe that they are overthrowing paternal repression, what they experience is nothing but the birth of a bizarre and artificial claptrap. One of these three fathers a hybrid child, presumably with one of the *Angrez* officials invited to the party thrown to celebrate the severe diminution of their material assets, and the demise of the patriarch of the house. The sisters so impersonate each other they appear "as one" during the pregnancy. All the Shakil sisters "thicken at the waist and the breast"..."identically their wombs ballooned towards the pregnancy's full term" in an effort to "transform the public shame of unwed lockedcon ception into the private triumph of the longed-for group baby" (20). The tale of these sisters is undeniably identified as the irony of the controlling patriarchy in the novel through the narrator himself. A society which is authoritarian in social and sexual codes, which crushes its women beneath the intolerable burdens of honor and propriety, breeds repression of other kinds as well. This subduing patriarchal domination doesn't even provide them real names,

Their names...but their real names were never used, like the best household china, which was locked away after the night of their joint tragedy in a cupboard whose location was eventually forgotten [...](3)

Their existence in the novel becomes in Sartre's words, "a fall through absolute emptiness towards objectivity" (*Sartre, Being and Nothingness*, 1953, 298). Instead of much desired recognition, they fall into shame; they become 'fallen women'

In the novel Rushdie gives his female characters a role to narrate their own stories. An interesting tale is of Rani Harappa, wife of the deposed leader Iskander Harappa, who uncovers the reality of the feudal system's figures who conduct as Lords with women. Her revelation of her husband's political life, his dark history, colored by disdain, corruption, social injustice and his weakness for women and power is expressed by means of her embroidery work which consists of eighteen Shawls which tell "a thousand and one stories" (105). She gives the Shawls the title "The Shamelessness of Iskander the Great" (191). The narrator asks in the aovel:

What did eighteen shawls depict? Locked in this trunk, they said unspeakable things which nobody wanted to hear: ... in silver threads she revealed the arachnid terrors of the days...(191-195)

The depiction of numerous atrocities committed by Iskander Harappa, unscrupulously in the name of political responsibility have long been observed by Rani who felt the urge to explain her rejection by her husband to Bilquis, her sister-in-law, discretely. Rani's exercising of a silent but more obvious and detailed critique of her own

suffering somewhat resembles to the most obvious form of oppression in the Greek myth of the rape of Philomela wherein the violent acts committed against her are so incomprehensibly cruel that a social-reading forces itself upon the reader. Rani and Philomela both refuse to narrate their silence and oblivion through the tapestry which recounts their side of the events. Rani sends these shawls to her daughter, Arjumand Harappa, called the Virgin Ironpants, who follows the footsteps of her father, Iskander Harappa, as a mythical model of political hero of the country and actively rejects to be marginalized in society by getting fully involved in politics. She is abused by her father who declares, "it's a man's world, Arjumand. Rise above your gender as you grow. This is no place to be a woman in" (126).

Her choice of getting involved in the predominantly male political domain distinguishes her from other women. It was also an alternative to marriage for her. Yet she does not develop as a positive counter-model to the repressed women who stay at home but pretends to be a man. She is radically repulsive against the traditional function of the woman. She refuses to marry as she considers it submission. She rejects her gender. Her overtness and ideal restriction of her own desires and sexuality in the name of political prominence makes her bitter and bitter with time and not surprisingly she has a violent outbreak of it when she goes to the red-light district and plays a temptress there. In the plight of Arjumand, a point to analyze may be that traditional feminine roles are associated with the lost capacity for status, dominance and agency and a lower status itself is considered less agentic, so much so that the socially inculcated feelings of passivity, helplessness, and reliance on others for their own self-definition never truly allow them to acknowledge the strength of their identification in their own gender.

Bilquis Hyder, wife of another political leader Raza Hyder has yet another side of shame to narrate. She comes to Pakistan as a refugee displaced due to the fire at the time of Partition which burns away 'the brocades of continuity and the eyebrows of belonging' (63-64) from her vulnerable female body, while she is left with nothing except the 'dopatta of honor' (64) in which she wraps herself. She is somehow rescued by Raza Hyder and brought to his 'old village way' (72) extended family. After marriage, she finds herself:

Silenced by the in-law mob... and thus acquired the triple reputation of sweet innocent child, doormat and fool... but she was also admired, grudgingly, because the family had a high opinion of Raza, the woman admitted that he was a good man who did not beat his wife. (75-76)

She is brought up to stay with her husband's extremely large family controlled by the matriarch Bariamma, who dons on the patriarchal role of converting the household into a chamber-system where forty women of the same family and kinship sleep in a very congested state on old charpoys "waiting for their men to come" (72). Rani Harappa indicates to this arrangement as "the biggest orgy on earth", cause, "imagine, in that darkness who would know if her real husband had come to her? And who could complain?" (73). This sort of farcical arrangement is a clear indication of maltreatment of women and a continued act of performativity of pleasing men as she was told, "A good man can go bad, like meat, if you do not keep him cool" (76). Bilquis' real portrayal comes through Rushdie "as a woman who was unclothed by change, but wrapped herself in certainties, or as a girl who became a queen, but lost the ability possessed by every

beggar-woman, that is, the power of bearing sons; or as the lady whose father was a Woman and whose son turned out to be a girl as well ..." (67-68). Raza Hyder, who always desires to have a male child first apprehensively declares to his newly wedded wife, "See if we don't have sons," ... "In my mother's family boys grow on trees" (74). When he discovers Bilquis' pregnancy for the first time, he declares, "He's coming!" ... 'whoosh!' ... 'vroom, wife! Here he comes!' And he roared off into the north, promising to accomplish a great victory in honor of his forthcoming son" (78). Unfortunately, when she delivers a dead son first and a daughter in the second time she flusters in her own performance, "Is that all, my God? So much huffery and puffery to push out only this mouse" (89). The daughter named Sufia Zinobia, thus suffers the desecration for being a girl.

Sufia Zinobia, although the protagonist of the novel enters quite late in the narrative only to catch our entire attention on how she is projected as a product of fantasy that defies fixities, orthodoxies and definitions. She becomes an alter-image of women's reality. Since she was "born into shame for being a girl instead of a boy" (90), she eventually suffers her birth in the neglect of her parents in her early age, as she contracts brain fever and is being treated by a local *Hakim*, the cure for which leaves her mentally retarded forever. This is what becomes of Sufia Zinobia because she was named a source of shame, and the myth continues and grows within her until it *becomes* her. The narrator represents her as:

"A Beast is born, a 'wrong miracle', within the citadels of propriety and decorum. This was the danger of Sufia Zinobia: that she came to pass, not in the wilderness of basilisk and fiends, but in the heart of the respectable world. And as a result that world made a huge effort of the will to ignore the reality of her, to avoid bringing matters to the point which she, disorder's avatar, would have to be dealt with, expelled – because her expulsion would have laid bare what-must-on-no-account-be-known, namely the impossible verity that barbarism could grow in cultured soil, that savagery could lie concealed beneath decency's well-pressed shirt. That she was, as her mother had said, the incarnation of their shame. (200)

The instilling of shame instead of love in Sufia, lies at the root of her violent outbursts every now and then as affirmed by the narrator, "Shamelessness, shame: the roots of violence" (118). We continue to witness a close connect between shame and violence with Sufia until the end of the novel, as she enters a vicious circle and her violent-expressions of her suffering merely bring upon her severe punishments. Although she is married off to Omar Shakil, the peripheral hero of the novel, she is only allegedly protected, however if truth be told, she is completely ignored and denied in her own desires and needs. She is not even offered the chance of consummating her marital relations with her husband, being regarded as a mere child to be taken care of. Least not to her discovery in her stead that her ayah Shahbanou offers herself to Omar so that he does not demand his marital rights from her. Her erotic passion and feelings of anger coming up from her unconscious suggest her disappointment and frustration and fill her so much to finally pull her apart and forcing her to go outrageously trying to fulfill her sexual desires with four boys in a row and later tearing their heads apart like turkeys contemplating her devilish instinct risen out of her feelings of "inadequacy, guilt and shame" (218).

Sufia's portrayal may be judged as indecorous and unrefined indeed, if we are intending to spectacle the so called established feminine facets, but in a way, it highlights the actuality that sexual myths are reflections of our attitudes towards society, and even towards humanity, for culture and myth are mutually dependent; wherein myths are products of society culture, and sexuality is part of that culture. Sexuality and its related concepts: morality, purity, illicit and chastity are shaped and created by society culture and its patriarchal powers in the course of history thereby making the position of women and their independent identity being discerned. In a traditional society, repression creates a myth of desire that acts as a counterpart to power and religion. The dilemma of the women in the novel lies in the fact that they suffer the impact of cultural and historical forces caused by the male-centered-systems. They find themselves haunted and possessed by a power of sexual curiosity and discovery of the feminine self.

The novel also shows problematic relationship between women and their own society. It was harshly assessed as displaying misogynist tendencies, in that the female characters are invariably depicted as mute, mere shadows and victims of the overwhelming patriarchal rule of their despotic fathers, sons, husbands and caretakers. Rushdie himself affirms in the novel that Sufia's portrayal was somewhat a creation of a false impression that was a reminiscence of a real incident that is presented as a pretext of the novel that occurred in London involving a young Pakistani girl named Anna Muhammad, who had a relationship with a white boy and when the affair was disclosed to her father, he murdered her. In the novel Rushdie discusses the reaction to crime as:

We who have grown up on a diet of honor and shame can still grasp what must seem unthinkable to peoples living in the aftermath of the death of God and of tragedy... My Sufia Zinobia grew out of the corpse of that murdered girl ... Anna deported, repatriated to a country she had never seen, caught brain-fever, and turned into a sort of an idiot. (115-116)

Of the father who murdered his daughter comma the narrator claims: "men will sacrifice their dearest love on the implacable altars of their pride" (115), implicating to a threatening revelation of how these unsettled emotions of self-shame and guilt may trigger psychological defenses designed to avoid or minimize the hurt and burden of distress of having violated group norms or having failed to live up to the standards of the social group that stimulate the feelings of worthlessness and shame. The dialectical moment in the novel is where the concept of shame reveals both its abstraction from its underlying misogyny and its objectification in the exemplary personification of the girl. Any deviation from their anticipated performative acts makes them encounter backlash in the form of social penalties thus discouraging them from engaging in incongruent behaviors to prevent pugnacious aftermath in the future, dismissing their prospective act as deviating archetype for others.

They are nevertheless stigmatized and defamed if they violate the gender binary as in the manifestation of Arjumand and Sufia or if they simply succumb to the structured performative functions of observing social rules too closely to fit in their roles so as to escape the shame of disobeying as in the case of Naveed "Good News"Hyder, the younger daughter of Bilquis and Raza Hyder, whose portrayal presents us a woman abused as a birth-machine, complying merely to her husband's lust, leading to a severe disintegration, resulting in suicide. Naveed is forced to have innumerable babies until

twenty-seven are born, and “everyone has lost count of how-many-boys-how-many-girls”(218). Her fairy-tale wedding that leads to anti-romantic consequences and her annual pregnancies present complicity of shame and to all intent and purposes is a complicated ascription of aggressive, violent sexuality towards her.

Gender roles and stereotypes are identical with the expectation that women will express emotion that they are aware of their allegiances that projects an orientalist representation of South Asian women particularly as the 'veiled woman', somehow disrupting and disregarding the heterogeneity of their experiences and their everyday arrangements of resistance.

Shame, is thus a well-told tale of many women who speak power to society and are in a quest for selfhood. They experience the catharsis of self-realization. All of them are complex characters transforming through several processes of unshackling. Arjumand, resolves the myth of sexuality through a struggle in the field of politics as a female leader who defeats the male psychology by her mind and body. Yet another female persona Pinkie Aurangzeb, widowed mistress of Iskander Harrapa, is seen as a woman who “come[s] to enjoy the war against her body” (126), and who somewhat succeeds in conquering him by her exceptional power of sexuality which is a forbidden abstraction for the gendered 'other'. The kind of power exemplified by these women exhibits their resistance and an attempt to confront the society with strength. Rushdie's female characters in the novel are framed with the idea of plurality in the face of singularity, individuality in the face of collectivity and employing dynamic processes against the fixed conventions. They are all representations of a projected thought that narrates their challenge to the traditional values in diverse forms. The women in the novel are palimpsests representing a covering and revealing the anchored shame perceptions.

Conclusively Rushdie has attempted to illustrate myth and science as overlapping realities: the magically-real, myth-creating, and myth believing cultures exist within the rationale. The philosophy of the “internal dialectic” is that the “Beast exists within us all” (257).

Department of English & Other European Languages.
Dr. Harisingh Gour Vishwavidyalaya, Sagar (M.P.)

References :

- Beauvoir, Simone de. *The Second Sex*. Translated by Constance Borde and Sheila Malovany-Chevallier.: Vintage Books, 2011.
- Butler, Judith. *Gender Trouble: Feminism and the Subversion of Identity*. Routledge, 1990.
- . “Performativity Acts and Gender Constitution: An Essay in Phenomenology and Feminist Theory” *Theatre Journal*, Vol. 40, No. 4, (Dec., 1988), pp. 519-522. [links.jstor.org/sici?sici=0192-2882%28198812%](https://www.jstor.org/stable/28198812)
- Grewal, Inderpal. “Salman Rushdie: Marginality, Women, and Shame.” In *Reading Rushdie: Perspectives on the Fiction of Salman Rushdie*, ed. M.D. Fletcher. Rodopi, 1994, pp. 123-44.
- Kauffman, Michael. “Author from 3 Countries.” *An Interview with Salman Rushdie*. November 13, 1983. January 22, 2002. *The New York Times on the Web*. [nytimes.com/books/ 99/04/18/ specials/ rushdie_interview83.html](https://www.nytimes.com/books/99/04/18/specials/rushdie_interview83.html).
- Rushdie, Salman. *Shame*. Vintage Books, 1983.
- Sartre, Jean-Paul. *Being and Nothingness: A Phenomenological Essay on Ontology*. Translated by Hazel E. Barnes. Pocket Books, 1953, pp. 298.

Philosophy of Love : Indian and Western Perspectives

Sanjay Kumar Shukla

I

The baffling issue amongst the philosophers is the nature and definition of man. Man is defined in different ways such as a biped rational or social or political animal, a laughing creature, a self-justifying or loving being etc. We are proposing here the thesis that man is essentially a loving being. Love is the intrinsic nature of man or it is the necessary precondition of human existence. The proposed thesis demands an appropriate justification for it. In the Judeo-Christian religion it is clearly stated that "God has created man in his own image" - Bible Genesis 1:2.7. This scriptural passage does not mean that God is in human form, but rather, that humans are in the image of God in their moral, spiritual and intellectual nature. Since the nature of God is all loving and man is created by him (God) in his own image, and we are in a position to infer logically that love is the essence of human beings. Jesus Christ advises us to 'Love thy neighbour as thyself' and everyone is your neighbour. The 'Tathāgatagarbha sūtras', in the Buddhist tradition, are a group of Mahāyana sūtras that present the concept of the womb or embryo (garbha) of the tathāgata, the Buddha. Every sentient being has the possibility to attain Buddhahood because of the Tathāgatagarbha. Buddha is the embodiment of true love and great compassion, and so, by implication we can easily conceive the possibility of each one of us acquiring the traits of love and compassion in our life. The essential feature of Hinduism is the spiritual unity of mankind, and this is based upon our firm conviction that the same spiritual reality pervades in all of us. We can feel the element of divinity in all sentient creatures. It is quite relevant to refer Swami Vivekānanda at this juncture that man is potentially divine, and the need is to only realise it. It is needless to say that divinity includes supreme values or cardinal virtues of truth, love, sacrifice, benevolence etc. Rene Descartes has predilection for the rational account of man, and for that reason he maintains thinking to be the very condition of one's own existence in his celebrated statement - 'Cogito Ergo Sum.' Our proposed justified thesis offers the counter perspective to Cartesian one in the form of 'Amor Ergo Sum.'

Descartes has given the primacy of reason over faith, and this truly depicts the paradigm shift of modern Western philosophy from medieval Scholastic one. The clarity and distinctness are regarded by him as criteria of truth. He wanted to start his philosophical enquiry 'de novo' as it is to be free from all sorts of preconceived notions

and prejudices, and for that method designed is the method of universal doubt. Descartes has also made the serious efforts to prove the certainties of Self, God and World. He proves the certainty of self by his famous dictum 'Cogito Ergo Sum' (I think therefore I exist). The certainty of God is ascertained through rational arguments, and the certainty of World on the ground of 'Veracitus Dei' (Verity of God). 'Cogito Ergo Sum' is certainly not an inferential statement rather it is an existential and experiential one. We come across different shades of Western Philosophy as to mention few-rationalism, empiricism, idealism, realism, romanticism and existentialism. Rationalism and romanticism are diametrically opposed to each other. The former is rooted in reason whereas in latter we find that the privileged position is assigned to human sentiments and feelings. The humble attempt is made here to provide an alternative model to Cartesian 'Cogito Ergo Sum' in the form of 'Amor Ergo Sum' (I love therefore I exist). The 'Amor Ergo Sum' need not to be a metaphysical statement but it can be safely treated as an axiological one. This model can be easily accommodated in the philosophies of idealism, beatificism, romanticism, existentialism and few more. The deeper purpose behind furnishing the alternative model is to present the 'Philosophy of Love' in a systematic manner. Love is undoubtedly the supreme value, the most sacrosanct sentiment and pious feeling, if that is the case why love cannot be considered as the precondition of human existence. It is truly stated that love is only sane and satisfactory answer to the problem of human existence. The idea of love is to experience the true side of life and it is the beauty of soul. In the traditional, orthodox and conservative social framework love is regarded as taboo and the reason behind it is a myopic and distorted picture of it. 'Love' stands for 'Long-lasting Original Valuable Emotions.' Love is the expression of one's values, the greatest reward you can earn for the moral qualities you have achieved in your personality, the emotional price paid by one man for the joy he receives from the virtues of another. We can easily agree with this statement that forgiveness is the final form of love. It will not be out of context to refer the views of some serious contemporary Indian thinkers regarding love as it is going to exhibit the importance and vital implications of it. For Rabindranath Tagore, it (love) does not claim possession, but gives freedom. Mahatma Gandhi has made a very significant remark that the day the power of love overrules the love of power, the world will know peace. S. Radhakrishnan maintains that knowledge gives us power, love gives us the fullness.

The philosophy of love in Western tradition can be easily gleaned from early Greek philosophies of Socrates, Plato and Aristotle. Socrates maintained that the world of senses is based on Forms which exist in an eternal realm. Thus love is the desire or spirit which lift the human soul to the knowledge of the forms. The forms are the essence of things from which flow what we perceive as reality. Plato's 'Symposium' is the first text in the Western philosophical tradition devoted to love and here we find the idea of Platonic love. It comprises rising through levels of closeness to wisdom and true beauty, moving from carnal attraction towards individual bodies to attraction towards souls, and eventually union with the truth. Aristotle has addressed to it in 'moral psychology of love in general.' To love something in itself, as opposed to loving it because it pleases you or is useful to you, is to love it on the basis of one's rational recognition that is 'kalon' ("fine" or morally "beautiful" and good in itself). The Greek philosophical tradition envisages

seven different kinds of love: 1. Eros- Romantic, passionate love of the body, 2. Philia - Affectionate, friendly love or love of family members, 3. Storge-Unconditional love naturally rooted in parents and children, 4. Agape -Selfless and universal love, 5. Ludus- Playful flirting love, 6. Pragma - Committed and long-lasting love, 7. Philautia-Self - love which begins with acknowledging one's responsibilities for personal well-being. It is on this basis we can hold the philosophical position that true love is different from lust and infatuation. Love is not demanding, rather it is based on sacrifice and commitment. For Plotinus the goal of human life is union with God, and for that the soul must purge itself of all sensuality, free itself from the contamination of the body (catharsis). The union with God is possible only in a state of ecstasy (intense or unconditional love). This is termed as the mystical return to God. In the medieval Western philosophy it is maintained that salvation can be achieved only by getting rid of evil passions (envy, anger, hatred and revenge). Love and forgiveness take the place of hate and revenge. Every man shall love his neighbour as himself, and every human being is his neighbour. St. Augustine, like Plotinus, upholds that by love we are united with God; hence love is the supreme virtue, the source of all other virtues. "Temperance or self- control is love of God as opposed to love of the world; fortitude is the overcoming of pain and suffering by love; justice is the service of God; and wisdom is the right choice guided by love of God. Love of God (amor dei) is the basis of true love of self and of others. It alone makes the so-called pagan virtues genuine virtues; unless inspired and promoted by this love, they are nothing but splendid vices."¹ Rousseau emphasized the importance of the sentiment in our mental life, and denied that the development of reason brings with it the perfection of man. His romantic conception of human nature is perhaps the most distinctive, original and influential achievement. In his two discourses Rousseau portrayed in idyllic terms the original state of nature and he pictured the life of "noble savage" as one governed by free impulse, and one in which he displays pity, love and sympathy for his fellows.² In Romanticism love is deemed to be of a higher metaphysical and ethical status than sexual or physical attraction alone. The idea of romantic love initially stems from the Platonic tradition that love is a desire for beauty - a value that transcends the particularities of the physical body. Love is all encompassing and uniquely tied to higher (spiritual) conception of beauty. Rousseau has exercised a deep influence on Kantian philosophy. The moral sentiments and aesthetic feelings of his romanticism can be well demonstrated in the Kantian maxims of morality and notions of beauty and sublime respectively. The maxim of 'treating humanity as an end and never as a means' loudly proclaims the self- respect and dignity of the individual, and such a kind of attitude is possible only through the love towards all human beings. Similarly another Kantian maxim of 'Kingdom of ends' can be conceived only on the basis of love and altruistic motives. Kant has made a division between two generic kinds of love: love of benevolence (Liebe des Wohlwollens) and love of delight (Liebe des Wohlgefallens). In the former we find good will that is directed towards the well being of its object, in the latter we come across a pleasure derived from physical or moral perfections or sheer existence of the object.³ For Kant, love of benevolence and love of delight appear in rational creatures, entangled in their rational capacities. Some kinds of love are derived from the practical reason, like practical love of neighbour as the duty to be benevolent

and beneficent to others. Similarly love of God is an idea derived from moral reason. The love is bound to be rational in nature and the purpose of it is to improve oneself morally. We can make the neat distinction between the Rousseau's conception of love and Kantian notion of love in this manner that the former is rooted in human sentiments and feelings, while latter is grounded in reason.

II

The effort is made in this section to analyse the philosophy of love in Indian tradition. The Vedic people developed a human relation basically related to love. Love had an important role to play in their society. Here we find an enlarged perspective of love as it is not confined to human love between two opposite sex, rather it is extended to entire nature-flora and fauna. The deep intensity of love can be further seen in the form of love and devotion towards Vedic Gods. Human life cannot be imagined without love. Human love is not oriented by sex alone, rather social harmony, family bond, and attachment to life and life oriented things are also parts of love. It includes both physical and mental feelings. It is truism to state that the emotional aspect or feeling of love is a characteristic of only human beings. Most of the creatures other than man are attracted to each other physically only, that is only sex- oriented relationship. Hence the best form of love is a healthy combination of physical and emotional relationship. The famous 'Nāśadiya Sūkta' of Rgveda talks about kāmā (Passion) as a power of 'Tadeka' (Supreme God). It says that long before universe there was nothing in existence. Neither truth nor untruth, not even space and sky, no death and no immortality, not even night or day. The Supreme God then had collected his mental power and with the force of passion gave birth to kāmā. That kāmā was the cause of this world. It was the mental power of Supreme God (Manaso Retah). The Atharva Veda has accepted this theory, but at the same time it has accepted the expanded meaning also. Kāmā is not only passion but an understanding, a friendly behaviour and mutual understanding which develops friendship between human beings. There are five stages of love:

1. Kāmā or Sensory Craving : Here the desire to get merged is expressed through physical attraction. Technically speaking Kāmā means "craving for sense objects", but it is usually translated as sexual desire. In ancient India, sex was not associated with shame - as it is in many interpretations of Judeo- Christian myth of the "fall of man" - but a joyous aspect of human existence and a topic of serious investigation. The 'Kāmā Sūtra' is not merely a catalogue of sexual positions and erotic techniques. The majority of the text is a philosophy of love dealing with questions such as what sparks desires, what maintains it, and how it can be wisely cultivated.
2. Shringāra or rapturous intimacy: Sex without true intimacy and sharing can leave us feeling empty. That is why the philosophers of India focused on the emotional content of the experience.
3. Maitri or generous compassion: Love in purity refers to generous compassion towards all human beings. "The simplest acts of kindness", said Mahatma Gandhi, "are by far more powerful than thousand heads bowing in prayer."
4. Bhakti or impersonal devotion: While compassion is a wonderful quality, it is not quite the final word. Beyond interpersonal love, the Indian tradition envisaged an impersonal form in which our sympathies gradually expand to embrace the whole of creation. Bhaktiyoga is translated as the cultivation of the self through the love of God.

5. Ātma Prema or unconditional self-love: It can be stated that up to above four stages of love are being directed outward into the world. But at the apex it comes full circle back to the self. This is not the personal or individual self, but the essential or universal self that exists at the center of all of us. "The river that flows in you", says the Indian mystical poet Kabir, "also flows in me." Vivekananda has beautifully stated that "Love consists of a series of stages through which an individual can climb." In Hinduism Kāma is pleasurable personified by the God of love (Kāmadev). In contrast to Kāma prem refers to elevated love, and here one gives up selfishness in love, not expecting anything in return.

The concept of true love can be easily seen in the Upaniṣadic philosophy. There is a serious philosophical discussion between Yājñavalkya and Maitreyi ending with concluding remark that it is not for the sake of all that all is loved but for one's own self that it is loved (Na vā are sarvasya kāmāye sarvam priyam bhavati, atmānastu kāmāye sarvam priyam bhavati - Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad II: 4.2-5. The theory of five sheath (pañca kośa) of the soul, as furnished in the Taittiriya Upaniṣad, includes the material or gross body (Annamaya kośa), the vital or instinctual component (Prāṇamaya kośa), the mental or psychological (Manomaya kośa), the intellectual (Vijñānamaya kośa) and finally the faculty which enables him to enjoy an ecstatic bliss (Ānandamaya kośa). The Indian psychological account of human personality is more comprehensive than Western psychology. In Western one the three dimensions of human personality are knowing, willing and feeling, whereas here we are finding five sheaths of self or soul. Mind and self are considered to be synonymous expression by most of the Western philosophers, while in Indian tradition the clear cut distinction is made between mana, buddhi, ahaṃkāra, citta vṛttā and ātmā. The theory of five sheaths can be utilised for analysing the concept of love. The material or gross can be identified with love or attachment with material goods, the vital or instinctual be associated with sensual cravings, the mental or psychological is emotional attraction or love with someone, the intellectual refers to affinity or love at the level of consciousness and lastly is confined to the state of bliss (ānanda). The spiritual bliss or ecstasy is the highest kind of love. Plato could only identify the supreme love to beauty, where as in Indian tradition it rises upto bliss. The famous Zen Buddhist monk Thich Nhat Hanh has maintained the four components of true love: Maitri (loving-kindness), Karuṇā (compassion), Muditā empathetic joy) and Upekṣā (equanimity). In Buddhism, these four elements are collectively known as the Brahma Vihāras. The great compassion (Mahā karuṇā) of Buddha truly depicts the unconditional love towards all sentient beings. For Hanh, understanding is love's another name-that to love another means to fully understand his or her suffering. He further pointed out that when we learn to love and understand ourselves and have true compassion for ourselves, then we can truly love and understand another person. In genuine love, there is no more separation or discrimination. His happiness is your happiness and your suffering is his suffering. Hanh has supplemented the cardinal virtues of Brahma Vihāra by subsidiary elements of trust and respect. They are the currency of love's deep mutuality. Hence, the possibility of true love is vested in the trust and respect in oneself and in the other person. The Bhagavad - Gītā has given the message of universal love and peace for entire humanity. Lord Krishna starts his menage of love by

enlightening Arjuna that "we are all souls, spiritual beings entitled to rejoice in eternal love with the supremely lovable and loving God, Krishna." When our loving nature is contaminated by self-fishness, we start loving things more than persons especially the Supreme Reality. To love without condition, to talk without intention, to give without reason, care without expectation, that is the spirit of true love. He speaks about divine love as "What ineffable joy does one find through love of me, the Blissful Ātman. Once that joy is realised, all earthly pleasures fade into nothingness." He further says that "Do everything you have to do, but not with greed, not with ego, not with lust, not with envy but with love, compassion, humility and devotion." He who has no attachment can really love others, his love is pure and divine. Being freed from attachment, fear and anger, being fully absorbed in the Me taking refuge in Me, many, many persons in the past have become purified by knowledge of Me-and thus they all have attained transcendental love for Me (vīta-rāga bhaya-krodha man-mayā māmupā?ritāh| bahavo jñāna- tapasā pūtā mad-bhāvam āgatāh)||' Bhagvad Gītā (Chap 4, text 10). Lord Krishna loudly proclaims in another verses "I envy no one, nor am I partial to anyone. I am equal to all. But whoever render services unto Me in devotion is a friend, is in me, and I am also a friend to him (samoha? sarvabhūte?u na me dve?yo stina priyah| bhajanti tu mā? bhaktyā mayi te te?u cāpy aham II) Bhagvad Gītā (Chap. 9, text 29). Devotional service to the Lord is not an activity of this material world; it is a part of the spiritual world, where eternity, bliss and knowledge predominate. The concept of Loksa? graha symbolises the true spirit of love. It ensures the stability of the human society or it is directed towards general human welfare. Advaita Vedānta claims that love in its true sense is all inclusive. All inclusiveness is bound to spring up only with the disappearance of separate existence (a distinct individual) which is the source of binding, selfishness, possession, suspicion etc. To extend complete love to another, one will have to become that very person. This is what Jesus Christ means by "Love thy neighbour as thy self." Advaita Vedānta points out that by losing one's sense of individuality, we do realise our oneness with the Absolute spirit (Brahman). The spirit is formless hence we are much above the petty distinction that we entertain and ascertain owing to name, form, colour, nationality etc. The expression of universal oneness is pure unalloyed love. A person who realises this is liberated here and now (Jeevan mukta). He has discovered the way of blissful living. Such a person, even in a family leads a normal life carrying out his responsibilities with a cool mind, and for him love is eternal being and not binding. Love is pure joy. Joy is not only a value, it is pure existence as well. We find a most powerful exposition of this idea in the two non-dualistic philosophies of India, viz., Advaita Vedānta and Kā?mir ?aivism. We have already referred to the doctrine of five sheaths, and ?a? kārācārya in his commentary on the 'Ānandamāyādi Sūtra' of the Brahmasūtra describes the Brahman as the 'tail and support' of the five sheaths of existence. Brahman is pure bliss or joy. Therefore bliss is the basis of all that exists. Here bliss is a value as well as a reality. This supports our thesis that bliss or love is the very ground of not only of human existence but of everything that exists in any form. The Kā?mir ?aivism is more direct. The creation according to it is the manifestation of the excessive joy (ānandātireka) of the Lord ?iva. Whatever therefore exists partakes in the excessive joy of the supreme reality and owes its existence to that reality.

The discussion of Indian Philosophy of love is incomplete if the views of Swami Vivekānanda and Mahatma Gandhi are not taken into account. Vivekānanda addresses to pertinent questions as what is the nature of love? and what do we really love? He has no hesitation in saying that we do not really love any 'other', but we love ourselves. Love consists in discovering oneself in the object of love. He says "None, O beloved, loves the husband for the husband's sake, but it is for the sake of the self who is in the husband, that the husband is loved; none, O beloved, loves the wife for wife sake, but it is for the sake of the self who is in the wife, that the wife is loved."⁴ If love is of this type, then in the act of love the distinction of 'me' and 'thou' would vanish, and if this is carried to its ultimate conclusion, will show that there is no other, that reality behind everything is just one supreme principle of love. He further maintains that the man is potentially divine and the need is to realise it. The service to humanity is the service to God. For him, strength is life, weakness is death. Expansion is life and contraction is death, and love is life while hatred is death. Love opens the most impossible gates; it is the gate to all the secrets of the universe. True love, for Vivekānanda, can be regarded as a triangle. The first angle is, love knows no bargain. So when a man is praying to God, "give me this, and give me that", it is not love. How can it be? "I give you my little prayer and give me something in return;" that is mere shopkeeping. The second angle is, love knows no fear. So long as God is regarded as a rewarder or punisher, there can be no love for him. The third angle, the apex, is, love is always the highest ideal. When we have reached the point where we can worship the ideal as the ideal, all arguments and doubts have vanished forever. The ideal can never escape, because it is a part of our own nature. The twin magical words of Gandhian Philosophy are truth and non- violence and they are intimately related with the notion of love. Mahatma Gandhi has rightly pointed out that when there is a pressing spiritual urge in the moments of anxiety and crisis then we clearly realise that we are in need of a supreme object of love, by having a faith in which we can derive strength, solace, peace and happiness. This supreme object of love is nothing but God. There can be no other way of apprehending God than the way of love. God is present in every one of us, and therefore, by a gradual process of extending love we can love everybody and thereby God Himself.⁵ This kind of love demands a kind of self-sacrifice- a sacrifice of the egoistic and selfish ways for the love and the good of others. The non-violence (ahi? sā) has the negative as well as positive connotation. The negative meaning of Ahi? sā is non-killing or non-injury, but this presupposes that a non-violent act is free from hatred, anger, malice and the like. In its positive aspect Ahi? sā is nothing but love. Love is a kind of feeling of oneness. In an act of love one identifies oneself with the object of his love, and this cannot be possible unless there is an effort to free mind from every such dispositions, like anger, hatred, anger malice, jealousy etc., that prevent the spontaneous outflow of love. It (love) is the energy that cleanses one's inner life and uplifts him, and as such, love comprehends such noble feelings as benevolence, compassion, forgiveness, tolerance, generosity, kindness, sympathy etc. To love, of course, is a very difficult discipline. It is easy to hate, but it requires supreme energy and strength to love. The task becomes still more difficult when one is required to love a person who is ordinarily to be regarded as an opponent. The non-violence involves sacrifice and suffering. Sacrifice, according to Gandhi, is an indispensable companion of

love. Love demands a going beyond, a self-transcendence. Only he can love who is selfless, who only believes in "giving" and not in "taking". He says "Love never claims, it ever gives. It ever suffers, never resents, never revenges itself."⁶ Satyāgraha appears to Gandhi almost as a religious pursuit based on love. It rests on a religious belief that there is one God behind everything and being, and as such the same God resides in every one of us. This is the basis of love, and unless one has this basic love for mankind he can not practice the technique of Satyāgraha.

III

This section is devoted to analyse the deeper meaning of 'Amor Ergo Sum' (I love therefore I exist) and also the justification or importance of love in human life. The normal statement which is quite easy to understand can be that 'I exist therefore I love.' Naturally one has to exist for loving someone or something. But the reverse situation that 'I love therefore I exist' needs the sophisticated philosophical tools for the proper understanding and appreciation of seminal idea. What is the basic difference between the man and robot? Human beings have emotions and sentiments which is lacking in robots. Love is considered to be the most pious emotion and sentiment of reverence. It is the enlargement of self and this amounts to seeing the same spiritual reality in every one. We can put this in another way that love is the precondition of human existence. it is truism to state the expansion or enlargement of self is life, while contraction or living with false ego is death. Love is life, whereas hatred is death.

The alternative model of 'Amor Ergo Sum' can be well justified if the significance of love in our existence or life is well articulated. Being deeply loved by someone gives us strength, while loving someone deeply gives us courage. We are most alive when we are in love.

There is only one happiness in this life, to love and be loved. Kierkegaard identifies love with caring. At the root of the flow of emotions, longings and desires is the wish for the best for the beloved. Thus he believes that in order to fulfil its nature, love should be first and foremost focused on the person who is being loved. Kierkegaard in his famous book 'Works of Love', remarks that "when one has fully entered into the realm of love, the world-no matter how imperfect -becomes rich and beautiful, it consists solely of opportunities for love." Gordon B. Hinckley upholds that "love is the very essence of life.

It is the pot of gold at the end of the rainbow. Yet it is not found only at the end of it. Love is at the beginning also, and from it springs the beauty that arched across the sky on a stormy day. Love is the security for which children weep, the yearning of youth, the adhesive that binds marriage, and the lubricant that prevents devastating friction in the home; it is the peace of old age, the sunlight of hope shining through death. How rich are those who enjoy it in their association with family, friends and neighbours! Love, like faith, is a gift of God. It is also the most enduring and most powerful virtue."

There are many different theories that attempt to explain what love is, and what function it serves. In psychological theory love is considered to be a very healthy behaviour as intimacy is a necessary part of human development. Love is treated as necessary ingredient of the process of natural selection in evolutionary theory. In spiritual theory it is a gift from God, whereas for some love is to be an unexplainable mystery akin to mystical experience. Love is different from the emotional attitude of

liking. Singer and Brown have understood liking to be a matter of desiring that at best involves its objects having only instrumental and not intrinsic worth. If you really love someone then that person is valuable in himself or herself, and therefore, can never be treated as a means. The intrinsic worth of such a person is always experienced by our enjoying consciousness of love. Love is to be explained in terms of identification: to love someone is somehow to identify yourself with him or her, whereas no such identification is involved in liking. We have to be cautious enough in demarcating the love from lust; as lust is bodily or sexual craving and therefore always demanding, while in love there is always a depth of intimacy which prompts us to have caring and sharing attitude and not a demanding one. True love is a union of two souls in which there is a fusion of the lovers', cares, concerns, emotional responses, and actions.

The justification of love simply refers to the question that why do we love? can there be any rational justification of love? Kant has tried to offer the rational justification in the manner of respecting the person and reverence for moral law. But if the love is a spontaneous outflow of pure emotions then rational justification will be an exercise in futility. I am here reminded of the famous Pascal's statement that "heart has its own reason which reason does not know", and this amounts to saying that reason commits suicide in such a situation. There can be only ethical or emotional justification of love if it is an act of emotion. One way to understand the question of why we love is as asking for what the value of love is: what do we get out of it? One kind of answer, which has its roots in Aristotle, is that having loving relationship promotes self- knowledge, in so far as your beloved acts as a kind of mirror, reflecting your character back to you.⁷ This can be considered as the "epistemic significance of love. In addition to this epistemic significance of love, several other reasons can be offered as to why it is good to love: it increases our sense of well- being, it elevates our sense of self-worth, and it serves to develop our character. Friedman considers love to be morally valuable because it supports relationships-loving relationships-that contribute to human well being, integrity and fulfilment in life."⁸ This kind of treatment to love can be said to represent the ethical or emotional justification of it.

The plausible scientific or physiological justification of love can be also furnished as it tends to lower our stress and tensions and blood pressure too, and at the same time it increases our longevity and keeps us healthy, fit and enthusiastic. Dopamine is a happiness hormone and it is secreted when we have the loving relationships with others. You will not find any person to be happy if he is living with the negative traits of hatred, jealousy and malice. Thomas has given the new dimension to the vexed issue of love by rejecting the idea that love can be rationally justified. For him, "there are no rational considerations whereby anyone can lay claim to another's love or insist that an individual love for another is irrational."⁹ La Follette has tried to rectify the standpoint of Thomas in this fashion that "Reason does not command that we love someone. Nevertheless, reason is vital in determining whom we love and why we love them." To construe the notion of reason for love as compelling us to love, as Thomas does, it to misconstrue the place such reasons have within our agency. If we make a little bit effort to analyse the Indian culture then the spiritual justification of love can be easily discerned. "Vasudhaiva Kutumbakam" is the highest ideal which means that the entire earth or the

world is one family. It is beautifully expressed as *ayam nijab paro veti gad?ā laghu cetsām/ Udāracaritānām tu vasudhaiva kutumbakam.*|| (This is mine, that is his, says the small minded. The wise believes that the entire world is one family). It is realising the interconnectedness of the world. The Bhagvat Gītā clearly states the ideal as being able to see everyone in oneself and oneself in everyone. In Western ethics we find the 'maximum happiness of maximum number' in altruistic hedonism or utilitarianism, but still somebody is deprived of happiness. The Indian ideal is all comprehensive as it clearly states that *Sarve Bhavantu sukhinah sarve santu nirāmayāh.*| *Sarve bhadra?i pa?yantu mā ka?cid dukkhabhāgbhavet.*|| (Let all sentient beings be happy, may no one suffer from illness. May all see what is auspicious, may no one suffer). The *Mahā karu?ā* (great compassion) of *Boddhisatva* and *Brahmavihara* (*Maitri, karu?ā muditā and upek?ā*) of Buddhism and *Loksa? graha* (social solidarity) of Bhagvad Gītā are intimately related with the well-being of all sentient creatures or they refer to effulgence of universal love. The wonderful guideline for ideal behaviour or conduct can be extracted from here that *ātmavat satta? pa?yé?d api kī?apipīlikam/ ātmanab pratikūlāni parē?ām na samācarēt.*|| (One should see as one's own self (have consideration) always even towards worms and ants. Things unfavourable to oneself, one should not (equally) do to others.) If we start seeing one's own self in others then there cannot be any possibility of hurting or hating them. Similarly if we don't expect or desire hatred or illwill for oneself from others then we should not do that to others. This is going to create the ideal society based on love and compassion.

We have up till now conceptualise the love as highest ideal or supreme value, and let us try to apply it to concrete existential problems which we are facing today. Family, as a social institution, is breaking just because of love, sacrifice, trust, cooperation and tolerance are fading at a rapid pace, and the outcome of such phenomena is broken family, divorce, insecurity and discontent among family members, and old age home for parents. The society is suffering from economic and social disparities, discrimination, communalism, regionalism and the various sorts of atrocities.

The reason behind them is hatred in place of love, jealousy and malice in place of cooperation and compassion. The global problems like terrorism, war, racial discrimination, environmental issues, and many other vexed geo-political issues are frightening and devastating, and therefore, they are seeking our immediate attention, and demanding the viable solutions. The factors behind these global issues and challenges are hatred, selfishness, the desire to establish one's own supremacy, the attitude of false pride, greed and the materialistic outlook. If the diagnosis is perfect then the prospect of curing the disease (suffering) is quite bright.

The solution lies in changing our mental framework and behavioural attitude. Love and compassion, the feeling of oneness or deep intimacy with all the sentient beings, humility or humbleness, selflessness and contentment, and finally the spiritualistic orientation, have all the potentials to lift us from the modern predicament. We can consider this to be an existential justification of love.

There are several justifications for love-rational, scientific, ethical, spiritual and existential-and all these justifications endorse our basic conviction that love is the necessary precondition of human existence. It can be further argued that love being the

necessary precondition of human existence certifies our proposed alternative model - 'Amor Ergo Sum' - to be quite cogent and substantially convincing. The ideal of Kingdom of God (Christianity), Perpetual Peace (Kant) and Rām Rājya (Hinduism) can be realised only on the basis of love and compassion.

*Philosophy Department,
Ewing Christian College, Prayagraj (UP)*

References :

1. *Thilly, Frank, A History of Philosophy, Central Publishing House, Allahabad, 2017, p. 121.*
2. *Ibid, p. 269.*
3. *Rinne, Pärttyli, Kant on Love, Walter de Gruyter GmbH., Berlin, 2020, p. 6.*
4. *Vivekānanda, Swami, Complete Works, III, Mayavati, Almora, Birth Centenary, Edition, 1963, p. 92.*
5. *Lal, B.K., Contemporary Indian Philosophy, Motilal Banarsidass Publishers Pvt. Limited, Delhi, 2013, p. 101.*
6. *Gandhi, M.K., Young India, University of California Libraries, 1922, 9-7-25.*
7. *La Follete, H., Practical Ethics (ed.) Oxford University Press, Oxford, 2003, p. 58.*
8. *Friedman, M.A., What are Friends for? Feminist Perspectives on Personal Relationship and Moral Theory, Cornell University Press, New York, 1993, p. 61.*
9. *Soloman, R.C. and Higgins, K.M., The Philosophy of Erotic love (ed.), Kanas University Press, Lawrence, 1991, p. 474.*

Institutional Voids in Microfinance Industry

Mayuri Jain

Introduction

Amartya Sen argued that poverty cannot be defined as merely insufficient income but it is rather the absence of wider range of capabilities, which includes ability and security to participate in political and economic systems. Financial inclusion is about bringing the capability to participate and thus contribute towards the socially and economically excluded people by providing equal opportunities. To achieve sustainable financial inclusion it requires a systemic effort which leverages technology, viable business models and appropriate regulatory frameworks in a cohesive manner.

There can be some potential costs linked with financial inclusion. There are also some of the important benefits that play out over the cycles of busts and booms and also through the periods of financial crises. The outcome is a more resilient, deeper and diversified financial system as well as healthier household and corporate sectors which would enhance financial stability. There are some risks to the Financial Institutions (FI) from financial inclusion. However, there is not enough evidence that would prove that these risks are systemic in nature. On the other hand, borrowers and savers in the lower segment are found to maintain more consistent financial behaviour when compared to the customers in other segments during any financial crises. Thus these lower segment savers and borrowers add to the resilience of financial institutions. The risks that prevail at institutional level are manageable with the given known prudential and regulatory tools, greater financial literacy and awareness along with effective practices of customer protection. Financial inclusion can be achieved through various transmission channels. However, which one is better research has to be performed to prove it. Microfinancing through microfinance institutes can be one such transmission channel.

Microfinancing can be defined as process or mechanism via which the need of finance, small financial demands are met. Moreover, by this process financial needs of rural areas can also be catered. This has multidimensional benefits along with financial inclusion such as improvement in economic growth, social development, prevention in corruption, reduced circulation of black money, reduction in crimes, improvement in living standard, adoption of technology, protection of cultural heritage, and many more. KPMG in its 2019 report “Microfinance- contributions to financial inclusion, opportunity and challenges ahead” states that since beginning microfinance has been

playing a major role in financial inclusion, by serving overlooked and smaller section of the society.

Microfinancing lending has been institutionalised and the institutions engaged in this are banks, Non-Banking Financial companies (NBFCs), Microfinance Institutions (MFIs), Non-Governmental Organisations (NGOs). With time every institution evolves, faces challenges, and has some voids so do microfinance lenders have some.

In layman language, institutional voids are those gaps which exist in particular markets which are like roadblocks to ideal transactions and interaction of sellers and buyers. In emerging economies, the institutional infrastructure to support market-driven economies and provide basic services often falls short. Institutional development is indeed a very complex process; There are dependent upon specific factors which are related to the social, historical and cultural forces that shape the region or country in question. In market economy, the ability of sellers and buyers to find each other and complete transaction in a seamless manner is very important.

Institutional voids occur in various forms: unreliable sources or absence of information which is related to the market, uncertain Intellectual Property (IP) regimes, uncertain regulation and inefficient judiciary are some possible examples.

Although these institutional voids are quite palpable impediments for effective transactions and proliferation of desired beneficial services (in our case financial inclusion, economic growth) they can be possible opportunities for the entrepreneurial interventions.

Institutional voids are the impediments to any thriving market economy and which cannot simply be mandated away with. It takes lot of work, a substantial amount time and expertise, for gaps in intermediaries and infrastructure to be first recognized and then addressed.

Spotting institutional voids provides an opportunity to assess market conditions, business opportunities and risk.

Objective of the Study

India being an emerging economy, aspires to tread the path which leads to socio economic development. For this financial inclusion is considered to be an important task. To serve this purpose particularly government has given thrust to the Microfinance Institutions (MFIs). These institutions face a lot of challenges as there are many institutional gaps or voids. The main objectives of the study are to find out the Institutional Voids in the microfinance industry. This paper also suggests possible solutions by delving into other country's and industry's experiences

Review of Literature

There have been many researches done on opportunities, challenges but less research has been done on the institutional voids that this industry has.

Buensuceso P., Dacanay Jovi C., Nito B (2011) researched that microfinance outreach has significant relationship with the financial inclusion. Also, financial inclusion has positive relationship with financial development. It also states that indicators such as size, capital depth, capital access, and Gross Domestic Product (GDP) contribute towards improving financial development.

According to Agrawal R. (2007), financial inclusion is the provision of providing affordable financial services, viz., remittance facilities, and access to payments, loans, savings and insurance services by the formal financial system to people those who tend to be excluded. In India, the policy framework in context of developing of the formal financial system, need of financial inclusion and covering more of the excluded population by formal financial system has always been emphasized.

Ekesiobi C. (2015) believes that microfinance banks by proving the poor with self-employment opportunities and thus making them creditworthy, inclusive growth would automatically follow.

Khanna and Palepu (1998), fundamental characteristic of any emerging economy is that the institutional structure is not very well developed as in advances economies. It facilitates smooth functioning of the product, capital and labour market in the advanced economy. These institutional voids increase the transaction cost significantly, and also create massive inefficiencies in the long run. Thus, government should develop strategies to build these institutions and provide “soft infrastructure” to the market economy.

Khanna and Palepu (2010) define an emerging market as “transactional arena” where due to lack of the presence of specialised intermediaries supporting and facilitating transaction between sellers and buyers counterparties cannot efficiently or easily come together. Examples of such intermediaries can be credibility enhancers (which includes auditors and other third-party certifications), information analysts (including Consumer Reports ratings and credit ratings), distributors and aggregator that provide low-cost matching services (including, labour unions trading companies, and banks), transaction facilitators (which includes equity exchanges and other platforms such as eBay), and regulators and adjudicators.

Hoskisson et al. (2000) the intermediaries mentioned by Khanna and Palepu (2010) are crucial to facilitate the transactions in all markets, as information asymmetry and difficulty in the anticipation of transaction discourage exchange and contracting. This absence thus result in high uncertainty as it is quite easy to engage in theft or corruption in an environment which lacks functional governance structures, transparent reporting standards, independent and strict checks and balances, and efficient and robust judicial adjudication systems.

Significance of the study

India is an emerging nation. Thus institutional structure is not very well developed as in other nations.

Microfinance industry is nascent in term of adopting many new developments that other industries have already adopted and excelled into.

One of the important issues that this industry faces are related to the end consumer. She and it has the least exposure to the current developments in the economic market. End consumers or borrower have no to little experience of getting engaged with formal financial system. it is least adapted to the modern electronic ways of doing any work. So, how it has to be taken out from clutches of informal moneylenders, made financially literate, have entrepreneurial skills etc. needs to be worked upon.

India being as emerging nation, microfinance industry being in nascent stage,

borrower being naïve; many institutional voids emerge unlike in other country or industry. This restricts smooth transaction between lender and borrower. Thus, Institutional voids in Microfinancing should be very meticulously found out and plugged for their efficient functioning. .

Methodology Research

The data for this study has been collected from secondary sources. Various news articles, books, magazines, research articles, referred journals, government websites and reports have been studied and analysed for data collection. Several important online courses have been attended for deeper understanding of the topic.

Institutional voids in Microfinance Industry in India

Financial Literacy:

Chandra Shekhar Ghosh 'CEO' of Bandhan Bank said that the microfinance borrowers still fall prey to social activism and rumours and thus stop repayment of their loans now and then. The only way of addressing it is by providing financial literacy to its borrowers. Morawczynski O. et al. (2010) states that lower level of financial literacy among the borrowers can be explained by their dependency on the creditors. Many informants in non-FI sites (where financial inclusion was absent) did not know about types of loans that were available at MFIs and banks. Those who could manage to access credit; they used intermediaries to facilitate the access. Moreover, these intermediaries were quite expensive.

Kanyundo S L. (2018), there exist a positive effect of financial literacy on the businesses performance. He urges government to provide financial literacy by considering the targeted population's traditions and culture. Further, government should avoid one size fits all concept as different businesses or say economic activities have different requirements to be catered.

National Centre for Financial Education (NCFE) is one such institution which provides financial literacy. Collaboration between Microfinance Institutions and National Centre for Financial Education (NCFE) would be very helpful. Reserve Bank of India's Financial Education Initiative should also be considered seriously for promoting financial literacy that is relevant to microfinancing.

Separate Regulator:

There is no separate regulator for Microfinance industry but there are SEBI and other industry specific regulators. There have been suicide epidemic linked to microfinance as quoted by BBC-news-South Asia. Lender used very coercive method to recover the loans. There is Code of Conduct regarding recovery of loans. It needs to be followed and government needs to ensure that it is not flouted at any cost by the lenders. Borrowers in India are poorer compared to other countries, having zero/no social security to pay back the amount taken in loan. So, they are left with no option but to suicide. According to Mersland R, Oystein S (2009) group lending can be a possible solution in such a situation. Government can look into this option to tackle this particular menace.

According to the lead economists, capping of interest rates by RBI can be unfavourable to the outreach of the MFIs. This is due to fact that small loans are very costly to service. In this case private institutions tend to stop their service and borrowers

are forced to borrow from money lenders. Capping of interest rates reduce the transparency in cost of credit. Lender tends to cover the cost of service by adding various service charges and application fees. Government can help in reducing the interest rates by introducing healthy competition among the various institutes.

Regulatory environment that facilitates promotion of the new business lines with idiosyncratic risks profiles which contribute relatively less to the systemic risks is necessary at this point of time. Consumer protection policy (which is a critical component of regulatory environment) aiming at meeting the financial inclusion goals while promoting the resilience and soundness of the financial system and of the institutions is needed.

Separate regulator can efficiently look into these matters as this industry has special requirements that cannot be overlooked.

Borrower's Scrutiny:

Scrutiny related to borrower's assets, their work experience, risk behaviour; previous financial behaviour are must before sanctioning loan. SKS's employees earlier reported that they were not given enough time to check borrower's asset before sanctioning loan. They had no time to take the follow up after providing loan as to what use has loan been put to. They complained that the pre-IPO pressure of pushing up the maximum possible loan was so much that they just blindly chased the targets. Loans were sanctioned in large number to those who couldn't put loan amount to better use and repay it. Later coercive methods to re-collect the loan back, and thus large number of suicides took place.

According to former RBI deputy governor, in this regard, credit information bureaus can play an important role. It can provide a database that would capture all the outstanding loans for an individual borrower and thus prevent over borrowing and multiple lending.

Government should make it a strict norm to have proper borrower's check before sanctioning loan. Follow up should be strictly done and properly reported. Government's rules should be strictly obeyed otherwise penalty provision need to be followed.

Borrower's Training :

Borrower should be trained properly in the field in which Imppoyce is working. If this is first exposure of the borrower then training regarding each and everything should be provided. Training related to Their business, related/ required skills should be provided. Knowledge related to the financial management should be provided compulsorily. If the borrower's business has already been established then how They can achieve further growth by using latest technology and following recent trends should be taught.

Kanyundo S L. (2018), suggests that government needs to focus more on secondary education where vocational and technical training is imparted to develop entrepreneurs, artisans, and managers for any informal sector in both urban and rural areas.

For this National Skill Development Corporation (NSDC) can be collaborated with the MFIs. Aspiring Minds, another initiative by the Indian Government can be pitched in with the MFIs training program

Liquidity crisis :

Co-lending by NBFCs and banks to microfinance institutes in addition to other priority sectors are suggested as per the guidelines of RBI to tackle liquidity crisis. It will be fully automated, having minimum human intervention at every possible step like from on-boarding the consumer/customer to loan disbursement and later monitoring. This will help in managing liquidity crisis. Other innovations can be done to manage this crisis.

Governance :

Approach towards MFI governance has to be industry specific. Due to interaction issue involved, there are problems of repayment and credit risk assessment. According to Adams and Mehran (2003), this makes governance of firm-customer interactions very crucial in this industry when compared to the other industries.

For resolving legal issue arising in this industry, there is a need for separate tribunals to work dedicatedly towards it. Place of jurisdiction need to be at proximity to the borrower. Transparency in transaction would help preventing corruption/ leakages. Morduch J. states that loan officer can bend rules for some particular potential borrowers which they won't do for other borrowers. This happens due to looseness in the application of rules. So, transparency is needed to handle these situations.

Operational Inefficiency :

Operational efficiency can be improved by having backward and forward linkages. Emphasis on e-commerce, proper market analysis should be given. Provision of training related to branding, marketing, accounting, market study to its employees should be there. Providing consultancy services to the customers can be a game changer. As performance of MFIs also depends on the performance of the borrowers, so helping borrowers to be more productive would make the functioning of MFIs smoother. Infrastructure should be user friendly.

There should be provision for Insurance against the non-repayment of loans.

Lack of Information :

Small borrowers do not have proper, sufficient information about the microfinance institute near to them. They don't have complete knowledge about how do they operate. So, integrated marketing communication should be very target specific. Communication should be in local language, and according to the average financial literacy, in short it should be customised. Information should be correct, reliable, understandable, reproducible, and easily accessible. Rating of MFIs by CRISIL, CARE, Microfin Analytics and others would facilitate filling institutional void of absence of information. Moreover, this would insist the institute to perform better so as have better grade/rating. This rating mechanism and benefit of knowing it has to be taught to the borrowers.

Operational Models:

Along with the prevailing 14 models, new models can be looked for, to be at pace with the changing time. Among the prevailing models, The Business Facilitator/ Business Correspondent (BC/BF) model for branchless banking can be very promising for smooth transaction. This would help to overcome barriers related to geography being posed for financial inclusion. For this model to be successful it is envisaged that appropriate technology be adopted at a sufficiently larger scale to make system fail proof

and viable. Moreover, BC/BF agents (who are first level of contact with the customers) must be compensated adequately. This would help them to see it as business opportunity which can provide them reasonable earning and they may not indulge in unethical practices.

Leveraging Big Data :

According to Sudha Suresh, CFO, Ujjivan Financial Services, this industry is in nascent stage for leveraging big data. It needs to work towards this at a greater pace. This would help in increasing the profitability. Integration of data that lies at various channels is one of the challenges related to big data implementation. Clarity on business goal which industry would like to achieve with investment into this data analytics is a must. Having a team which has knowledge of both the fields i.e., microfinance industry and the data analysis are challenging. Having a synergy of data integration, data infrastructure (data warehousing etc.), monitoring of the returns, well defined goals; big data are indeed a boon to the industry.

Conclusion

Like any other industry, microfinancing is plagued with many voids called institutional voids. This industry has great potential for both the social and economic development of the people, and thus of the nation. Thus, these institutional voids cannot be overlooked by any nation aspiring for poverty eradication and socio-economic upliftment of its citizens. Some of the important voids are in the area of financial literacy, government's regulation, borrower's scrutiny, borrower's training, liquidity availability, governance, operational efficiency, information availability, operational models, big data leveraging. Synergy between the current practices and new developments is the way ahead. Tried and tested developments done in other countries and other industries can be looked upon by our nation in this industry on a trial basis. Implementation of the changes has to be customised according to the targeted population's and industry's needs.

*Institute of Management Studies,
Devi Ahilya Vishwavidyalaya, Indore (M.P)*

References :

- Adam, R and Mehran (2003), "Exploring the Corporate Governance in Lloyd's and the Co-operative Bank: the Role of the Board", *Journal of Business and Management Sciences*. 2015, Vol. 3 No. 1, 6-19
- Agrawal R, (2007), "Financial Inclusion: A Challenging Task Ahead", *Indian Institute of Management Kozhikode*
- Buensuceso P., Dacanay Jovi C., Nito B (2011), "Microfinance, Financial Inclusion and Financial Development: An Empirical Investigation with an International Perspective", *University of Asia and the Pacific Conference: Managing Services in the Knowledge Economy (MSKE 2011)*
- Eden L, Hoskisson RE, Lau CM, Wright M., (2000) "Strategy in emerging economies", *Academy of Management Journal*
- Ekesiobi C. (2015) "Attaining inclusive growth through financial inclusion and poverty alleviation in Nigeria: The Role of Microfinance Banks", *Nigerian Journal of Economic and Social Studies*
- Kanyundo S L. (2018), *The Impact of Financial Literacy on Business Performance, Lilongwe Case Study, Degree research paper*
- Khanna T, Palepu KG. (1998), "Institutional voids and policy challenges in emerging markets", *Harvard Business School, Brown Journal of World Affairs*

Khanna T, Palepu KG. (2010), "Winning in Emerging Markets: A Road Map for Strategy and Execution" Harvard Business Review, Press: Boston, MA.

KPMG 2019 report "Microfinance- contributions to financial inclusion, opportunity and challenges ahead"

Mersland R, Strøm O, (2009), "Performance and Governance in Microfinance Institutions", *Journal of Banking and Finance*, 2009, 33(4), pp 662-669

Morduch J. (1998) "Does Microfinance Really Help the Poor? New Evidence from Flagship Programs in Bangladesh", Department of Economics and HIID Harvard University

Morawczynski O, Hutchful D, Rangaswamy N, Cutrell E (2010) *The Bank Account is not Enough: Examining Strategies for Financial Inclusion in India*, International Institute of Information Technology, Hyderabad

Websites

https://economictimes.indiatimes.com/news/economy/finance/microfinance-gets-another-blow-amid-coronavirus-pandemic/articleshow/74920961.cms?utm_source=contentofinterest&utm_medium=text&utm_campaign=cppst

<https://www.rbi.org.in/FinancialEducation/Home.aspx>

[https://www.ncfe.org.in/#:~:text=National%20Centre%20for%20Financial%20Education,and%20Development%20Authority%20\(PFRDA\).](https://www.ncfe.org.in/#:~:text=National%20Centre%20for%20Financial%20Education,and%20Development%20Authority%20(PFRDA).)

<https://www.thehindu.com/news/national/Small-loans-add-up-to-lethal-debts/article13325024.ece>

<https://www.aspiringminds.com/news/news/media/heres-how-talent-evaluation-company-aspiring-minds-quantifies-employability-to-bridge-skill-gaps/>

<https://nsdcindia.org/>

India's micro-finance suicide epidemic

<https://rbidocs.rbi.org.in/rdocs/Bulletin/PDFs/06SPBUL120312.pdf>

HR Khan: Financial inclusion and financial stability: are they two sides of the same coin?

<https://www.bbc.com/news/world-south-asia-11997571>

<http://www.businessworld.in/video/MFIs-are-at-nascent-stage-for-leveraging-big-data/23-07-2019-2002/>

<https://economictimes.indiatimes.com/cap-the-interest-rate-on-microfinance/articleshow/1457465.cms>

https://www.arohan.in/Industry_Code_of_Conduct.pdf

https://economictimes.indiatimes.com/cibil/articles/credit-bureaus-scoring-technology-key-pillars-of-sustainable-retail-lending/becreditsavvy_showv2/61836297.cms

Spirituality, Resilience, and Life satisfaction in Mindful Yoga Practitioners

Garima Gupta

Spirituality

Spirituality is considered a universal, human specific phenomenon (Krsiak, 2008) and characterised by a search for and a belief in something sacred beyond the material world (Emmons, 2006; Hill & Pargament, 2003). In traditional yogic terminology, it is referred as spirit or soul, the deep central of each individual considered as pure consciousness (Baktay, 1992; Rama et al., 1976; Swartz, 2015). Marsella (1999) highlighted the significance of spirituality that it provides a set of values and meanings to give order to the world, in other words a “sense of coherence” as acknowledged by Erikson [1950] (1963). These beliefs about one's life and the world, according to Antonovsky (1980), may enable individuals to cope with stressful circumstances. A study by Womble et al., 2013 demonstrated that spirituality was the best predictor of physical, emotional, and cognitive outcomes in university students. Febris et al., 2017 conducted a study on college students and highlighted since college students are in a transitional stage in their lives, and working with spirituality could be a helpful coping mechanism and ward off uncertainty. In Iran, Feizi et al., (2020) reported that in Iran, students had a fair amount of spirituality and spiritual values that have a specific place in Islam which assist people to discover inner peace and improve their capacity to successfully handle stress.

Thoresen (1999) and D'Souza (2002) mentioned that majority of patients value their spirituality and expect their therapists would understand their sensitivity towards spiritual needs. Further, numerous other researches attempting to study spirituality with other psychological variables have stated that spirituality is related with mental health (Fetzer, 2003) i.e., lower levels of depressive symptoms, prevention of suicidal behaviour (Colucci 2008, Colucci & Martin 2008; Colucci & Lester 2013; Moreira-Almeida et al., 2006; Rasic et al., 2009), while highly related with increased subjective well-being, positive affect, self-esteem, personal growth, and life satisfaction (Bergin, 1997; Emmons, 2006; Komninos, 2009; Powers et al., 2007; Wheeler & Hyland, 2008). According to the findings of Indian study by Goel and colleagues (2006) on the spiritual beliefs of healthcare professionals, they revealed that out of 150 members of the medical field, 72.4% strongly or very strongly believed in the existence of the spiritual

realm. Of these, 24.4% of doctors and 16.4% of paramedical staffs believed that the spiritual domain took precedence over all other factors in maintaining health. Nearly 73% of doctors and 50% of paramedics agreed that a person who is spiritually healthy may deal better with their illness. In sync with this observation, a study conducted at Duke University study by Koenig, George, and Titus (2004), demonstrated how hospitalized older patients showed higher prevalence of religious practises, attitudes, and spiritual beliefs, had better psychological and physical health and a stronger sense of social support than younger hospitalised patients. Additionally, those who identified as neither spiritual nor religious had a tendency to have more medical co-morbidities. A recent Spanish survey with 3480 participants highlighted the potential importance of the spiritual dimension amid COVID-19 pandemic. Spiritual well-being was found to be the strongest protective factor in predicting models for depression, anxiety, and stress-related symptoms.

Resilience

Resilience is defined as capacity to 'bounce back' i.e., cope with, overcome, and become stronger in adversities. Rutter (1999) stated that resilience can be an interaction between risk and protective factors. However, based on the researches, it has been viewed as a personality trait which is stable over time, while others consider as a changed in behaviour contingent upon circumstances. Further, Masten (2004) has looked upon as an adaptation than risk or adversity. Fredrickson (2001) has mentioned that positive emotion speeds recovery from negative emotions and fuel resilient coping in individuals which is why resilient person experience more positive emotions in the midst of crisis. Thus, greater level of positive emotions, in turn help resilient people to bounce back to the pre-crisis functioning. Resilience is also correlated with life satisfaction in Turkish university and Chinese medical students with symptoms of ADHD (Shi et al., 2018) and Zubir et al., 2018 have mentioned that resilience predicts wellbeing among university students from Pakistan and Russia. Studies examining the effect of yoga and resilience have mentioned that ten minutes practice of yoga help calm the nervous system and improves resilience to stress (Bo Forbes, 2013). Other observation of effectiveness of yoga on stress relief has also demonstrated similar finding.

Life satisfaction

Life satisfaction is a self-reported measure of one's quality of life and a crucial factor in one's overall well-being (Yap & Baharudin, 2016) and includes people's cognitive assessments of their own lives, which is the main component of a person's subjective well-being (Joshnloo, 2013). It is a general evaluation of one's life, including health conditions, social relations, and financial status (Röcke, 2021), which plays a pivotal role in achieving a better life (Headey et al., 1993). Numerous research has revealed a connection between poor health outcomes such as depression, social anxiety, addictive behaviour, substance abuse, suicide and low life satisfaction (Koivumaa-Honkanen et al., 2001; 2004; Eng et al., 2005; Bellis et al., 2012; Rogowska et al., 2020). Yoon and Lee (2004) have showed how the cognitive aspect of well-being gets positively influenced by spirituality, religion, and life pleasure. It was found in numerous studies that people who participated in religious and spiritual pursuits had a more optimistic outlook on life (Ramsay et al., 2019). Smith and Hollinger-Smith (2015) have

found resilience to be positively associated with happiness and life satisfaction. Based on these observations, it can be inferred that life satisfaction is increased through spirituality, improved mental health, and resilience.

In view of above, the present study has taken these aforesaid variables to examine the differences between mindful yogic practitioners and non-practitioners as yoga techniques are gaining popularity among the public and are frequently promoted in the media as a way to reduce stress and enhance health (Barclay, 2018; Walton, 2018). Anyone may practise yoga and no infrastructure is needed and which has an invigorative effect. According to the Centers for Disease Control and Prevention, the percentage of adults practising yoga or meditation showed rise from 9.5 percent to 14.3 percent and from 4.1 percent to 14.2 percent, respectively, between 2012 and 2017 (Clark, 2018). To learn more about how mindful yoga practices could help preserving people's coping in tough times and satisfaction with life, more thorough research is required. Keeping this in mind, the present study aims at examining how spirituality, resilience, and satisfaction in life gets improved through mindful yoga practices, as mentioned by the other researchers (Büssing et al., 2012a; Csala et al., 2020; MacDonald, 2013) fewer attempts have been conducted to investigate importance of spirituality in mindful yoga practices.

Method

Sample :

The present study was carried out on 157 adults (79 yogic practitioners and 78 nonpractitioners). The age of the sample ranged between 20-30 years with mean age 25.35 years. Since, the study aimed at exploring the pattern of spirituality, resilience, and life satisfaction in adults practicing mindful yoga therefore, individuals practicing mindful yoga daily for thirty minutes were included with age matched controls (hereby referred as non-practicing group). Convenience sampling was used for the study. Maximum participants preferred English language to speak, understand, and write.

Tools :

Following tools were used in the present study. The details are given below: -

1. **Spirituality Assessment Scale** was developed by Howden and Judy (1992). This is a 28 items 6-point Likert scale ranging from "1" Strongly Disagree to "6" Strongly Agree with no neutral option. The internal consistency reliability of the entire scale was found .91. High score designates greater spirituality. The reliability on this sample was found satisfactory too.
2. **The Satisfaction with Life Scale (SWLS)** developed by Diener, Emmons, Larsen, and Griffin, (1985) was used. The SWLS is a global cognitive judgment of one's life satisfaction of life and consists of 5 items. The scale doesn't assess satisfaction with life domains for example, health or finances but allows participant to integrate and evaluate these domains in whatever way they choose. The respondents are required to respond by marking a single point on a 7-point scale with 1 being 'strongly disagree' and 7 being 'strongly agree' with the statement. The internal consistency of this scale with alpha coefficient was found to be moderate (0.73).
3. **The Resilience Scale** TM developed by Wagnild and Young (1987) is a 25 statements questionnaire ranging from "1" (strongly disagree) to "7" (strongly

agree). Responses are summed to produce a totalScore. Cronbach's alpha ranges from .91. Higher score on the scale indicates greater resilience. The reliability was found satisfactory too for the current sample.

Procedure : Informed consent was obtained prior to data collection, informing them that their responses will be kept confidential. Aforesaid tools were administered along with personal data sheet. First of all, individuals practicing daily mindful yoga for thirty minutes were assessed on above-mentioned inventories, then age matched counterparts were also contacted to fill the data. Scales were used in accordance with the specified standard instructions printed on each questionnaire. Additionally, the scoring was completed with the prescribed procedure of each scale.

Results

In order to address the objective of the study, bivariate correlation was computed to examine the hypothesis. The findings of the correlational computation are presented in Table 1.

Table -1: Correlations between components of self-compassion, with measures of happiness and life-satisfaction.

Variables	Spirituality	Resilience	Life satisfaction
Spirituality	1	.870**	.793**
Resilience		1	.730**
Life Satisfaction			1

Correlation is significant (2-tailed) at **(.01) & *(.05) level

It is evident from the above table that spirituality correlated significantly and positively both with resilience and life satisfaction. Resilience also correlated significantly and positively with life satisfaction. The observed pattern suggests that higher spirituality is related with greater resilience and satisfaction in life. Further, greater resilience is associated with increased satisfaction in life.

Table 2: Summary of One-way ANOVA on the measure of Spirituality, Resilience, and Life satisfaction in mindful yogic practitioners and counterparts.

		Sum of Squares	df	Mean Square	F	Sig.
Spirituality	Between Groups	47915.808	1	47915.808	53.452	.000
	Within Groups	138946.294	155	896.428		
	Total	186862.102	156			
Resilience	Between Groups	45818.806	1	45818.806	47.894	.000
	Within Groups	148283.092	155	956.665		
	Total	194101.898	156			
Life satisfaction	Between Groups	3070.799	1	3070.799	61.911	.000
	Within Groups	7687.978	155	49.600		
	Total	10758.777	156			

In order to examine the group differences on spirituality, resilience, and life satisfaction. One-Way ANOVA was performed. It is evident from the table 2 that significant differences exist between mindful yoga practitioners and nonpractitioners on spirituality [$F(1, 156) = 53.452, p = 0.000$], resilience [$F(1, 156) = 47.894, p = 0.000$] and life satisfaction [$F(1, 156) = 61.911, p = 0.000$] as well. This pattern of observation suggests that individuals practising mindful yoga have greater spirituality, resilience and satisfaction with life compared to counterparts.

Table 3: Mean differences in mindful yoga practitioners and non-mindful yogic on various dimensions of spirituality, resilience, and life satisfaction

		N	Mean	Std. Deviation
Spirituality	Non-practicing group	78	145.71	37.563
	Practicing group	79	180.65	19.710
Resilience	Non-practicing group	78	123.78	36.655
	Practicing group	79	157.95	23.973
Life satisfaction	Non-practicing group	78	22.22	8.225
	Practicing group	79	31.06	5.637

As indicated by the table 3 that mindful yogic practitioner group have showed greater spirituality ($M = 180.65$), resilience ($M = 157.95$), and satisfaction with life ($M = 31.06$) compared to counterparts ($M = 145.71; 123.78; 22.22$) respectively.

Discussion

The current study aimed at exploring the correlation among spirituality, resilience, and life satisfaction as well as finding out the differences amongst aforesaid variables in individuals practicing mindful yoga and non-practitioners. It was found that spirituality correlated positively both with resilience and life satisfaction. These findings corroborate the earlier observation and documented similar kind of pattern (Lim & Putnam, 2010; Ramsay et al., 2019; Shahzadi & Khan, 2022; Yoon & Lee, 2004). As mentioned in literature spirituality plays pivotal role and affect various mental, physical, and social health as well as coping strategies in human which helps people to cope better in uncertain times (Dhama et al., 2017). Thus, spirituality operates in numerous ways to protect individuals from damaging behaviours and cultivating positive behaviours such as fighting with hardships. Spiritual values help to maintain a positive view on life and help people to understand the meaning of adverse situations (Werner, 1984, 1996). Further, spirituality also helps individuals to become self-aware which in turn boost their life-satisfaction. Spirituality helps individual to feel connected to higher being, increases great sense of meaning in life, high self-compassion which covers the highest meaning in one's life and that is why it is likely to experience a greater sense of life satisfaction and overall well-being.

Another observed finding that individuals who practice daily mindful yoga would have greater spirituality, are resilient and would have huge satisfaction in life than their counterparts. The current observations are in sync with earlier findings who have discovered the similar observation. For example, Szabolcs and colleagues (2023) have examined the difference in four characteristics rooted in Eastern philosophy and

religious practices, i.e., spirituality, mindfulness, body awareness, and self-compassion in healthy individuals regularly practicing yoga, judo, and aikido along with another group of controls and documented that practitioners of the exercises of Eastern origin have reported greater spirituality than control participants, with practitioners of yoga reporting the highest values. Further, in a study by Gaiswinkler and Unterrainer (2016) demonstrated that highly involved yoga practitioners showed increased mindfulness and religious/spiritual well-being reported lower psychiatric symptoms like depression compared to those who were marginally/moderately yoga-involved or control groups. The reason why the mindful yogic practitioners have greater spirituality is that mindful yoga helps practitioners to communicate with the divine and their inner selves which in turn likely to develop a stronger connection with the divine, and aid them in navigating the difficulties and complexities of modern life. Further, it was also mentioned that in studies that Ashram Yoga is a form of exercise that can aid individuals in developing a more balanced and contented outlook of life as well as a stronger feeling of purpose and meaning in their lives (Csala et al., 2021). Thus, yoga practise may be linked to improved levels of spiritual well-being, increased optimistic attitude on life, inner satisfaction, and a decrease in existential worries. In light of this, it can be said that yoga may be a technique that promotes spiritual health and well-being, spiritual development, and the emergence of a consolidated worldview.

Further, mindful yoga practitioners have also showed increased resilience than the controls. The current observation is in line with previous other results. For instance, Upadhyay and associates (2022) have also reported similar findings where they have examined how seasoned yoga practitioners is related to lower levels of stress, anxiety, depression, and higher level of wellbeing and joy compared to the active and placebo comparators. These observations illustrate the impact of regular yoga practices on mental health even during the tuff and uncertain times. Similar observation has also been mentioned in the earlier researches (Ramsay et al., 2019). The observations are explained on the basis of yoga approach to self-regulation and resilience developed by Sullivan et al., (2018) where it was emphasised the significance of discriminating prakriti (i.e., changing reality) and purusha (i.e., everlasting reality) by developing the 'witness attitude' which brings closer to purusha and real self of the practitioners. It is believed that with this attitude, people acquire more awareness about their maladaptive behaviour and nurture their resilience by disidentifying and creating distance from their prakriti related concerns. Additionally, dispositional mindfulness as well as attitude of acceptance are linked to less psychiatric symptoms, after exposure to trauma (Thompson et al., 2011). However, it seems contradictory at first that enhanced awareness and contact with the immediate moment provided by mindfulness may enable trauma-exposed people to bear feelings of arousal or reexperiencing without resorting to avoidance. Moreover, it might be beneficial for these people not to ruminate from dwelling on the past or the future.

One more study conducted in collaboration with Brigham, Women's Hospital and Harvard Medical School in Boston on adolescents have revealed that adolescents can better handle stress and manage mental health problems through yoga as it helps in developing resilient traits in people. The yoga's incredible power lies in helping one to

overcome emotional traumas with a simple routine practice. Further, daily yoga practice can improve/awaken cortisol in human beings and help combat stress resilience. Vanessa Kasties (2020) has documented a neurological explanation that by practicing mindfulness/yoga may have preventive properties by affecting one's neural mechanisms involved in stress processing, such as the fronto-limbic network for emotion regulation, the insula for improved body awareness, and the default mode network for reduced self-referential thoughts and rumination.

Another observation that individual practicing mindful Yoga, have reported more satisfaction with life than the non-practicing group in this study. The finding is in line with study of Lee (2004) where he explored the relationship between Hatha Yoga practice and subjective well-being in yoga practice beginners (01-10 months) and advanced Hatha yoga practitioners (02 years). Results revealed advanced Hatha yoga practitioners demonstrated higher levels of subjective well-being (SWLS&PANAS) and the spiritual well-being compared to beginners. Other study by Impett, Hirschman, and Daubenmier (2006) demonstrated the potential of yoga to promote embodiment and well-being (life satisfaction) on 89 participants enrolled in a two years yoga course. It was found that after completion of the course, men and women had increased body awareness, increased positive affect as well as satisfaction with life, and decreased negative affect. Similarly, Sinclair and Myers (2004) examined an association between poor body image and lower life satisfaction in adulthood among women. They were given training for this and after several years of yoga practice their perception for self-objectification and decreased body dissatisfaction changed and they reported greater marital, familial, occupational, and other life satisfaction variables. Thus, it was inferred that practice of yoga increases self-acceptance and satisfaction with life while reducing dissatisfaction with body image.

From the above study it was inferred that regular practice of yoga led to higher life satisfaction, positive affect, and spiritual well-being. In a study (Sharma, Yadav, & Srisrimal, 2020) it was found that life satisfaction was reported higher for yoga practitioners than non-yoga practitioners. Likewise, Singh, Chore, and Bendre (2022) exhibited significant difference in the psychological well-being of practitioners and non-practitioners of Yoga/Meditation. Similar observations have been documented that mindful/yoga practices are supremely grounded not only on developing attentive attitude in one's actions and behaviours but also becoming greater attentive of one's inner physical, mental, and emotional states (Gard et al., 2014; Tang et al., 2015; Guendelman et al., 2017). This observation can be explained on the basis of mindfulness to meaning theory where mindfulness promotes cognitive-affective processing via cognitive reappraisal, that improves people's wellbeing (Garland et al., 2015a). Mindfulness, reshapes person's focus on experience therefore they engage themselves more in positive cognitive reappraisal. It further increases one's ability to regulate negative emotion and appreciate positive affect thereby facilitating life satisfaction (Garland et al., 2015b). Additionally, yoga helps to gain inner peace, self-reflection, through calming one's mind which in turn lead to access a deeper level of consciousness (Marlatt & Kriseller, 1999) and stretching positive impact on anxiety and depression leading to happiness (Amanda Geldert, 2017). Overall, the study was especially interested in whether or not mindful

yoga practitioners would report spirituality, resilience, and satisfaction in life and a support the proposition that yoga practitioners are likely to experiencing the aforesaid variables compared to non-practitioners.

Conclusion

The findings of the study revealed how practicing mindful yoga may lead to a sense of spirituality, resilience, and satisfaction in life inferring that practicing mindful yoga has significant impact on life satisfaction than non-mindful yoga practitioners. The observation can be used in various setting such as therapy or counselling where intervention of mindful yoga program may be used to improve the lifestyle or coping with adverse or unpredictable situation. Counsellor's may be encouraged to emphasize involving spirituality when handling issues related to resilience thus by practicing regular mindful yoga, spiritual benefits may manifest. Further, future research is encouraged to gather more evidence and a deeper exploration of the specific effects of yoga on spirituality.

*Department of Psychology,
Arya Mahila P.G. College, Varanasi-221011*

References :

- Antonovsky, A. (1980). *Health, Stress and Coping*. San Francisco: Jossey-Bass.
- Baktay, E. (1992). *A Diadalmas Jóga. Rádzsa Jóga; a Megismerés És Önuralom Tana*. Földváry: Szukits Könyvkiadó.
- Barclay, E. (2018). *The growth of yoga and meditation in the US since 2012 is remarkable*. Vox Published November 8, <https://www.vox.com/2018/11/8/18073422/yoga-meditation-apps-health-anxiety-cdc> (2018), Accessed 5th Jan 2021
- Bellis, M. A., Lowey, H., Hughes, K., Deacon, L., Stansfield, J., & Perkins, C. (2012). *Variations in risk and protective factors for life satisfaction and mental wellbeing with deprivation: a cross-sectional study*. BMC Public Health, 12, 492. doi: 10.1186/1471-2458-12-492
- Bergin, A. E. (1997). "Preface," In P. S. Richards & A. E. Bergin (Eds.), *A Spiritual Strategy for Counselling and Psychotherapy*. Washington, DC: American Psychological Association.
- Clarke, T.C., Barnes, P.M., Black, L.I., Stussman, B.J., & Nahin, R.L. (2018). *Use of yoga, meditation, and chiropractors among U.S. Adults aged 18 and over NCHS Data Brief (325)*, pp. 1-8.
- Colucci, E., & Lester, D. (2013). *Suicide and Culture: Understanding the Context*. Cambridge: Hogrefe Publishing.
- Colucci, E., & Martin, G. (2008). *Spirituality and religion along the suicidal path*. Suicide and Life-Threatening Behaviour, 38, 229–44.
- Colucci, E. (2008). *Recognizing spirituality in the assessment and prevention of suicidal behavior*. World Cultural Psychiatry Research Review, 3, 77–95.
- Csala, B., Springinsfeld, C. M., & Köteles, F. (2021). *The Relationship Between Yoga and Spirituality: A Systematic Review of Empirical Research*. Front Psychol. doi: 10.3389/fpsyg.2021.695939.
- D'Souza, R. (2002). *Do patients expect psychiatrist to be interested in spiritual issues?* Australasian Psychiatry, 10(1), 44–47.
- Dhama, K., Gupta, R., Singla, A., Patthi, B., Ali, I., Niraj, L. K. et al. (2017). *An insight into spiritual health and coping tactics among dental students; a gain or blight: a cross-sectional study*. J Clin Diagn Res. 11, 3–8.
- Diener, E., Emmons, R. A., Larsen, R. J., & Griffin, S. (1985). *The Satisfaction with Life Scale*. Journal of Personality Assessment, 49, 71-75.

- Emmons, R. A. (2000). Is spirituality an intelligence? Motivation, cognition, and the psychology of ultimate concern. *Int. J. Psychol. Relig.* 10, 3–26. doi: 10.1207/S15327582IJPR1001_2.
- Eng, W., Coles, M. E., Heimberg, R. G., & Safren, S. A. (2005). Domains of life satisfaction in social anxiety disorder: relation to symptoms and response to cognitive-behavioral therapy. *J. Anxiety Disord.* 19, 143–156. doi: 10.1016/j.janxdis.2004.01.007
- Erikson, E. H. (1963). *Childhood and Society*. New York: W. W. Norton. First published 1950.
- Feizi, S., Nasiri, M., Bahadori, H., Amiri, M. H. & Mirhosseini, H. (2020). The relationship between spiritual well-being and happiness among healthcare students: application of the spiritual health questionnaire for the Iranian population. *Heliyon*, 6(11).
- Fredrickson, B. L. (2001). The role of positive emotions in positive psychology. The broaden-and-build theory of positive emotions. *Am Psychol.*, 56(3), 218–26. doi: 10.1037//0003-066x.56.3.218.
- Gaiswinkler, L., & Unterrainer, H. F. (2016). The relationship between yoga involvement, mindfulness and psychological well-being. *Complementary Therapies in Medicine*, 26, 123–127. doi.org/10.1016/j.ctim.2016.03.01
- Gard, T., Noggle, J. J., Park, C. L., Vago, D. R., & Wilson, A. (2014). Potential self-regulatory mechanisms of yoga for psychological health. *Front Hum Neurosci.* 8, 770. doi: 10.3389/fnhum.2014.00770.
- Garland, E. L., Farb, N. A., Goldin, P. R., & Fredrickson, B. L. (2015a). The mindfulness-to-meaning theory: extensions, applications, and challenges at the attention–appraisal–emotion interface. *Psychol. Inq.* 26, 377–387. doi: 10.1080/1047840X.2015.1092493
- Garland, E. L., Farb, N. A., Goldin, P. R., & Frederickson, B. L. (2015b). Mindfulness broadens awareness and Builds Eudaimonic meaning. *Psychol. Inq.* 26, 293–314. doi: 10.1080/1047840X.2015.1064294
- Geldert, A. (2017). Effects of Yoga and Mindfulness-Based Practices on Stress and Anxiety in Children and Adolescents. *Social Work Master's Clinical Research Papers*, 734.
- Goel, N.K., Sharma, M.K., Kalia, M., Kaur, G., Kumar, R., Kanwalpreet, & Swami, H.M. (2006). Value of Spiritual Dimension in Health Care System of Chandigarh, Union Territory. *Indian Journal of Community Medicine*, 31(4).
- Guendelman, S., Medeiros, S., & Rampes, H. (2017). Mindfulness and Emotion Regulation: Insights from Neurobiological, Psychological, and Clinical Studies. *Front Psychol.* 8, 220. doi: 10.3389/fpsyg.2017.00220.
- Headey, B., Kelley, J., & Wearing, A. (1993). Dimensions of mental health: life satisfaction, positive affect, anxiety and depression. *Soc. Indic. Res.* 29, 63–82. doi: 10.1007/BF01136197
- Hill, P. C., & Pargament, K. I. (2003). Advances in the conceptualization and measurement of religion and spirituality. Implications for physical and mental health research. *Am. Psychol.* 58, 64–74. doi: 10.1037/0003-066x.58.1.64.
- Howden, J. W. (1992). Development and Psychometric Characteristics of the Spirituality Assessment Scale. (Unpublished Doctoral Dissertation). Houston, TX: Texas Women's University.
- Impett, E. A., Daubenmeier, J. J. & Hirschman, A. L. (2006). Minding the body: Yoga, embodiment, and well-being. *Sexuality Research and Social Policy*, 3, 39–48.
- Joshanloo, M. (2013). The influence of fear of happiness beliefs on responses to the satisfaction with life scale. *Personality and Individual Differences*, 54(5), 647–651.
- Kasties, V. (January, 2020). The mindful brain: why practicing mindfulness can make you more resilient to stress. <https://blog.neuromag.net/2020/01/05/the-mindful-brain/?unapproved=23855&moderation-hash=9319478d1f674e7b924a23c5d5bf6a70#comment-23855>
- Koenig, H. G., George, L. K., & Titus, P. (2004). Religion, spirituality, and health in medically ill hospitalized older patients. *Journal of the American Geriatrics Society*, 52(4), 554–562.
- Koivumaa-Honkanen, H., Honkanen, R., Viinamäki, H., Heikkilä, K., Kaprio, J., & Koskenvuo, M. (2001). Life satisfaction and suicide: a 20-year follow-up study. *Am. J. Psychiatry*, 158, 433–439. doi: 10.1176/appi.ajp.158.3.433

- Koivumaa-Honkanen, H., Kaprio, J., Honkanen, R., Viinamäki, H., & Koskenvuo, M. (2004). Life satisfaction and depression in a 15-year follow-up of healthy adults. *Soc. Psychiatry Psychiatr. Epidemiol.* 39, 994–999. doi: 10.1007/s00127-004-0833-6
- Komninos, T. (2009). *Prosocial Behaviors: A Moderator of The Relationship Between Spirituality and Subjective Well-Being*. Bronx, NY: ETD Collection for Fordham University, 1–120.
- Krsiak, M. (2008). Spirituální jevy vyskytující se u každého člověka a zdraví [Spiritual phenomena occurring in everybody and health]. *Cas Lek Cesk.* 147(3), 148–54.
- Lee, G. W. (2004). *The subjective well-being of beginning vs. advanced Hatha yoga practitioners*. (Unpublished Doctoral Dissertation). University of Hawaii.
- Lim, C., & Putnam, R. D. (2010). Religion, social networks, and life satisfaction. *American sociological review*, 75(6), 914–933.
- MacDonald, D. (2013). A Call for the Inclusion of Spirituality in Yoga Research. *Journal of Yoga & Physical Therapy*, 03(03).doi: 10.4172/2157-7595.1000138
- Marlatt, G. A., & Kriseller, J. L. (1999). Mindfulness meditation. In *Integrating Spirituality into Treatment*. T. E. Miller (Ed). Washington, D.C.: American Psychological Association.
- Marsella, A. J. (1999). In search of meaning. Some thoughts on belief, doubt, and wellbeing. *The International Journal of Transpersonal Studies*, 18, 41–52.
- Masten, A. S. (2001). Ordinary magic: Resilience processes in development. *American Psychologist*, 56(3), 227–238.
- Moreira-Almeida, A., Neto, F. L., & Koenig, H. G. (2006). Religiousness and mental health: a review. *Braz J Psychiatry*. 28(3), 242–50. doi: 10.1590/s1516-44462006000300018.
- Powers, D. V., Cramer, R. J., & Grubka, J. M. (2007). Spirituality, life stress, and affective well-being. *J. Psychol. Theol.* 35, 235–243.
- Rama, S., Ballentine, R., & Ajaya, S. (1976). *Yoga & Psychotherapy: The Evolution of Consciousness*. New York: Himalayan Institute Press.
- Ramsay, J. E., Tong, E. M., Chowdhury, A., & Ho, M. H. R. (2019). Teleological explanation and positive emotion serially mediate the effect of religion on well-being. *Journal of personality*, 87(3), 676–689.
- Rasic, D. T., Belik, S. L., Elias, B., Katz, L. Y., Enns, M., Sareen, J. Swampy Cree Suicide Prevention Team (2009). Spirituality, religion, and suicidal behavior in a Nationally representative sample. *J Affect Disord.* 114(1–3):32–40. doi: 10.1016/j.jad.2008.08.007.
- Röcke, C. (2021). Life satisfaction in *Encyclopedia of Evolutionary Psychological Science*. Eds T. K. Shackelford and V. A. Weekes-Shackelford (Cham: Springer), 4594. doi: 10.1007/978-3-319-19650-3_302868
- Rogowska, A. M., Kuśnierz, C., & Bokszezanin, A. (2020). Examining anxiety, life satisfaction, general health, stress and coping styles during COVID-19 pandemic in polish sample of university students. *Psychol. Res. Behav. Manage.* 13, 797–811. doi: 10.2147/prbm.s266511
- Rutter, M. (1999). Resilience concepts and findings: Implications for family therapy. *Journal of Family Therapy*, 21, 119–144.
- Shahzadi, S., & Khan, W. (2022). Impact of Resilience and Spirituality on Life Satisfaction among Women: Mediating Role of Self Esteem. *Journal of Positive Psychology*, 6(4), 7023–7032.
- Sharma, N., Yadav, S., & Srisrimal, K. (2020). Mindfulness and Happiness among Yoga and Non-Yoga practitioner. *International Journal of Yoga and Allied Sciences*, 118–123.
- Shi, M., Liu, L., Sun, X., & Wang, L. (2018). Associations between symptoms of attention-deficit/hyperactivity disorder and life satisfaction in medical students: the mediating effect of resilience. *BMC Med Educ.*, 18(1), 164. doi: 10.1186/s12909-018-1261-8.
- Sinclair, S.L. & Myers, J.E. (2004). The relationship between objectified body consciousness and wellness in a group of college women. *Journal of College Counseling*, 7, 150–161.
- Singh, S. D., Chore, A., & Bendre, V. (2013). Comparative study of psychological well-being in Adults Practicing and Non-practicing: Effects of Yoga and Meditation. *International Journal for Research in Applied Science & Engineering Technology*, 10(X), 1286–1300.

- Smith, J. L., & Hollinger-Smith, L. (2015). Savoring, resilience, and psychological well-being in older adults. *Aging Ment Health*, 19(3), 192-200. doi: 10.1080/13607863.2014.986647.
- Sullivan, M. B., Moonaz, S., Weber, K., Taylor, J. N., & Schmalzl, L. (2018). Toward an explanatory framework for yoga therapy informed by philosophical and ethical perspectives. *Altern. Ther. Health Med*, 24, 38-46.
- Swartz, J. (2015). *The Essence of Enlightenment: Vedanta, the Science of Consciousness*. Boulder, CO: Sentient Publications.
- Szabolcs, Z., Csala, B., Szabo, A., & Köteles, F. (2023). Psychological aspects of three movement forms of Eastern origin: a comparative study of aikido, judo and yoga. *Annals of Leisure Research*, 26 (1), 44-64. 10.1080/11745398.2020.1843507
- Thompson, R.W., Arnkoff, D.B., & Glass, C.R. (2011). Conceptualizing mindfulness and acceptance as components of psychological resilience to trauma. *Trauma, Violence, & Abuse*, 12(4), 220-235.
- Thoresen, C. E. (1999). Spirituality and health: Is there a relationship? *Journal of Health Psychology*, 4, 291-300.
- Upadhyay, P., Narayanan, S., Khera, T., Kelly, L., Mathur, P. A., Shanker, A., Novack, L., Pérez-Robles, R., Hoffman, K. A., Sadhasivam, S. K., & Subramaniam, B. (2022). Perceived Stress, Resilience, and Wellbeing in Seasoned Isha Yoga Practitioners Compared to Matched Controls During the COVID-19 Pandemic. *Front Public Health*, 10. doi: 10.3389/fpubh.2022.813664.
- Wagnild, G. M., & Young, H. M. (1987). Development and Psychometric Evaluation of the Resilience Scale. *Journal of Nursing Measurement*, 1, 165-178.
- Walton, A. G. (2018). Yoga and meditation continue to gain popularity in the U.S. *Forbes*. <https://www.forbes.com/sites/alicegwalton/2018/11/08/yoga-and-meditation-continue-to-gain-popularity-in-the-u-s/>, Accessed 5th Jan 2021
- Wheeler, P., & Hyland, M. E. (2008). The development of a scale to measure the experience of spiritual connection and the correlation between this experience and values. *Spiritual. Health Int*, 9, 193-217. doi: 10.1002/shi.348.
- Womble, M. N., Labbé, E. E., & Cochran, C. R. (2013). Spirituality and Personality: Understanding Their Relationship to Health Resilience. *Psychological Reports*, 112(3), 706-15.
- Yap, S. T., & Baharudin, R. (2016). The relationship between adolescents' perceived parental involvement, self-efficacy beliefs, and subjective well-being: A multiple mediator model. *Social Indicators Research*, 126(1), 257-278.
- Yoon, D. P., & Lee, E. K. O. (2004). Religiousness/spirituality and subjective well-being among rural elderly Whites, African Americans, and Native Americans. *Journal of Human Behavior in the Social Environment*, 10(1), 191-211.
- Zubair, A., Kamal, A., & Artemeva, V. (2018). Mindfulness and Resilience as Predictors of Subjective Well-Being among University Students: A Cross Cultural Perspective. *Journal of Behavioural Sciences*, 28(2), 1-19.

A Journey from Financial Technology to Financial Inclusion : An Analytical Study

Vinod Kumar Yadav, Sumin Prakash, Shiwani Singh

Introduction

Today, we are living in the age of information and communication technology where everything is accessible and available at the tip of a finger. Science and technology have altogether changed the way of our thinking and working that has changed the outlook of the world. Thus, our reliance on technology is increasing day by day. The modern financial world is not distant from the ever growing influence and dominance of technology on every facet of life. Fintech that is financial technology refers to the delivery of financial products and services via technology. India is one of the fastest growing economies of the world. However, a significant rural and tribal population of the country is out of the formal financial service network. Slow economic development and widespread poverty in the society can be attributed to the systematic and significant financial exclusion. Fintech i.e. financial technology gained momentum during the financial crisis between 2007 and 2008. It brought a revolutionary change across the financial services through the introduction of newer technology to the financial market. The focus of the Reserve Bank of India and the incumbent government is on the promotion of financial inclusion. Financial clients are not very much interested in new technology because of their faith and comfort in the existing banking system. Fintech will not be effective until clients are comfortable with security and privacy concerns. It has improved banking accessibility and democratized electronic payments. Fintech companies have potential to infuse competition and accelerate financial inclusion by reducing costs and increasing access to financial services for the marginalised and vulnerable sections of the society across the country. A large portion of the population does not have access to even the most essential banking services in the underdeveloped nations (Mohammad et al., 2023). Therefore, fintech is the demand of the modern world in order to connect everyone to the formal financial services to make India an inclusive nation.

Financial inclusion is not only an integral element of a just and equitable society but also a progressive and prosperous economy. Accelerating financial inclusion and access to financial services may prove instrumental in the economic development of the country that paves the way for inclusive development. The COVID-19 pandemic has

given a strong momentum towards the development and expansion of newer technologies. It is essential to develop strong fintech ecosystems in order to make financial services affordable and accessible to the common masses. Gradual development and improvement in technology will accelerate the pace of financial inclusion, and it will lay down the foundation of transparent and strong economy all over the world (Ermut, 2022). Financial inclusion is the foundation of socioeconomic development. It has been a subject matter of high priority of India's policy for a longer time. It is very much significant as it intends to minimise poverty, and social and financial exclusion. Thus, it paves the way for inclusive growth. Financial inclusion is not just all about money and saving but about the incorporation of society in the overall economy. The process of inclusive growth is not easy and hassle free. Financial inclusion extends opportunities to banking sector and common masses as well. Banks perceive inclusion as an obligation rather than a business opportunity. The absence of proper basic education and lack of financial literacy are underlying reasons of financial exclusion. Financial inclusion is a long term initiative that will benefit society over a period of time (Varghese & Vishwanathan, 2018). There has been a strong and explicit linkage between fintech and financial inclusion that is evidenced by consistent improvement in the financial inclusion with the expansion and development of fintech all over the country.

A greater degree of financial inclusion can be observed in the society when policies are helpful in delivering financial services to a large segment of the population in a systematic and sustainable way. Fintech has been successful in addressing some prevailing issues like regional disparity and economic gap. However, many more goals have to be achieved to minimise the gender gap in access to financial services. There are enormous challenges on the way to minimise the gender gap, which include discrimination, social norms and laws that undermine the existence of women across the world. Fintech is positively correlated with financial inclusion. Fintech has a substantial role in addressing the digital divide between rural and urban population. Moreover, fintech has no impact on gender gap (Tok&Heng, 2022). The expansion of financial technology is a strong determinant of financial inclusion in the country. However, it does not guarantee the settlement of various existing social issues.

Review of Literature

Fintech has potential to enhance delivery speed and accessibility of financial services via cost reduction and customization of financial services. More than a billion adult population got access to financial services, and a significant downfall in the unbanked population has been observed across the world during the last decade. Around two billion adult population all over the world remains out of the access to financial services. Fintechs have enormous and inherent risks in spite of their comprehensive advantages. Financial inclusion is not only a fundamental goal of fintechs, but also an instrument that facilitates economic development and financial stability in the country (Appaya, 2021).

The ever growing fintech industry has accelerated the pace of financial inclusion in India. As per the World Bank Group, financial inclusion is relevant with regard to the 'Access, Usage, and Quality' of financial services. Fintech has potential to bring down prices of financial services while improving accessibility and delivery time, and taking

care of customers' personalised needs. Fintech means financial technology that is driven by the objective of making financial services accessible and affordable (Khatri, 2022).

The global market value of fintech industry is approximately five trillion dollar, and its growth rate in the next five year term has been estimated to be over twenty percent. Financial inclusion heavily emphasises on affordability and accessibility of financial services (Rouen & Bulgar, 2022).

Fintech has potential to offer a wide range of financial services and products at reasonable costs with customization facility. The responsibility of expansion of financial inclusion should not be only on the shoulders of private players but also on the shoulders of public players. The ever growing cost of living is on the verge of pushing vulnerable sections of the society to the financial crisis. This financial crisis can turn into an economic crisis ahead (Tse & Cosentino, 2022).

It is the collective responsibility of all the financial sector stakeholders that financial ecosystem must be inclusive and capable of resolving all the inherent risks via proper financial education and awareness programmes. Financial inclusion remained a top priority of the RBI for a long time. Financial inclusion will continue to be the policy priority of the government in order to make post pandemic recovery more inclusive and sustainable. A financial inclusion index will be prepared to assess the status of financial inclusion in the country. It will be based on three dimensions of financial inclusion, like access, usage and quality. Financial inclusion is the main driving force of stable and balanced economic growth that reduces disparity and poverty. Fifteen state education boards consented to incorporate financial education in their curriculum ("Financial inclusion", 2021).

Financial inclusion has been a matter of great significance in academics and governance as well. It is being seen as an important instrument of handling the ever growing socioeconomic gaps. Expansion of financial inclusion is not only essential for developing economies but it has also a significant favourable impact on developed economies. It is not exclusively associated with the extension of credit in the society. Affordable, accessible and assured payment systems and services are an integral part of better financial inclusion. Financial inclusion has also its own disadvantages. This fact is very explicit as the excessive finance and the instant finance that are possible via financial inclusion can be the building block of future financial crises (Presbitero et al., 2018).

Financial inclusion is an integral part of poverty reduction, balanced economic development, and economic stability. Basic financial services have been an unfulfilled dream for millions of people, especially for the population located in rural and remote parts of India. Financial inclusion is the top most priority for policymakers in most of the developing economies. Fintech based financial services have become habit of the society and put the individual privacy at risk (Goswami et al., 2022).

Technology has revolutionised the operational style of finance industry that is proved by the widespread use of the term financial technology i.e. fintech. The application of the term 'financial technology' was observed for the first time in a research report of Hanover Trust [currently J P Morgan Chase and Company]. Fintech can be understood as an innovative financial industry that is oriented towards improvement in

financial services via application of technology. Financial inclusion has a substantial role in the economic development and poverty alleviation. Technological advancements have accelerated financial inclusion. Fintech has a significant impact on financial inclusion that has potential to influence the economic growth (Fernandez & Rakotomalala, 2021).

Objective of Study

This research article has been driven by the following objectives:

- To gauge the concepts and dimensions of financial technology and financial inclusion.
- To analyze the relationship between financial technology and financial inclusion.
- To study the challenges and prospects of financial technology to financial inclusion.

Research Methodology

This research article is descriptive cum analytical by nature. It is purely based on secondary facts and figures. Different online and offline research articles, newspaper articles, editorials, reports, etc. on related themes have been taken into the consideration while writing this research article.

Concept of Financial Technology

The term 'Fintech' refers to the innovative and emerging technology that attempts to bring improvement and automation in the delivery and usage of financial services. The term fintech itself is the combination of two terms, namely fin (i.e. financial) and tech (i.e. technology). This term is the evolution of twenty first century and it denotes the technology being used in the financial sector ("Why India", 2021). Fintech is concerned with technology driven innovation in the financial services, and it aims at promoting automation and driving more online business. Consumers and corporate bodies are prominent stakeholders of fintech. The term fintech stands for financial technology. Its objective is to make sending and receiving of funds convenient. It is too difficult to define fintech as it is a very comprehensive and an overarching concept. It is technology driven system leading to bring about change, automation and improvement in financial services being provided to both the corporates and consumers. It benefits a wider range of customers with accessibility, promptness and comfort (Lenders, 2022).

Financial innovation has potential to offer enormous opportunities that goes beyond its impact on financial service providing firms. Financial innovation is the process of developing new financial products and services, new ways of interacting with customers and distribution channels, and new ways of working. Fintech emerged and evolved as a basis of financial innovation. It has potential to create new customer centric ways of delivering financial services. It can accelerate the pace of financial inclusion by ensuring outreach of the financial services to underserved and unserved sections of the society that in turn will lead to the inclusive economic growth ("Digital Transformation", 2020). Fintech is concerned with startup business with a prime focus on technology and finance. It attempts to present the advanced version of products and services being offered by well-established financial institutions including banking companies, asset management companies, and insurance companies. They are working and expanding their business on conventional services being offered by banks. Banks are focusing on

services whereas Fintech companies are focusing on customers. The term 'Fintech' implies the combination of technology and innovation in the financial sector in order to ensure the delivery of advanced and improved financial services in different financial sectors like banking, asset and wealth management, investment, insurance, mortgage, etc. (Karthika et al., 2022).

The term 'fintech' has been derived from the combination of finance [i.e. fin] and technology [i.e. tech]. It is the short form of financial technology. Fintech is an information and communication technology based innovation in the delivery of financial services. Thus, fintech refers to the delivery of different financial products and services to diverse and distant customers via information technologies.

Concept of Financial Inclusion

Financial inclusion refers to the availability of accessible, appropriate, and affordable financial products and services to each and everyone, irrespective of their background (Tse&Cosentino, 2022). As per the report of the Committee on Financial Inclusion, financial inclusion can be defined as the process of ensuring access to financial services and timely and adequate credit needed to vulnerable groups like weaker sections and low income groups at an affordable cost (Mahajan, 2022). As per the World Bank, financial inclusion refers to the access to useful and affordable financial products and services to the individuals and businesses to address their needs like transactions, payments, savings, credit, and insurance that are delivered in a responsible and sustainable manner. Financial inclusion has an inherent potential to address a large number of social issues like economic growth, employment, poverty, and economic disparity. Financial inclusion is positively associated with economic growth. It is very much helpful in handling economic disparity and poverty by offering developmental opportunities to the marginalized and vulnerable population (Ermut, 2022).

Financial inclusion is a process of connecting everyone, especially marginalized and economically vulnerable sections of the society to the formal financial services. In other words, it is an initiative to bring each citizen of the country under the network of formal financial institutions. It is not an easy and hassle free work in a country like India where majority of the population is relatively weaker in terms of financial resources and financial understanding. Thus, financial inclusion refers to the process of making financial services approachable [access], appropriate [suitable] and affordable [efficient in terms of cost] for every individual of the society. It is prerequisite to inclusive and sustainable growth.

Financial Technology and Financial Inclusion: Interdependence and Interrelationship

Financial inclusion has been taken as an essential element of the economic development and well-being of a society. It is also considered as an important instrument of sustainable economic growth. The term 'financial inclusion' got a prominent position in the Indian banking sector only after the recommendations of Rangarajan Committee in 2008. Financial inclusion includes provision of basic saving accounts, and access to adequate credit at reasonable costs to the marginalised and vulnerable sections of the society. One of the important targets of financial inclusion is to take marginalised community out of the network of the exploitative moneylenders. Thus, financial

inclusion became an integral part of the banking business operation. (Rao, 2018). The term 'financial inclusion' has become a buzzword of the twenty first century banking world. It has been at the centre of all the activities of the banking sector in India. Its fundamental objective is to bring everyone under the formal banking system in order to provide them financial freedom and linking their contribution to the economic development of the country.

The introduction of technology has led to an unprecedented transformation in the financial services. Introduction of financial technology led by the global financial crisis [2008] proved a milestone in modernizing banking and financial services in the country. India has become a leading economy of the world that can be attributed to emerging startups and fintechs. The COVID-19 pandemic has been proved instrumental in bringing revolution across the fintech industry. The demonetization 2016 was driven by the stoppage of black money circulation in the country. This decision of the government created chaos that paved the way for the promotion of cashless or online transaction in the country. Thus, it resulted into the growth of fintech industry. However, the outbreak of the pandemic accelerated the pace of development of fintech across the country. Government campaigns like 'Digital India' and 'Make in India' backed the RBI's vision of accelerating fintech adoption rate. The gradual development in financial technology has enhanced economic growth and financial inclusion in the country (Agarwal, 2022). Technology has been the backbone of the modern financial system of the country where currently Indian financial system is almost nonexistent in the absence of technology from its financial system. The financial technology has played an instrumental role in the overall development process in the current scenario of the country. Many initiatives taken by the governments in the past proved a cornerstone of the technological advancement in the current financial system of the country.

There has been a great role of financial system in the economic development of the country. Financial exclusion refers to the process that deprives certain social sections of the society and individuals of access to formal financial system. In other words, financial exclusion is concerned with the inaccessibility and unaffordability of essential financial services. The Pradhan Mantri Jan DhanYojana [PMJDY] was launched as a national mission to accelerate financial inclusion in the country. Perhaps it is the biggest financial inclusion initiative in the world. Over 420 million bank accounts have been opened and over 300 million RuPay debit cards have been issued under the PMJDY scheme as of 31st March 2021. Roughly one-third bank accounts opened under the scheme remain inoperative. The bank accounts opened under PMJDY scheme has been very instrumental in accelerating financial inclusion. However, the number of inactive bank accounts exceeds the number of active bank accounts opened under the PMJDY scheme. The PMJDY scheme has been unsuccessful in resolving the issue of financial exclusion. This scheme has achieved its underlying target in terms of quantity but not quality (Mahajan, 2022). The economic development of a country is directly related to the development of the financial system of the country. The level of development of the financial system of a country is an indicator of the level of people's participation in the economic development process of the country. Many initiatives have been taken by the governments to improve the financial inclusion to the desired level. However, the

outcome of all these efforts remained quantitative but qualitative in no way. The current scenario implies that financial inclusion and financial technology are explicitly and inherently associated with each other. However, it is very difficult to express how one affects other, but they are complementary to each other.

Financial Technology to Financial Inclusion: Opportunities and Challenges in India

Financial literacy must be an integral part of the primary education of every child. An understanding to the basics of finance at an early age of the children has enormous benefits. Thus, financial literacy has good potential to improve the wellbeing of the society. The fourth industrial revolution is an age of uncertainties, opportunities, and risks. Fintech seems to be an instrument enhancing financial literacy. As per the World Bank and the Organisation for Economic Cooperation and Development, a lower level of financial literacy resists the wider access to financial products and services. Thus, fintech facilitates the expansion of financial inclusion by making banking services more accessible and affordable. Moreover, fintech has potential to enhance the understanding to other domains of knowledge. Fintech can produce positive results only in the presence of other fundamental literacies, like media literacy, technological literacy, etc. Fintech may also harm financial wellbeing in case of impulsive purchases or irrational investments. Financial literacy seems to be the most important basic skill for every individual. The emerging technologies have potential to improve the financial literacy when they are introduced systematically into the learning programmes (Sala, 2022). Finance is the most common and universal part of everyone's life as it is the part and parcel of a successful life. Therefore, financial education is one of the most important objectives of overall education. However, ironically Indian education system pays least attention towards this education. Financial education is usually obtained through informal channels as the formal education system is almost silent on this issue. Financial technology has a substantial role in imparting financial education to the society.

The role of financial technology is not just confined to as a source of financial education but it acts as an accelerator of financial inclusion in the society. It is a well-established fact that financial technology has positive impact on financial inclusion. The financial technology offers a variety of financial products and services to varied consumers corresponding to their choices and conveniences. It has brought a revolution in the financial sector in terms of delivery and accessibility of financial products and services. On one hand, where it has increased the access of the society to financial products and services; on the other hand, it has infused competition in the financial market that has led to significant reduction in the cost of financial services. Moreover, now different types of financial products and services are easily available at every location. Today, financial market has been flooded with various types of financial products and services. Now, it has become very difficult for an individual to select an appropriate financial product or service suiting to his/her current financial needs. A large number of financial products and services available in the market intends to fulfil everyone's financial needs. On one hand, the current scenario of the financial market attempts to offer utmost choice to every individual to select at least some financial products; on the other hand, the same scenario of the market may create confusion in the mind of an individual while selecting a financial product or service. Thus, financial

technology driven scenario of market may prove advantageous to individuals who have very good understanding to different aspects of finance. And it may prove disastrous to individuals who do not have basic understanding to finance related issues. In such a situation, ordinary people's interest may be damaged by fintech companies. Thus, financial technology can be a double edged sword.

Conclusion

Sustainable growth is the call of the hour. Sustainability can be envisaged only in inclusive growth. Financial inclusion is an inseparable element of the sustainable and inclusive growth. Financial technology has a substantial role in enhancing financial inclusion. Thus, financial technology and financial inclusion are closely interconnected to each other. The former is associated with distribution mechanisms, whereas the latter is associated with the financial products and services and increasing its reach and accessibility to the masses. Financial technology provides an innovative mechanism to ensure the universal outreach of the financial products and services to every individual without any discrimination and restriction. Financial inclusion makes the financial products and services accessible and affordable, so that everyone may avail them and take their advantages in their personal interest. Financial technology floods the financial market with multiple financial service providers and a large variety of financial products and services. However, financial inclusion represents the status of financial market where financial products and services are easily accessible and affordable for everyone. Thus, financial technology can be taken as an instrument of financial inclusion. Financial technology is technology driven distribution mechanism of financial products and services. It attempts to deliver the products and services technologically that are being served by the conventional financial institutions. Financial technology introduces competition into the financial market that turn into the multiple products and providers, and customer centric financial market.

Thus, financial technology can be observed as a double edged sword. On one hand, it offers numerous affordable and accessible financial products and services through different service providers in the market. On the other hand, it demands sharp understanding to different fundamental financial issues. Moreover, it significantly reduces the processing time to deliver a financial product or service to its clients. Therefore, it can be inferred that the financial education is of great significance in the absence of which the outcome of financial technology would not be meaningful. At present, financial education is not the part of basic education in India i.e. financial education is the most overlooked segment of the basic education system of India. The current scenario demands the greater role and responsibility of governments and government agencies in order to regulate and supervise the market, and protect and preserve the interest of the public. It is the call of the hour to incorporate basic financial education in the curriculum of school level education. As cent percent financial inclusion and proper advantage of financial technology is no more possible in the absence of standard and formal financial education in the country. Financial technology can prove a milestone in accelerating financial inclusion across the country provided universal basic education and basic financial education, government intervention in the market through its machinery, information symmetry, market regulation and supervision through

regulator, etc. are ensured. In the absence of necessary measures as suggested above, financial technology may prove disastrous to common people and turn into the financial crisis.

*Department of Commerce,
Rajiv Gandhi University, Arunachal Pradesh*

*Department of Education,
Rajiv Gandhi University, Arunachal Pradesh*

*Department of Commerce,
Rajiv Gandhi University, Arunachal Pradesh*

References :

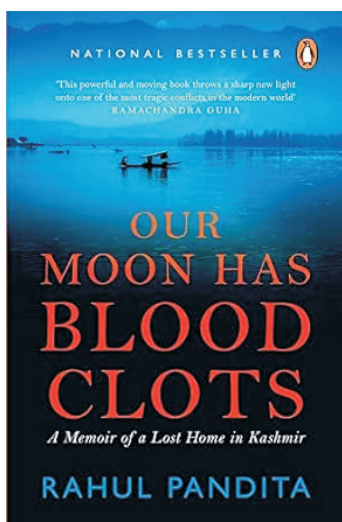
1. Mohammad, A., Khan, M. A., Tiwari, S., Wani, S. K., & Alam, F. (2023). The Impact of Fintech and Digital Financial Services on Financial Inclusion in India. *Journal of Risk and Financial Management*, 16 (2). <https://doi.org/10.3390/jrfm16020122>
2. Ermut, S. A. (2022, May 25). How new technologies create a pathway to financial inclusion. *World Economic Forum*. <https://www.weforum.org/agenda/2022/05/new-technologies-improve-financial-inclusion/>
3. Varghese, G., & Vishwanathan, L. (2018). Financial Inclusion: Opportunities, Issues and Challenges. *Theoretical Economics Letters*, 8, 1935-1942. <https://doi.org/10.4236/tel.2018.811126>
4. Tok, Y. W., & Heng, D. (2022, May 6). Fintech: Financial Inclusion or Exclusion. *International Monetary Fund*. <https://www.imf.org/en/Publications/WP/Issues/2022/05/06/Fintech-Financial-Inclusion-or-Exclusion-517619>
5. Appaya, S. (2021, October 26). On fintech and financial inclusion. *World Bank*. <https://blogs.worldbank.org/psd/fintech-and-financial-inclusion>
6. Khatri, R. (2022, August 29). Role of Fintech in Accelerating Financial Inclusion. *Open Growth*. <https://www.opengrowth.com/resources/role-of-fintech-in-accelerating-financial-inclusion>
7. Rouen, E., & Bulger, Z. (2022, July 15). How Fintech Can Deliver on Its Social Impact Promises. *Harvard Business Review*. <https://hbr.org/2022/07/how-fintech-can-deliver-on-its-social-impact-promises>
8. Tse, T., & Cosentino, A. M. (2022, July 4). Fintech: financial inclusion for the tough times ahead. *London School of Economics and Political Science*. <https://blogs.lse.ac.uk/businessreview/2022/07/04/fintech-financial-inclusion-for-the-tough-times-ahead/>
9. Financial inclusion will continue to be a policy priority after pandemic: Shaktikanta Das. (2021, July 15). *Indian Express*. <https://indianexpress.com/article/business/banking-and-finance/financial-inclusion-will-continue-to-be-a-policy-priority-after-pandemic-shaktikanta-das-7406402/>
10. Presbitero, A., Peria, M. S. M., Obstfeld, M., & Beck, T. (2018, April 12). Financial Inclusion: Drivers and real effects. *Centre for Economic Policy and Research (CEPR)*. <https://cepr.org/voxeu/columns/financial-inclusion-drivers-and-real-effects>
11. Goswami, S., Sharma, R. B., & Chouhan, V. (2022). Impact of Financial Technology [Fintech] on Financial Inclusion [FI] in Rural India. *Universal Journal of Accounting and Finance*, 10(2), 483-497. <https://doi.org/10.13189/ujaf.2022.100213>
12. Fernandez, D., & Rakotomalala, M. (2021, October). Financial Technology and Inclusion in ASEAN. *University of Cambridge*. https://www.asean-global.info/sites/default/files/2021-10/Fernandez_Rakotomalala.pdf
13. Why India is at the forefront of a Fintech revolution. (2021, October 11). *The Economic Times*.

14. Landers, R. (2022, September 7). *How Fintech Is Changing Business (and Bank Accounts)*. Business.Com. <https://www.business.com/articles/how-Fintech-is-changing-business-and-bank-accounts/>
15. *Digital Transformation in Financial Services: The Age of Fintech*. (2020, December 15). Research Outreach. <https://researchoutreach.org/articles/digital-transformation-financial-services-age-Fintech/>
16. Karthika, M., Neethu, K. & Lakshmi, P. (2022). *Impact of Fintech on Banking Sector*. *Integrated Journal for Research in Arts and Humanities*, 2(4), 109-112. <https://www.ijrah.com/index.php/ijrah/article/view/66/145>
17. Rao, K. S. (2018, July 11). *Financial Inclusion in India: Progress and Prospects*. *Ideas for India*. <https://www.ideasforindia.in/topics/money-finance/financial-inclusion-in-india-progress-and-prospects.html>
18. Agarwal, A. (2022, November 21). *RBI promoting financial inclusion through fintechs in India*. *Financial Express*. <https://www.financialexpress.com/money/rbi-promoting-financial-inclusion-through-fintechs-in-india/2872117/>
19. Mahajan, S. (2023). *Financial Inclusion in India: Achieving Quantity, but Waiting for Quality*. *Economic and Political Weekly (Engage)*, 58(3). <https://www.epw.in/engage/article/financial-inclusion-india-achieving-quantity>
20. Sala, C. (2022, November 2). *How Fintech Can Foster Financial Inclusion And Literacy*. *Forbes*. <https://www.forbes.com/sites/esade/2022/11/02/how-fintech-can-foster-financial-inclusion-and-literacy/?sh=32605fbd641>

Book Review :

Our Moon has Blood Clots : A Memoir of a Lost Home in Kashmir

Narendra Kaushik, Ashutosh Kumar Pandey



The media in Jammu & Kashmir—and Kashmir in particular—has for long been caught between a rock and a hard place. The rock may be the security forces deployed there, and the hard place may be the terrorist groups operating there—or even vice versa. I will give two examples of it. The first is the op-ed piece penned by Anuradha Bhasin, owner and executive editor of Kashmir Times, the oldest and largest circulated English daily in the valley, in New York Times in March this year. The opinion piece, published on March 8, 2023, raised a storm that has still not subsided (Bhasin, 2023). Union Information and Broadcasting Minister Anurag Thakur has called the piece 'mischievous and fictitious' "propaganda" and accused the New York Times of 'spreading lies' about the country (Sharma, 2023).

It is anyone's case that the journalists working from Kashmir face no less a threat from the terror groups operating there. The second instance is about a threat to journalists. In December last year, eight journalists received threats through a terror blog called 'Kashmir Fight'. Four of these, belonging to the media house 'Rising Kashmir' resigned from their jobs (Ali, 2022). Like journalists, The Kashmir Files, a Hindi film on the exodus of Kashmiri Pandits from the valley that has completed over a year and a half of its release and may inspire a sequel, received no fewer bouquets than brickbats, emphasizing again how even the film media on the disturbed state is constantly put under

Book : *Our Moon has Blood Clots : A Memoir of a Lost Home in Kashmir*
: Rahul Pandita (2nd ed.)

New Delhi, India: Penguin Random House, 2017. 258 pp. ISBN 9788184005134.

Madhya Bharti-84, January-June, 2023, ISSN 0974-0066, pp. 251-256
UGC Care List, Group-C (Multi disciplinary), Sl.No.-15

the scanner. Therefore, it comes as no surprise to us that the spotlight was on the media in Rahul Pandita's book, 'Our Moon has Blood Cloths: A Memoir of a Lost Home in Kashmir' too.

Pandita, a television and print journalist, not only quotes the media—television channels, newspapers, books, radio, poetry, etc.—to buttress, prop up, and justify his arguments on terrorist violence in Jammu & Kashmir against the minority Kashmiri Pandit community and the lost Kashmiriyat (a 'centuries-old indigenous secularism' (Tak, 2013) and tradition of religious syncretism in the Kashmir valley) but also denounces it for ignoring the plight of the Pandit community

Ironically, the book also credits the Kashmiri newspapers—*Daily Excelsior* in particular—*Doordarshan*, India's national channel, and radio—for reporting about the brutalities against the Kashmiri Pandits. At the same time, the writer credits the media, albeit indirectly, for keeping his humanity intact and not turning him into a Muslim hater. The book is divided into five parts, with the writer going back and forth to describe the pain of the displacement of his family from Kashmir and the loss of his relatives and other Kashmiri Pandits to terrorist violence. The first part opens in Jammu, with Pandita writing about the plight of the displaced Pandit community. In part two, the writer reminisces about the events in Kashmir that led to selective killings and the exodus of the minority community. Pandita returns to Jammu again in part three, while in part four he counts through his maternal uncle how the Pandits suffered displacement and loss in 1947 too, at the hands of Pakistanis who raided the disputed state before the Indian army was sent in. In Part 5, the writer-journalist probes other cases of violence against Pandits to point out the extent of the brutalities committed against them. In between, there are also references to the rule (around 120 years, first from 1658 to 1707 and then from 1752 onwards) of Mughal Emperor Aurangzeb and subsequently Afghans.

"From 1752 onward, the Valley slipped into the terrible misfortune of being ruled by Afghans for almost seven decades. In his book *The Valley of Kashmir*, Waster R. Lawrence writes of one of the Afghan governors, Assad Khan:

It was his practice to tie up the Pandits, two by two, in grass sacks and sink them in the Dal Lake. As an amusement, a pitcher filled with ordure would be placed on the Pandit's head, and Musalmans would pelt the pitcher with stones till it broke, the unfortunate Hindu being blinded with filth. During the rule of another governor, Atta Muhammad Khan, Lawrence writes: Any Musalman who met a Pandit would jump on his back and take a ride." (P.17)

Like *The Kashmir Files*, the 2022 Hindi movie that bowed out of the Oscars recently, the book chronicles the different incidents of violence that happened in the valley during the late 1980s and early 1990s. Both refer to Farooq Ahmad Dar, alias Bitta Karate, who confessed in a television interview after his arrest in 1991 to having killed 20 Kashmiri Pandits. But unlike the controversial film, which, according to Mallikarjun Kharge, President of All India Congress, India's main opposition party, paints a one-sided and misleading picture of the tragedy (ANI, 2022), the author expresses unwavering and unflinching faith in the "quintessential" (p. 257 ACKNOWLEDGEMENTS) faith of Kashmiris despite having undergone huge suffering at the hands of Islamic terrorists.

Our Moon has blood clots draws the first part of its title from Pablo Neruda's 'Oh, My Lost City'. Pandita quotes, "and an earlier time when the flowers were not stained with blood, the moon with blood clots. For the second part of the title, the author quotes from Anton Donchev's book *Time of Parting*, "The best in me are my memories. Many people will come to life in them, people who gave their blood while they lived and who will now give their example."

Pandita dedicates his book to Ravi, his cousin brother, whom he calls 'my first hero'. Ravi, who stayed back in Kashmir due to his job at a college there, was shot dead in a bus in the 1990s. The writer was extremely attached to Ravi and, in fact, still treasures his memories. "All that remains of those days is a plastic bag containing bracelets, photographs with lipstick marks on their backs, and my old copy of *Lust for Life*. There is also an old issue of the *Daily Excelsior* newspaper that every Kashmiri Pandit subscribed to in Jammu because it informed them of who in the community had died in exile. I hardly ever open it. But sometimes, when I'm angry at the TV shows where our murderers speak about our return, I do. On its front page is a picture of Ravi's mutilated face. The blood from his nose—the result of a blow from the butt of a Kalashnikov—has dried up. His forehead still looks beautiful and clear, and so does his moustache, which I had wanted to imitate when I was young" (p. 8).

The news of violence in the media worried the Kashmiri Pandit families. Pandita recollects how his mother, "every evening before dinner, would sit next to Father as she listened to the news bulletin on *Radio Kashmir*. The news of the killings made her worry about her brother's family, especially Ravi. 'I don't know what is wrong with them; why won't they leave like everybody else?' (P. 119) Even Ravi's father, Prithvi, looks at the media as a harbinger of doom after his son's killing. "Every morning, I get up and read the newspaper. I always skip the first page. It carries the same news items day after day. Like soggy peanuts, they are fried and made crisp, and then served with catchy headlines for extra flavor. The second page carries a few pictures and a few lines underneath each picture. The obituaries" (P.155).

The author misses the good old days when the majority Muslim community lived in perfect harmony with the minority Hindu community. "From the fourteenth century on, Islam made inroads into Kashmir. Initially, it fused with local practices and evolved into a way of life rather than a strict, monotheistic religion. There is nothing that reflects this melding more than a *vaakh* (verse) by Lal Ded, Kashmir's revered poetess-saint.

Shuv chhuy thali'e rozaan Mo zaan Hyon'd tey musalmaan God pervades every particle and every being. Don't distinguish between a Hindu and a Muslim'. (P. 15)

The anti-Sikh riots in Delhi in 1984 that broke out in the aftermath of the then Indian Prime Minister Indira Gandhi aroused apprehension among the Kashmiri Pandit community that something similar could happen to them in Kashmir. "In Delhi, the anti-Sikh riots began soon after Mrs. Gandhi was declared dead. From the *Indian Express*, we learned the horrific details of how scores of innocent people were put to death for no fault of their own. 'One day, something similar will happen here, to us,' one of my uncles said." (P. 43). The 1984 pogrom left thousands of people dead, displaced, and orphaned.

During the ethnic violence in January 1990, the book says, the state administration collapsed and even New Delhi had no idea what was happening. It uses

the public channel Doordarshan as an example of how ignorant New Delhi. "On *Doordarshan*, as Jagmohan (who was then the state governor) would recount in his memoirs later, a special programme on 'ethnic revolt' in the Azerbaijani capital of Baku featured a massive crowd demanding independence from Soviet Russia attacking the Christian Armenian community, killing hundreds in a bloodied frenzy, and looting their homes and business establishments. And oblivious to New Delhi, a similar episode was about to occur in Kashmir. Only the gods could save the Pandits now" (P. 79). *Doordarshan* also bore the brunt of violence, both literally and metaphorically. Lassa Kaul, Director of *Doordarshan* in Kashmir, was murdered by terrorists on February 13, 1990.

Violence hurt the public channel because most of its experienced newscasters left out of fear. "Bereft of its experienced presenters to read the news, *Doordarshan* had hired a bunch of inexperienced presenters to read the news. The news they offered was hardly reliable. But on those unfortunate days, they provided us with moments of laughter. At 7.30 p.m., the news would be announced, and the presenter would appear on the television screen, still waiting for his cue. He would stare at the camera for a few seconds and then read the news like a stuttering duck. In between, he would stop and, sometimes in his nervousness, forget that he was live on television. He would then gesture to the cameraman or the producer, seeking directions. We, children, compared these presenters to a brilliant Kashmiri comedian who in the mid-Eighties had kept us glued to the television with the two roles he played" (P. 95).

During the disturbance, not only did the media report about killings of innocents, but a part of it became a weapon in the hands of perpetrators of violence to terrorize people. Pandita recalls, during the displacement of his family to Jammu, that "advertisements had appeared in some Urdu newspapers. Released by various militant organizations, they asked the Pandits to leave the valley immediately or face dire consequences" (P.94).

Pandita attributes his fairness and humanity to the media's coverage of other riots in the country, in particular 2002's anti-Muslim violence in Gujarat and the heart-rending human-interest stories of the violence. "I saw Father reading a report on the slain Ehsaan Jafri, brutally done to death by a Hindu mob in Ahmedabad's Gulbarg Society, a predominantly Muslim neighbourhood. As I sat next to him, I read how Jafri had nurtured a nest of barn swallows in his room, and to protect them, he would not even switch on the ceiling fan. That day, I realized that Father had gifted me something invaluable. Something that enabled me to calmly face an uproariously drunk army general one night in a television news studio. We were there to debate human rights violations in Kashmir, and I pointed out that there needs to be zero tolerance toward such crimes. 'How can you say that?' He barked. 'It is they who have forced you out of your homes, turning you into refugees.' I looked him in the eye and said, 'General, I've lost my home, not my humanity' (P.105).

The book mourns the killing of Latif Lone, a young neighbour of Pandita who once helped the latter's mother reach home safely. "One morning in June 1990, I was sitting in the hotel's reception when I froze at the sight of the front page of the newspaper. It read, 'Dreaded militant Latif Lone was killed in an encounter'. I wanted to rush up to our room and tell my father about it. But I stayed put and read the whole report. Latif had

been shot dead in an encounter with security forces. The report said he had been the mastermind of many ambushes against security forces, including the one outside my house in which two BSF soldiers had been killed. It said that he had received training from mujahideen in Afghanistan. I went upstairs and told my parents. Ma began to cry. She kept saying, *Latifa, jawan-e-rael; Latifa jawan-e-rael. He was in his prime of youth, Latif; Latif, he was in his prime of youth*" (P.111).

Over the past decade, Pandita claims to "have visited Kashmir regularly as a journalist" and "reported on damning episodes of human rights violations by security personnel; I have reported on young women whose husbands have disappeared, making them "half widows"; I have reported on young boys for whom death has become a spectacle" (P.212).

Pandita accuses the media and the left-liberal intellectual class of being apathetic towards the plight of Kashmiri Pandits. "The Pandits were encouraged to leave by Jagmohan so that he could deal with us firmly.' One kept hearing this. Initially, I didn't care. But now I seethe with anger whenever I come across this propaganda. I have become determined—to paraphrase Agha Shahid Ali—that my memory must stand in the way of this untrue history. Another problem is the apathy of the media and a majority of India's intellectual class, who refuse to even acknowledge the suffering of the Pandits. No campaigns were ever run for us; no fellowships or grants were given for research on our exodus. For the media, the Kashmir issue has remained largely black and white: here are people who have been brutalized by the Indian state. But the media has failed to see and has largely ignored the fact that the same people also victimized other people" (P. 220).

The book also points out how the media has largely ignored allegations of encroachment on the homes and agricultural land of Kashmiri Pandit families and embezzlement in the construction of secure townships for Kashmiri Hindus. It cites the example of R. K. Tickoo, whose two agricultural plots in Wadwan, Budgam district, "have been illegally occupied by his Muslim tenants. Even after the tehsildar declared it to be an illegal occupation, senior revenue officials are refusing to issue an order in his favor" (P. 134). Pandita claims, "I spoke to dozens of people at the Jagti Township. There were serious allegations that a major chunk of the Rs. 369 crore funds allotted for the township had been siphoned off by various players" (P. 240).

The media has also not exposed the double speak of Kashmiri politicians on Pandits. "Another untruth that leaves me fuming is the assertion that nobody touched the handful of Pandit families that had chosen to remain in the valley. In a *Paris Review* interview, Holocaust survivor and acclaimed writer Primo Levi is asked, 'Are they still strongly anti-Semitic in Poland today?' 'They're not anymore. For lack of material!' he replies. That is roughly what happened in Kashmir as well. Some of us would return once a year to celebrate a festival at Kshir Bhawani, and murderers like Bitta Karate, who nurse political ambitions now, would visit and hug elderly women, and pictures would be taken and published prominently in local newspapers" (P. 221).

I strongly agree with Pandita on this. During my over two decades in the print and digital media, I came across several instances when the left-liberal activist journalists and media would outright reject that there was an exodus by Kashmiri Pandits

from the Valley in 1990 or blame it entirely on the then Jammu & Kashmir State Governor Jagmohan. When 59 Hindu Car Sevaks were burned alive in a coach of the Sabarmati Express in Godhra (Gujarat) on February 27, 2002, there was hardly any criticism of the act in the media except for Hindustan Times, a newspaper published in New Delhi. The burning of the coach sparked riots across the state. But the situation has changed a lot since Narendra Modi's Bhartiya Janata Party took power. Now even the highly communicative politicians and journalists have become more circumspect in not ignoring violence or injustice against the majority community.

131, Mahima Kopal, Goner, Jaipur-303905

School of Mass Communication, JECRC University, Jaipur, India

References :

- Bhasin, Anuradha. (March 2023). *Modi's Final Assault on India's Press Freedom Has Begun*, Guest Essay, *New York Times*, March 8, 2023, available at <https://www.nytimes.com/2023/03/08/opinion/India-Kashmir-Modi-Media-Censorship.html?searchResultPosition=1>.
- Sharma, Anurakti. (March 2023). "Mischievous & fictional": Anurag Thakur on NYT claims on press freedom in Kashmir, March 11, 2023, available at <https://www.timesnownews.com/india/mischievous-fictional-anurag-thakur-on-nyt-claims-on-press-freedom-in-kashmir-article-98564285>
- Ali, Jehangir. (Dec. 2022). *In Kashmir, Threats Issued by a Blog Has Led to Police Questioning Nearly a Dozen Journalists*, *The Wire*, December 7, 2022, available at <https://thewire.in/media/kashmir-journalist-raid-blog-threat>
- Tak, Toru. (April 2013). *The Term Kashmiriyat; Kashmiri Nationalism of the 1970s*, *JSTOR*, Vol. 48, No. 16, April 20, 2013, pp.28-32 (5 pages), available at <https://www.jstor.org/stable/23527257>
- ANI. (March 2022). *Kharge terms The Kashmir Files 'one-sided' movie, says misleading youths of country*, ANI, South Asia's Leading Multimedia News Agency, Mar 16, 2022, available at <https://www.aninews.in/news/national/general-news/kharge-terms-the-kashmir-files-one-sided-movie-says-misleading-youths-of-country20220316185820/>

75
आज़ादी का
अमृत महोत्सव



ISSN 0974-0066



डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय

(केन्द्रीय विश्वविद्यालय)

सागर (मध्यप्रदेश) - 470 003

दूरभाष : 91-7582-264455

ई-मेल : madhyabharti.2016@gmail.com

